सामाजिक विज्ञान

भाग - 1

नवीं कक्षा के लिए इतिहास की पाठ्यपुस्तक

अर्जुन देव

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्
NATIONAL COUNCIL OF EDUCATIONAL RESEARCH AND TRAINING

प्रथम संशोधित संस्करण ISBN : 81-7450-370-6
अप्रैल 1994 : वैशाख 1916 (सभ्यता की कहानी : भाग-2)
आठवां पुनर्मुद्रण
जून 2002 : आषाढ़ 1924
मार्च 2005 चैत्र 1927 (सामाजिक विज्ञान : भाग-2)

PD 125T SC

एन.सी.ई.आर.टी. के प्रकाशन विभाग के कार्यालय

एन.सी.ई.आर.टी. कैंपस श्री अरविंद मार्ग नई दिल्ली 110 016	108, 100 फीट रोड हेली एक्सटेंशन, होस्डेकेरे बनाशंकरी III इस्टेज बेंगलूर 560 085	नवजीवन ट्रस्ट भवन डाकघर नवजीवन अहमदाबाद 380 014	सी.डब्ल्यू.सी. कैंपस निकट: धनकल बस स्टॉप पनिहटी कोलकाता 700 114	सी.डब्ल्यू.सी. कॉम्प्लैक्स मालीगांव गुवाहाटी 781021

प्रकाशन सहयोग

संपादन शशि चड्डा
उत्पादन अरूण चितकारा

आवरण

अमित श्रीवास्तव

रु. 20.00

एन.सी.ई.आर.टी. वाटर मार्क 70 जी.एस.एम. पेपर पर मुद्रित।

प्रकाशन विभाग में सचिव, राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद्, श्री अरविन्द मार्ग, नई दिल्ली 110 016 द्वारा प्रकाशित तथा श्री इंडस्ट्रीज, बी 116, सेक्टर 2, नौएडा 201301 द्वारा मुद्रित।

प्रकाशक की टिप्पणी

राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान और प्रशिक्षण परिषद् (एन.सी.ई.आर.टी.) बच्चों और शिक्षकों के लिए विद्यालयी पाठ्यपुस्तकें और अन्य शैक्षिक सामग्री तैयार तथा प्रकाशित करती रही है। ये प्रकाशन विद्यार्थियों, शिक्षकों, अभिभावकों और शिक्षक-प्रशिक्षकों से प्राप्त पुनर्निवेशन के आधार पर नियमित रूप से संशोधित किए जाते हैं। एन.सी.ई.आर.टी. द्वारा किए गए शोध-कार्य भी इस पाठ्य सामग्री के संशोधन व उसे अद्यतन बनाने का आधार होते हैं।

यह पुस्तक विद्यालयी शिक्षा के लिए राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा और इसके अनुरूप तैयार किए गए पाठ्यक्रम पर आधारित है। मानव संसाधन विकास मंत्रालय ने इतिहास की पुस्तकों के पुनरीक्षण के लिए इतिहासकारों की एक समिति का गठन किया। इस समिति की अनुशंसा को ध्यान में रखते हुए एन.सी.ई.आर.टी. की कार्यकारिणी समिति ने 19 जुलाई 2004 को आयोजित बैठक में यह निर्णय लिया कि अकादमिक सत्र 2005-2006 में इतिहास की पुरानी पुस्तकें कुछ संशोधनों के साथ इस प्रकार वापस लाई जाएं, ताकि वे वर्तमान पाठ्यक्रम से संगत हो सकें। अन्य विषयों की पाठ्यपुस्तकों के परीक्षण के लिए त्वरित समीक्षा समितियों का भी गठन किया गया। इस निर्णय का अनुपालन करते हुए इतिहास की पुरानी पाठ्यपुस्तक *सभ्यता की कहानी : भाग-2* के 9-13 अध्याय कुछ आवश्यक संशोधनों के साथ प्रस्तुत है। यह पुस्तक *सामाजिक विज्ञान : भाग-1* के रूप में प्रकाशित की गई है, जो सामाजिक विज्ञान के संशोधित पाठ्यक्रम की इकाई-1 के अनुरूप है। हमें आशा है कि पुस्तक का यह संशोधित संस्करण शिक्षण व अधिगम का प्रभावी माध्यम सिद्ध होगा। इस पाठ्यपुस्तक की गुणवत्ता में और अधिक सुधार के लिए हमें आपके सुझावों की प्रतीक्षा रहेगी।

सचिव
राष्ट्रीय शैक्षिक अनुसंधान
और प्रशिक्षण परिषद्

नई दिल्ली
जनवरी 2005

भारत का संविधान

उद्देशिका

हम, भारत के लोग, भारत को एक **संपूर्ण प्रभुत्व-संपन्न, समाजवादी, पंथ-निरपेक्ष, लोकतंत्रात्मक गणराज्य** बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को:

सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक **न्याय;**

विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म
और उपासना की **स्वतंत्रता;**

प्रतिष्ठा और अवसर की **समता**
प्राप्त कराने के लिए

तथा उन **सब में** व्यक्ति की गरिमा और **राष्ट्र की एकता और अखंडता सुनिश्चित** करने वाली **बंधुता** बढ़ाने के लिए;

दृढ़संकल्प होकर **अपनी इस संविधान सभा में** आज तारीख 26 नवंबर, 1949 ई. (मिति मार्गशीर्ष शुक्ला सप्तमी, संवत् दो हजार छह विक्रमी) को **एतद्द्वारा इस संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।**

विषय-सूची

भारत का संविधान

भाग 4क

नागरिकों के मूल कर्तव्य

अनुच्छेद 51 क

मूल कर्तव्य - भारत के प्रत्येक नागरिक का यह कर्तव्य होगा कि वह -

(क) संविधान का पालन करे और उसके आदर्शों, संस्थाओं, राष्ट्रध्वज और राष्ट्रगान का आदर करे;

(ख) स्वतंत्रता के लिए हमारे राष्ट्रीय आंदोलन को प्रेरित करने वाले उच्च आदर्शों को हृदय में संजोए रखे और उनका पालन करे;

(ग) भारत की संप्रभुता, एकता और अखंडता की रक्षा करे और उसे अक्षुण्ण बनाए रखे;

(घ) देश की रक्षा करे और आह्वान किए जाने पर राष्ट्र की सेवा करे;

(ङ) भारत के सभी लोगों में समरसता और समान भ्रातृत्व की भावना का निर्माण करे जो धर्म, भाषा और प्रदेश या वर्ग पर आधारित सभी भेदभावों से परे हो, ऐसी प्रथाओं का त्याग करे जो महिलाओं के सम्मान के विरुद्ध हों;

(च) हमारी सामासिक संस्कृति की गौरवशाली परंपरा का महत्त्व समझे और उसका परिरक्षण करे;

(छ) प्राकृतिक पर्यावरण की, जिसके अंतर्गत वन, झील, नदी और वन्य जीव हैं, रक्षा करे और उसका संवर्धन करे तथा प्राणिमात्र के प्रति दयाभाव रखे;

(ज) वैज्ञानिक दृष्टिकोण, मानववाद और ज्ञानार्जन तथा सुधार की भावना का विकास करे;

(झ) सार्वजनिक संपत्ति को सुरक्षित रखे और हिंसा से दूर रहे;

(ञ) व्यक्तिगत और सामूहिक गतिविधियों के सभी क्षेत्रों में उत्कर्ष की ओर बढ़ने का सतत् प्रयास करे, जिससे राष्ट्र निरंतर बढ़ते हुए प्रयत्न और उपलब्धि की नई ऊँचाइयों को छू सके; और

(ट) यदि माता-पिता या संरक्षक है, छह वर्ष से चौदह वर्ष तक की आयु वाले अपने, यथास्थिति, बालक या प्रतिपाल्य को शिक्षा के अवसर प्रदान करे।

अध्याय 1

साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद

जब कोई देश अपनी सीमा के बाहर के क्षेत्र के लोगों के आर्थिक और राजनीतिक जीवन पर अपना शासन नियंत्रण अथवा आधिपत्य कायम करता है तो इस व्यवहार को 'साम्राज्यवाद' के नाम से पुकारा जाता है। ऐसा करने के लिए सेना का उपयोग किया जा सकता है या कोई दूसरा तरीका भी अपनाया जा सकता है। खास तौर से उपनिवेशवाद के द्वारा भी ऐसा होता है या उपनिवेशों को जीत कर तथा उन पर कब्ज़ा करके या अन्य तरीकों से उन पर नियंत्रण कायम कर और उन्हें परतंत्र बनाकर यह काम संभव है। यह बात ध्यान रखने की है कि किसी देश द्वारा किसी दूसरे देश अथवा जनता पर अधिकार करना या उन पर प्रत्यक्ष शासन करना हमेशा साम्राज्यवाद की वास्तविक विशेषता नहीं रही है। एक साम्राज्यवादी देश और उसके नियंत्रणाधीन देश या उपनिवेश के बीच संबंधों की वास्तविक विशेषता शोषण है। यह शोषण प्रत्यक्ष राजनीतिक नियंत्रण के माध्यम से भी हो सकता है और उसके बिना भी। इसका अर्थ है कि वह साम्राज्यवादी देश (जिसे कभी-कभी "मेट्रोपोलिस'' कहा जाता है और जिसका शाब्दिक अर्थ "मातृदेश'' है) अपने उपनिवेश को या अपने परोक्ष नियंत्रण वाले देश को अपना आर्थिक और राजनीतिक हित पूरा करने के लिए अपने अधीन लाता है।

एशिया और अफ्रीका तथा दुनिया के अनेक दूसरे भागों के अधिकांश देश अभी हाल तक किसी न किसी साम्राज्यवादी देश के नियंत्रण में थे। कुछ समय पहले तक भारत भी ब्रिटिश शासन के अधीन था। इनमें वे देश भी शामिल हैं जिन पर साम्राज्यवादी देशों का प्रत्यक्ष शासन तो नहीं था पर उनका शोषण कमोबेश उसी तरह किया जाता था जिस तरह उन देशों का, जिन पर प्रत्यक्ष साम्राज्यवादी शासन स्थापित था। आज की दुनिया में जबकि लगभग सभी देश राजनीतिक रूप से स्वतंत्र हैं, पूरी तरह साम्राज्यवादी नियंत्रण समाप्त नहीं हुआ है। स्वतंत्र होने पर आर्थिक दृष्टि से कम विकसित देशों के शोषण की, खासकर आर्थिक शोषण की और उन पर वर्चस्व स्थापित करने की प्रक्रिया को 'नव उपनिवेशवाद' कहा जाता है।

एशिया, अफ्रीका तथा अमरीकी महाद्वीप पर साम्राज्यवादी नियंत्रण स्थापित करने तथा उनको उपनिवेश बनाने का पहला चरण 16 वीं सदी में आरंभ हुआ था। 16 वीं और 18 वीं सदियों के बीच के काल में यूरोपियों द्वारा भौगोलिक खोजों के बाद पुर्तगाल, स्पेन, इंग्लैंड और फ्रांस ने बड़े-बड़े औपनिवेशिक साम्राज्य स्थापित किए थे। अमरीकी महाद्वीप में दक्षिणी अमरीका के अधिकांश भाग पर (ब्राजील को छोड़ कर, जिस पर पुर्तगाल का कब्ज़ा था), मध्य अमरीका, मैक्सिको, वेस्ट इंडीज़ तथा आज के संयुक्त राज्य अमरीका के कुछ भागों पर स्पेन ने कब्ज़ा कर लिया। उत्तरी अमरीका के कुछ भागों पर इंग्लैंड तथा फ्रांस ने कब्ज़ा किया। यूरोप के इन देशों से अनेक लोग स्थायी रूप से बसने के लिए इन उपनिवेशों में चले गए। इस काल में अफ्रीका महाद्वीप में यूरोपियों का नियंत्रण लगभग पाँचवें भाग पर, खासकर समुद्रतटीय भागों पर ही था। यह दासों के व्यापार का काल था। 17 वीं सदी में दासों का व्यापार करने वाले यूरोपीय लोग प्रति माह लगभग 5000 अफ्रीकियों को

गुलाम बनाकर अमरीका भेजते। एशिया में यूरोप वाले मुख्यत: व्यापार के उद्देश्य से आए। पुर्तगाल, हालैंड, इंग्लैंड, फ्रांस और दूसरे देशों के व्यापारी अपनी-अपनी सरकारों को समर्थन पाकर एशिया के देशों में अपने व्यापारिक ठिकाने कायम करने तथा उनके साथ व्यापार पर एकाधिकार स्थापित करने की कोशिश कर रहे थे। इनमें से हर एक युद्ध द्वारा तथा अपना राजनीतिक प्रभाव और नियंत्रण बढ़ाकर दूसरों को उस क्षेत्र विशेष से बाहर रखने का प्रयास करता था। एशियाई व्यापार पर पुर्तगालियों का नियंत्रण था परंतु भारत और इंडोनेशिया पर नियंत्रण स्थापित करके क्रमश: अंग्रेज़ों और डचों ने उन्हें इस स्थिति से वंचित कर दिया।

आमतौर पर साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशीकरण का पहला चरण 18 वीं सदी के अंत तक समाप्त हो चुका था। अंग्रेज़ों द्वारा भारत की विजय जो 18 वीं सदी के मध्य में आरंभ हुई थी, 19 वीं सदी के मध्य तक पूरी हो चुकी थी। इस बीच चीन के साम्राज्यवादी घुसपैठ का आरंभ हो चुका था।

16 वीं से 18 वीं सदी तक का काल यूरोपीय उपनिवेशवादी शक्तियों द्वारा खुली लूट का काल था। जिसकी भूमिका पूंजीवादी व्यवस्था के विकास तथा औद्योगिक क्रांति में भी रही है।

औद्योगिक क्रांति के आरंभिक काल में उपनिवेशों के लिए भाग-दौड़ तथा उपनिवेशों को लेकर यूरोपीय देशों के बीच शत्रुता कम हो गई थी। उपनिवेशों की यह दौड़ तथा ये औपनिवेशिक शत्रुताएँ 19 वीं सदी के अंत के दशकों में फिर से उभरीं। 1875 के आस-पास आरंभ होकर 1914 तक बने रहने वाले साम्राज्यवाद के इस चरण को अक्सर 'नव साम्राज्यवाद' कहा जाता है। यह चरण उस आर्थिक प्रणाली की उपज था जो औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप उभरी थी। इस चरण में कुछ उद्योगीकृत पूँजीवादी देशों ने दुनिया के लगभग शेष पूरे भाग पर अपना राजनीतिक और आर्थिक नियंत्रण और प्रभुत्व स्थापित कर लिया था। इस नियंत्रण तथा प्रभुत्व के विभिन्न रूपों में प्रत्यक्ष औपनिवेशिक शासन, प्रभाव-क्षेत्र की प्रणाली तथा विभिन्न प्रकार के आर्थिक और व्यापारिक समझौते भी शामिल थे। इस काल में स्पेन तथा पुर्तगाल जैसे कुछ साम्राज्यवादी देशों की शक्ति घटी तथा ऐसे नए देश उभरे जिन्होंने साम्राज्यवादी प्रसार तथा शत्रुता के इस चरण में अधिकाधिक महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। ब्रिटेन तथा फ्रांस जैसे पुराने साम्राज्यवादी देशों की शक्ति बनी रही और वे अपना साम्राज्यवादी प्रसार करते रहे। परंतु इस काल में जो नए साम्राज्यवादी देश उभरे और औपनिवेशिक प्रभुत्व की दौड़ में शामिल हुए, वे थे- जर्मनी, इटली, बेल्जियम, संयुक्त राज्य अमरीका और आगे चलकर जापान।

साम्राज्यवाद के विकास में सहायक दशाएँ

अगर आप 19 वीं सदी में दुनिया की परिस्थितियाँ देखें तो वे साम्राज्यवाद के विकास के अनुकूल लगती हैं। साम्राज्यवादी देशों ने इन परिस्थितियों का भरपूर लाभ उठाया तथा अपने हितों को पूरा करने वाली प्रत्येक विजय को उचित बताया। वास्तव में अधिक शक्तिशाली देशों ने साम्राज्यवाद को ऐसे पेश किया जैसे कि वह एक आवश्यक और स्वाभाविक घटना हो।

औद्योगिक क्रान्ति के कारण उत्पन्न माँगें

औद्योगिक क्रान्ति के कारण वस्तुओं का उत्पादन बहुत अधिक बढ़ गया। इसने उत्पादन की पूँजीवादी प्रणाली को भी जन्म दिया। पूँजीवाद में पूँजीपति के लिए अधिकतम मुनाफा ही उत्पादन का प्रमुख उद्देश्य होता है। भारी मुनाफा कमाने के लिए पूँजीपतियों ने दो रास्ते अपनाए - अधिक से अधिक उत्पादन करना तथा मजदूरों को कम से कम मज़दूरी देना। वस्तुओं का उत्पादन घरेलू माँग से बहुत अधिक हो रहा था। कम मजदूरी का अर्थ था - बहुसंख्यक जनता की कम क्रय-शक्ति। इससे घरेलू माँग और भी सीमित हो जाती थी इसलिए अपने उद्योगों में बन रही वस्तुओं के लिए पूँजीवादी देशों के लिए नए बाज़ार और नए ग्राहक खोजना आवश्यक था।

एक उद्योगीकृत देश द्वारा अन्य उद्योगीकृत देशों को माल बेचने की संभावनाएँ भी कम थीं। यूरोप के जिन देशों में औद्योगिक क्रांति का प्रसार हुआ, वे अपने उद्योगों को संरक्षण और प्रोत्साहन देने का हर प्रयास करते थे।

ऐसा करने के लिए सभी यूरोपीय देश अब 'संरक्षणवादी नीति' का पालन कर रहे थे। इसका अर्थ यह है कि हर एक देश दूसरे देशों से आयातित माल पर भारी महसूल या कर लगाता था।

यूरोपीय देशों को अपने अधिशेष (बचे हुए माल) के लिए बाज़ार, एशिया और अफ्रीका में ही मिल सकते थे जहाँ औद्योगिक क्रांति नहीं हुई थी। इन क्षेत्रों पर स्थापित राजनीतिक प्रभुत्व के कारण वहाँ माल बेचना और भी आसान हो गया। इसके कारण हर देश अपने बाज़ार को अपने दूसरे यूरोपीय प्रतियोगियों से सुरक्षित रख सकता था और स्थानीय स्तर पर उत्पादित माल से होने वाली प्रतियोगिता को भी समाप्त कर सकता था।

यूरोपीय देशों को बाज़ार के अलावा कच्चे माल के नए स्रोतों की भी आवश्यकता थी। जैसे-जैसे उद्योग बढ़ते जाते थे, उन उद्योगों के लिए कच्चे माल की आवश्यकता भी बढ़ती जाती थी और ये सब अपने ही देश में नहीं मिल पाता था, या जो मिलता था, वह कम से कम पर्याप्त तो नहीं था। भारत और मिस्र कपास के तथा काँगो और ईस्ट इंडीज़ रबर के अच्छे स्रोत थे। अनाज, चाय, काफी, नील, तम्बाकू और चीनी की भी साम्राज्यवादी देशों को आवश्यकता थी। इन्हें पाने के लिए आवश्यक था कि जिन देशों में इनकी पैदावार संभव थी वहाँ उत्पादन का ढर्रा बदला जाए। कभी-कभी एक देश में पैदा माल को दूसरे किसी देश में बेचना पड़ता था ताकि वहाँ से आने वाले माल की कीमत चुकाई जा सके। उदाहरण के लिए, अंग्रेजों ने भारत में अफीम की खेती को बढ़ावा दिया और वे उस अफीम को भारत से चीन ले जाते थे ताकि इस तरह चीन में ख़रीदे हुए माल की कीमत दे सकें। कुछ देशों में साम्राज्यवादियों ने ज़बरदस्ती एक या दो ऐसी फ़सलों की खेती कराई जिनकी उन्हें अपने उद्योगों के लिए कच्चे माल के रूप में ज़रूरत थी। कोयला, लोहा, टिन, सोना, ताँबा और आगे चलकर तेल — ये सब एशिया और अफ्रीका के वे संसाधन थे जिन पर यूरोपीय देश नियंत्रण स्थापित करना चाहते थे।

19 वीं सदी के अंतिम भाग में साम्राज्यवादी देश एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका को अपनी पूँजी लगाने का क्षेत्र समझने लगे। एशिया, अमरीका और अफ्रीका में कच्चे मालों की इफ़रात तथा यूरोपियों से कम मज़दूरी पर काम करने के लिए उपलब्ध लोगों की भारी संख्या जैसी बातों ने इन महाद्वीपों को पूँजी-निवेश के लिए बहुत आकर्षक बना दिया। यूरोप में लगी पूँजी पर केवल तीन या चार प्रतिशत मुनाफ़ा होता था, पर एशिया और अफ्रीका में उसी पर 20 प्रतिशत तक मुनाफ़ा मिल सकता था। 19 वीं सदी के लगभग अंत से दूसरे देशों में निवेश के लिए पूँजी का निर्यात वस्तुओं के निर्यात से अधिक महत्वपूर्ण हो गया। यह बैंकों आदि वित्तीय संस्थाओं की शक्ति और प्रभाव में वृद्धि के कारण संभव हो सका जो उद्योगों को कर्ज़ देकर वे उन पर अपना नियंत्रण बनाए रखते थे। उपनिवेशों में पूँजी का यह निवेश उनका उद्योगीकरण करने के लिए नहीं किया गया। यह निवेश ऐसे उद्योगों में किया गया जो मुख्यतः निर्यात के लिए वस्तुओं का उत्पादन कर सकें (जैसे खदानें) या उन उद्योगों में किया गया जो उस उपनिवेश की अर्थव्यवस्था पर साम्राज्यवादी देश का नियंत्रण और मजबूत बना सकें (जैसे कि रेलें)। बाज़ारों और कच्चे माल की तरह इस के लिए भी राजनीतिक प्रभुत्व प्रायः आवश्यक समझा जाता था। पूँजी का निर्यात करके किसी देश पर प्रत्यक्ष राजनीतिक नियंत्रण स्थापित किए बिना भी उसकी अर्थव्यवस्था पर नियंत्रण रखा जा सकता था।

यूरोपियों का 'तर्क' था कि राजनीतिक प्रभुत्व के बिना पूँजी-निवेश करना शायद 'सुरक्षित' न हो। उनकी दलील थी कि ऐसे देशों में अगर कोई विद्रोह हो जाए जिसे कोई कमज़ोर सरकार न दबा सके या सरकार ही बदल जाए तो न केवल उनका मुनाफ़ा बल्कि पूरा धन ही डूब सकता है। इसका उपाय यही था कि जिन देशों में पूंजी-निवेश किया जाए वहां राजनीतिक प्रभुत्व भी स्थापित किया जाए। इसी उपाय के लिए, उदाहरण के तौर पर, उत्तरी अफ्रीका में स्थित मोरक्को 'फ्रेंच मोरक्को' बन गया। फ्रांसीसी पूँजी निवेशकों ने अपनी सरकार से कहा कि वह इसका अधिग्रहण कर ले।

यातायात-संचार में सुधार

औद्योगिक क्रांति के कारण यातायत और संचार में जो परिवर्तन आए उनसे भी साम्राज्यवाद का प्रसार आसान

हो गया। यूरोप के स्वामी देशों और एशिया तथा अफ्रीका के देशों के बीच माल ढोने का काम भाप के जहाज़, पुरानी पालदार नावों की तुलना में काफी तेजी से कर सकते थे। सस्ते श्रम के द्वारा साम्राज्यवादी देशों ने अपने नियंत्रण में किये गए क्षेत्रों में रेलें बिछाईं और जल-यातायात का विकास किया। इनके द्वारा वे इन महद्वीपों के अंदरूनी भागों से भी कच्चा माल ला सकते थे तथा अपने तैयार माल को नए बाज़ारों में बेच सकते थे। इस तरह दुनिया का हर एक क्षेत्र उद्योगीकृत देशों की पहुँच में आ गया।

घोर राष्ट्रवाद : दंभ और शक्ति

19 वीं सदी का उत्तरार्द्ध घोर राष्ट्रवाद का काल था। जर्मनी तथा इटली अपने अलग-अलग राज्यों को एक करके राष्ट्र बन चुके थे। 19 वीं सदी के इस काल में उग्रराष्ट्रवाद (शाविनिज़्म) भी जुड़ गया। अनेक राष्ट्रों ने दूसरे जनगणों पर अपनी श्रेष्ठता की कहानियाँ गढ़ीं। हर एक को लगता था कि उसकी शक्ति और प्रतिष्ठा में वृद्धि के लिए उसके पास भी उपनिवेश होने चाहिएं। 19 वीं सदी के इस दौर में साम्राज्यवाद ज़माने का फैशन बन गया। साम्राज्यवाद के विचार को फैलाने के लिए इंग्लैंड, फ्रांस और जर्मनी में लेखकों और वक्ताओं ने संस्थाएँ बना लीं। यूरोपीय देश अपने अधीन क्षेत्रों को अपना साम्राज्य कहकर बड़े गर्व का अनुभव करते थे। समुद्र पार स्थित देशों पर नियंत्रण करना पश्चिमी दुनिया में एक वांछित उद्देश्य बन गया।

साम्राज्यवादी देशों ने एशिया और अफ्रीका के कुछ भागों पर कब्ज़ा उनके सैनिक या रणनीतिक महत्व के लिए किया। उदाहरण के लिए, इंग्लैंड को पोर्ट सईद, अदन, हाँगकाँग, सिंगापुर और साइप्रस की आवश्यकता थी-इंग्लैंड की रक्षा के लिए नहीं बल्कि प्रतियोगी राष्ट्रों से अपने कब्ज़े वाले क्षेत्रों तथा भारत के व्यापारिक रास्तों की रक्षा के लिए। इन स्थानों में उसने नौसैनिक अड्डे और कोयला-पानी के स्टेशन बनाए तथा इस प्रकार विदेशों में अपनी शक्ति को मजबूत कर लिया। आगे आप देखेंगे कि प्रतियोगी राष्ट्रों ने भी दूसरी जगहों पर ऐसे ही अड्डे बनाए। एक उपनिवेश जीतने के कारण एक चेन-प्रतिक्रिया आरम्भ हो जाती थी। कोई देश एक उपनिवेश पर कब्ज़ा करता तो उसकी सुरक्षा के लिए उसे दूसरे उपनिवेश की आवश्यकता होती और इस प्रकार यह क्रम चलता रहता।

समुद्रपारीय अधिकार क्षेत्र इसलिये भी उपयोगी थे क्योंकि वे साम्राज्यवादी देश की मानव शक्ति को बढ़ाते थे। औपनिवेशिक देशों के कुछ लोगों को विजय-युद्धों में उपयोग के लिए अक्सर बलपूर्वक सेना में भर्ती कर लिया जाता, और दूसरों से कुछ निश्चित वर्षों तक दूसरे औपनिवेशिक अधिकार क्षेत्रों में बागानों और खदानों में काम करने के लिए अनुबंध कराया जाता। उपनिवेशों की मानव-शक्ति का उनके प्रशासन के निचले स्तरों पर भी उपयोग किया जाता था।

'सभ्यकारी लक्ष्य' के विचार

अनेक यूरोपीय लोगों के विचार में साम्राज्यवादी प्रसार एक बहुश्रेयस कार्य था। वे इसे दुनिया के 'पिछड़े' जनगणों तक सभ्यता पहुँचाने का उपाय मानते थे। प्रसिद्ध अंग्रेज़ी लेखक रुडयार्ड किप्लिंग ने अपने देश-वासियों से आग्रह किया कि वे, उसके शब्दों में, 'गौरवर्ण मानव का बोझ उठाएँ।' फ्रांस के जूल्स फेरी ने कहा कि 'हीन जातियों को सभ्य बनाना श्रेष्ठ जातियों का कर्तव्य है।'

ईसाइयत के प्रसार के लिए समर्पित ईसाई मिशनरियों की भी साम्राज्यवादी विचारों के प्रसार में भूमिका रही। कर्तव्य-भावना से प्रेरित होकर अक्सर वे अनजान क्षेत्रों में अकेले चले जाते, उनके पीछे-पीछे मुनाफाखोर व्यापारी और सैनिक भी जाते। मिशनरियों की रक्षा के लिए अक्सर युद्ध हुए। यह सब पश्चिम के अधिकांश लोगों को एकदम स्वाभाविक लगता था क्योंकि वे एशिया और अफ्रीका के जनगणों को सभ्य तथा ईसाई बनाना अपना राष्ट्रीय कर्तव्य मानते थे। संयुक्त राज्य अमरीका के राष्ट्रपति मेकिन्ले ने फिलीपीन्स पर कब्ज़ा करने के कारण इन शब्दों में सामने रखे : "वहाँ करने के लिए और कुछ नहीं बचा था, सिवाय इसके कि इन सबको हम अपने अधिकार में ले लें, फिलीपीनियों को शिक्षित करें, उनका उत्थान करें, उन्हें अपने साथी मनुष्यों की तरह सभ्य और ईसाई बनाएँ जिनके लिए ईसा ने भी अपने प्राण दिये थे।''

खोजियों, दुस्साहसियों और धर्मप्रचारकों ने भी साम्राज्यवाद के प्रसार में सहायता दी। वे अज्ञात या कम ज्ञात क्षेत्रों में जाते तथा ऐसी रिपोर्ट लेकर आते जिसमें

व्यापार और विकास के अवसर के संकेत अक्सर मौजूद होते। इन रिपोर्टों के आधार पर वहाँ पहले एक व्यापारिक ठिकाना बनाया जाता और फिर उस खोजी के देश की सरकार उस व्यापारिक ठिकाने के इर्द-गिर्द के पूरे क्षेत्र को धीरे-धीरे अपने 'संरक्षण' में लेने के उपाय करती। फिर वह सरकार और आगे बढ़कर उस पूरे क्षेत्र का दावा करती। खोजियों और दुस्साहसियों का काम अफ्रीका पर यूरोप के कब्जे के लिए खासतौर पर महत्वपूर्ण रहा।

एशिया और अफ्रीका में साम्राज्यवाद के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ

एशिया तथा अफ्रीका पर साम्राज्यवादी विजय का सबसे महत्वपूर्ण कारण यह था कि दुनिया के इस भाग में औद्योगिक क्रांति नहीं हुई थी। यहाँ के दस्तकार उत्तम कोटि का माल बनाते जिसकी पश्चिमी देशों के लोग प्रशंसा करते और उसे ख़रीदने को लालाइत रहते थे परंतु उनका सहारा हाथ के औजार ही थे, जिससे छोटे पैमाने पर उत्पादन संभव था।19 वीं सदी में पश्चिमी देशों के उत्पादन की तुलना में एशिया और अफ्रीका की कार्यविधियाँ पिछड़ी हुई थीं। इसके अलावा औद्योगिक क्रांति से पश्चिमी देशों को जो ज्ञान प्राप्त हुआ था उसके अभाव में ये दोनों महाद्वीप सैनिक रूप से कमज़ोर थे तथा यूरोप की सामरिक ताकत के सामने नहीं ठहर सकते थे।

19 वीं सदी में एशियाई और अफ्रीकी देशों की सरकारें बहुत कमज़ोर थीं। यहाँ प्राचीन काल तथा मध्यकाल में शक्तिशाली साम्राज्य हुआ करते थे। एशियाई और अफ्रीकी सभ्यताओं का पश्चिमी दुनिया के विकास में भी योगदान रहा है। परंतु 19 वीं सदी में भी यहाँ शासन के वही पुराने तरीके प्रचलित थे हालाँकि उनकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी थी। इन देशों में आधुनिक अर्थों मे मज़बूत राष्ट्र-राज्यों का उदय नहीं हुआ था। सामंती युग की तरह यहाँ जनता की वफ़ादारी स्थानीय राजाओं के प्रति या कबीलाई सरदारों के प्रति थी। इन शासकों को जनता के कल्याण की शायद ही कोई चिंता थी। इन परिस्थितियों से ही समझा जा सकता है कि किस तरह पश्चिमवासियों के छोटे-छोटे समूह शक्ति प्राप्त करने तथा अंततः अपनी सरकारों के समर्थन से पूरे-पूरे देश को जीतने में सफल रहे।

एशिया की विजय

भारत में अंग्रेज़ों का आगमन

भारत में मुग़ल साम्राज्य के पतन ने उन अंग्रेज़ों और फ्रांसीसियों को भारत-विजय का अवसर दिया जो यहाँ व्यापार करने आए थे। 1600 में स्थापित अंग्रेज ईस्ट इंडिया कंपनी 1763 में फ्रांसीसियों के साथ टकराव में विजयी हुई। बंगाल से आरंभ होकर लगभग पूरा देश ही अंग्रेजी ईस्ट इंडिया कंपनी के अधिकार में आ गया। 1857 के विद्रोह के बाद इंग्लैंड की सरकार ने भारत का शासन खुद संभाल लिया। अनेक रजवाड़े बने रहे। वे कहने को तो स्वतंत्र थे परंतु वास्तव में स्वतंत्र नहीं थे। भारत पर अंग्रेज़ों की विजय पूरी हो गई थी।

अंग्रेज़ी ईस्ट इंडिया कंपनी तथा फ्रांसीसी कंपनी के टकराव का उद्देश्य व्यापार पर एकाधिकार स्थापित करना था। अंग्रेज़ी कंपनी का नियंत्रण स्थापित होने के बाद देश के विशाल संसाधन उसके कब्ज़े में आ गए। अब भारतीय माल की ख़रीद के लिए इंग्लैंड से पैसा लाना आवश्यक न था। भारत में अंग्रेज़ों की विजय से प्राप्त धन से ही इनको ख़रीदकर इंग्लैंड और यूरोप में बेचा जा सकता था। कंपनी के अधिकारियों ने भी बहुत पैसा बनाया। भारत को ब्रिटिश साम्राज्य का सबसे चमकदार हीरा कहा जाता था। इंग्लैंड में औद्योगिक क्रांति के आरंभ के बाद इस देश में ब्रिटिश माल का आना आरंभ हो गया। इससे भारतीय दस्तकारों के उद्योग बर्बाद हो गए। मुनाफ़े तथा ब्रिटिश सरकार को दिए जाने वाले खिराज के रूप में भारत से लाखों पौंड की रकम इंग्लैंड ले जाई गई। भारत के हित अधिकाधिक ब्रिटिश हितों के अधीन बनाए गए। 1877 में ब्रिटेन की साम्राज्ञी ने "भारत की साम्राज्ञी" की उपाधि ग्रहण की जो पहले मुग़ल सम्राटों की उपाधि थी।

अंग्रेज़ों की विजय के कारण भारत के सामाजिक और आर्थिक जीवन में अनेक परिवर्तन आए। ब्रिटिश माल के लिए भारतीय बाजार को फैलाने तथा भारत के प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग करने के लिए बड़े पैमाने पर रेलें बिछाई गईं। ब्रिटिश शासकों ने अपने बागान मालिकों को ख़ास विशेषाधिकार दिए और बहुत कम समय में चाय, काफ़ी और नील के अनेक बागान खड़े हो गए। 1883 में सारे

ईस्ट इंडिया हाउस, लंदन में ईस्ट इंडिया कंपनी का मुख्यालय

आयात और निर्यात शुल्क हटा दिए गए। भारत के मानवीय और भौतिक दोनों प्रकार के संसाधनों का उपयोग चीन, मध्य एशिया और अफ्रीका में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के हितों को पूरा करने के लिए किया गया। अंग्रेज़ों ने भारतीय जनता का विरोध समाप्त करने के लिए जनमत की अभिव्यक्ति को नष्ट करने वाले कानून बनाए। उन्होंने सरकार के महत्वपूर्ण पदों से भारतियों को बाहर रखा और दूसरी संस्थाओं तथा सार्वजनिक जीवन में भी उनके साथ भेदभाव किया।

चीन में साम्राज्यवाद

चीन में साम्राज्यवादी प्रभुत्व का आरंभ तथाकथित अफीम युद्धों से हुआ। इन युद्धों से पहले केवल दो बंदरगाह विदेशी व्यापारियों के लिए खुले थे। ब्रिटिश व्यापारी चीन से चाय, रेशम तथा दूसरी वस्तुएँ खरीदते थे। ब्रिटिश व्यापारियों ने बड़े पैमाने पर चीन में अफीम की तस्करी आरंभ कर दी। अफीम का यह गैरकानूनी व्यापार ब्रिटिश व्यापारियों के लिए बहुत लाभदायी था, पर इससे चीनियों की बहुत शारीरिक और नैतिक हानि हुई। 1839 में चीन सरकार के एक अधिकारी ने जब अफीम की एक खेप पकड़कर उसे नष्ट कर दिया तो ब्रिटेन ने युद्ध की घोषणा कर दी और आसानी से चीनियों को हरा दिया। तब चीनियों को मजबूर किया गया कि वे अंग्रेज़ों को भारी हर्जाने दें और अपने पाँच बंदरगाह पर स्थित नगर ब्रिटिश व्यापारियों के लिए खोल दें। चीन की सरकार ने यह बात भी मान ली कि भविष्य में इन बंदरगाहों के ब्रिटिश नागरिकों पर कोई भी मुकदमा चीन की नहीं, बल्कि इंग्लैंड की अदालतों में चलाया जाएगा। इस व्यवस्था को क्षेत्रेत्तर अधिकार (एक्स्ट्रा-टेरिटोरियल राइट्स) कहा गया जिसकी नकल दूसरे पश्चिमी देशों ने भी की। चीन की सरकार अब विदेशी वस्तुओं पर शुल्क लगाने को भी स्वतंत्र न थी। हांगकांग का द्वीप ब्रिटेन को दे दिया गया।

फ्रांस ने भी जल्द ही ऐसी असमान संधियाँ चीन पर लाद दीं। एक फ्रांसीसी मिशनरी की हत्या का बहाना लेकर इंग्लैंड और फ्रांस ने चीन से एक और युद्ध किया। चीन की हार हुई और उसे विजेताओं को और भी विशेषाधिकार देने पड़े।

चीन में साम्राज्यवाद के प्रसार का दूसरा महत्वपूर्ण चरण जापान के साथ चीन के युद्ध के बाद आरंभ हुआ। यह युद्ध तब हुआ जब जापान ने अपना प्रभाव कोरिया पर बढ़ाना चाहा जोकि चीन के आधिपत्य (ओवरलार्डशिप) में था। चीन ने इसका विरोध किया। दोनों देशों में युद्ध छिड़ गया और अंत में जापान विजयी रहा। चीन ने कोरिया को स्वाधीनता दे दी तथा फारमोसा और दूसरे द्वीप जापान के हवाले कर दिए। उसे जापान को भारी हर्जाने भी देने पड़े जो लगभग 15 करोड़ डालर के बराबर थे।

इस रकम की अदायगी के लिए फ्रांस, रूस, ब्रिटेन और जर्मनी ने चीन को कर्ज़ दिए। मगर यह अकारण न था। अब इन पश्चिमी देशों ने चीन को अनेकों प्रभाव-क्षेत्रों में
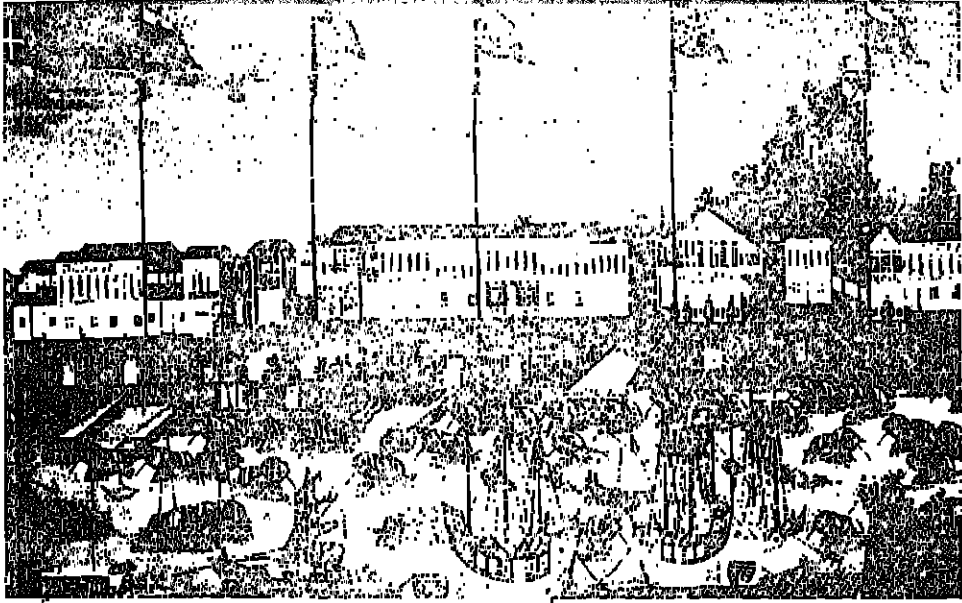
कैंटन का बंदरगाह, चीन के साथ यूरोप के व्यापारियों के लिए व्यापार करने को जिसे खोला गया था। चीनी अधिकारियों ने जिन देशों को व्यापार की अनुमति दी थी, उनके झण्डे प्रदर्शित किए गए हैं।

बाँट लिया। इसका अर्थ यह था कि चीन के अलग-अलग क्षेत्र इन देशों के अकेले शोषण के लिए सुरक्षित थे। उदाहरण के लिए किसी देश को अधिकार था कि वह अपने प्रभाव क्षेत्र में रेलें बिछाए या खदानों का दोहन करे। जर्मनी को क्याउचाऊ की खाड़ी मिली तथा शांतुंग और हवांगहो घाटी का एकमात्र अधिकार मिला। रूस ने लियाओतुंग प्रायद्वीप ले लिया तथा मंचूरिया में रेलें बिछाने का अधिकार भी लिया। फ्रांस को क्वांगचाओ की खाड़ी मिली तथा चीन के तीन दक्षिणी प्रांतों के एकमात्र अधिकार मिले। ब्रिटेन को यांग्त्से घाटी के प्रभाव क्षेत्र के अलावा वेई-हाई-वेई मिला।

संयुक्त राज्य अमरीका को डर था कि चीन पूरी तरह अनेक सुरक्षित प्रभाव-क्षेत्रों में बँट जाएगा और उसका चीन के साथ व्यापार ठप हो जाएगा। इसलिए संयुक्त राज्य ने "खुले दरवाजे" के नाम से प्रसिद्ध नीति का सुझाव दिया। इस नीति को "मुझे भी" की नीति कहा जाता है। इस नीति के अनुसार सभी देशों को चीन में कहीं भी व्यापार करने के समान अधिकार होने चाहिए।

ब्रिटेन ने संयुक्त राज्य का समर्थन यह सोचकर किया कि इससे जापान और रूस द्वारा चीन पर कब्ज़े को हतोत्साहित किया जा सकेगा। यही दो देश ऐसे थे जो चीन के अंदरूनी भागों में सबसे आसानी से अपनी सेनाएँ भेज सकते थे।

चीन में विशेषाधिकारों की यह छीना-झपटी तब रुक गई जब विदेशी शक्तियों के खिलाफ़ एक विद्रोह उठ खड़ा हुआ। इसे बाक्सर विद्रोह कहा जाता है, परंतु जीत विदेशी शक्तियों की हुई और उन्होंने चीन को सज़ा देने के लिए उस पर जुर्माने लगाए। चीनी क्षत्रपों (वॉरलार्ड्ज़) के सहयोग से चीन में साम्राज्यवाद बना रहा। इन सैनिक कमांडरों ने विदेशी शक्तियों को और विशेषाधिकार देकर जो कर्ज़े लिए, उन्हीं से उन्हें शक्ति मिली। हालाँकि चीन किसी साम्राज्यवादी देश का उपनिवेश नहीं रहा और उस

अक्टूबर 1860 में ब्रिटिश और फ्रांसीसी फौजें बीजिंग में घुसीं और उस पर अधिकार कर लिया।

पर किसी का कब्जा नहीं रहा, फिर भी चीन में इन घटनाओं के प्रभाव औपनिवेशिक क्षेत्रों के समान ही रहे। कुछ ही दशकों में चीन वास्तव में एक अंतर्राष्ट्रीय उपनिवेश बनकर रहा गया।

चीन का अनेक प्रभाव-क्षेत्रों में यह बँटवारा अक्सर "चीनी खरबूज़े का काटना" कहा जाता है ।

दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व एशिया में साम्राज्यवाद

नेपाल, म्यांमार (बर्मा), मलाया, इंडोनेशिया, हिंदचीन, थाईलैंड और फिलीपीन्स दक्षिण तथा दक्षिण-पूर्व एशिया के देश हैं। नव साम्राज्यवाद के उदय के पहले भी इनमें से अनेक देश यूरोपियों के अधीन थे। श्रीलंका पर पहले पुर्तगालियों का, फिर डचों का और अंत में अंग्रेज़ों का कब्ज़ा हुआ। यहाँ इंग्लैंड ने चाय और रबर के बागान लगाए जो श्रीलंका के कुल निर्यात का 7/8 भाग बन गए। डच अंग्रेज़ों के हाथों मलाया को हार बैठे। इसमें मलय प्रायद्वीप के छोर पर स्थित सिंगापुर भी शामिल था। मलाया और सिंगापुर की विजय का अर्थ था मलक्का जलडमरूमध्य के रास्ते सुदूर पूर्व से होने वाले व्यापार पर पूरा नियंत्रण । इंडोनेशिया तथा आस-पास के द्वीप डच नियंत्रण में थे। 1875 के बाद हालैंड ने मलुक्कास नामक द्वीपसमूह पर भी नियंत्रण कर लिया।

दक्षिण-पूर्व एशिया के उस भाग में जो हिंदचीन कहलाता था, लाओस, कंबोडिया और वियतनाम आते हैं। जब इंग्लैंड अफीम के व्यापार को लेकर चीन से लड़ रहा था, फ्रांस हिंदचीन में अपना व्यापार बढ़ाने के प्रयास कर रहा था। अनेक योजनाबद्ध उपायों के द्वारा, जिनमें युद्ध की धमकी भी शामिल थी, फ्रांस हिंदचीन का स्वामी बन बैठा तथा तीनों अलग-अलग राज्य एक ही फ्रांसीसी गवर्नर-जरनल के अधीन कर लिए गए। फिर फ्रांस के ख़िलाफ़ बार-बार विद्रोह हुए जिन्हें दबा दिया गया या, फ्रांसीसियों के शब्दों में, "शांत" कर दिया गया।

1880 में बर्मा के राजा ने फ्रांस को टोंकिन से मांडले तक रेल-लाइन बिछाने का अधिकर दिया। फ्रांसीसी पूरे दक्षिण-पूर्व एशिया पर प्रभुत्व जमाने के प्रयास कर रहे थे। फ्रांस के प्रसार से डरकर ब्रिटिश सरकार ने बर्मा के साथ युद्ध छेड़ दिया। बर्मा का राजा पकड़ा गया और भारत भेज दिया गया। बर्मा को हड़पकर 1886 में ब्रिटेन के भारतीय साम्राज्य का अंग बना दिया गया।

थाईलैंड या स्याम फ्रांस द्वारा विजित हिंदचीन तथा ब्रिटेन द्वारा विजित बर्मा के बीच स्वतंत्र राज्य बना रहा। हालांकि थाइलैंड की स्वतंत्रता कायम रही, पर उसके मामलों पर फ्रांस और ब्रिटेन का बहुत दबदबा बना रहा।

19 वीं सदी के अंत में संयुक्त राज्य अमरीका भी दक्षिण-पूर्व एशिया में साम्राज्यवादी प्रसार की दौड़ में शामिल हो गया। स्पेनी शासन के ख़िलाफ़ कैरीबियन में क्यूबा के लोगों के विद्रोह के बाद संयुक्त राज्य और स्पेन के बीच युद्ध छिड़ गया। फिलीपीनियों ने स्पेनी शासन के ख़िलाफ़ विद्रोह किया और संयुक्त राज्य ने क्यूबा और फिलीपीन्स पर अधिकार कर लिया। फिलीपीनियों ने अमरीकी कब्ज़े के ख़िलाफ़ विद्रोह किया पर वे कुचल दिए गए और फिलीपीन्स अमरीका के अधिकर-क्षेत्र में आ गया। फिलीपीन्स के लिए संयुक्त राज्य ने स्पेन को 2 करोड़ डालर अदा किया।
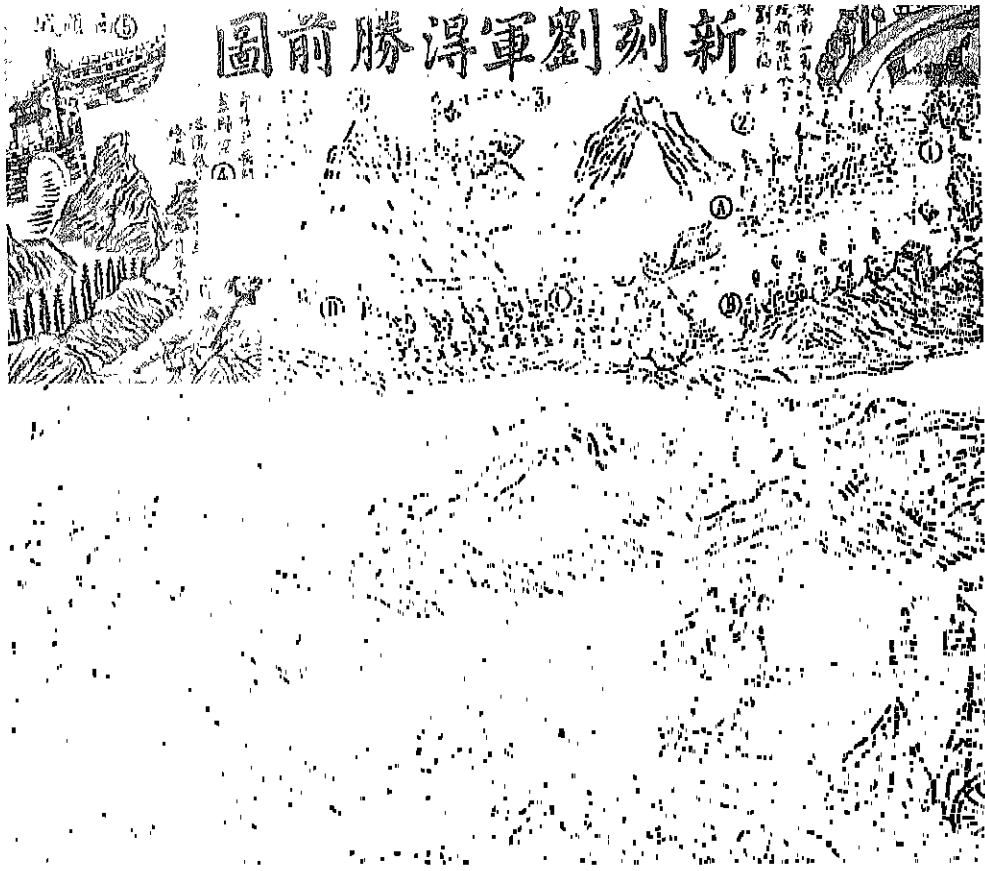
1884 में हिंदचीन में "सॉन ते" के आक्रमण को दर्शाने वाली एक समकालीन चीनी तस्वीर

मध्य और पश्चिमी एशिया में साम्राज्यवाद

मध्य एशिया, ईरान, अफ़ग़ानिस्तान और तिब्बत पर कब्ज़े के लिए मुकाबला इंग्लैंड और रूस में था। 19 वीं सदी के उत्तरार्ध में रूस लगभग पूरे मध्य एशिया पर कब्ज़ा करने में सफल हो गया था। ईरान और अफ़ग़ानिस्तान को लेकर इंग्लैंड और रूस का टकराव चरम सीमा पर पहुँच गया।

इन देशों में ब्रिटेन के कुछ छोटे-मोटे आर्थिक हित थे, पर इसके अलावा ब्रिटेन की मुख्य चिंता थी — मध्य एशिया में रूस के प्रसार से अपने भारतीय साम्राज्य की रक्षा करना। आर्थिक नियंत्रण कायम करने के लिए इंग्लैंड और
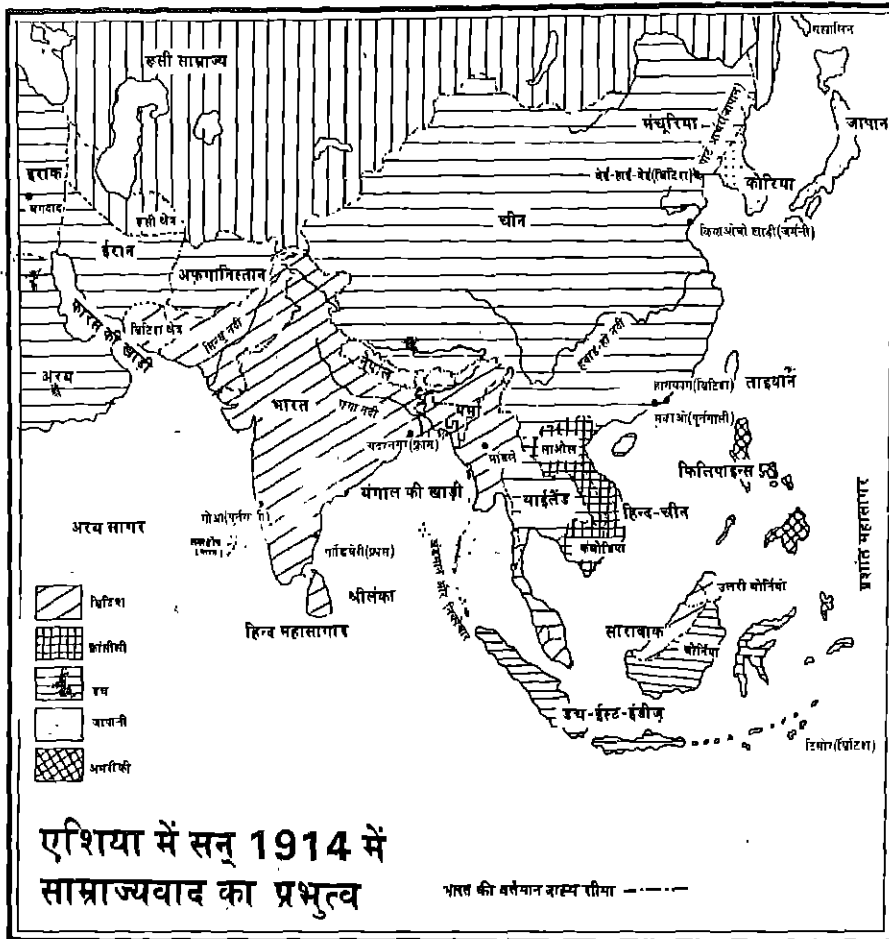
समुद्र में भारत का जल प्रदेश, उपयुक्त आधार रेखा से मापे गये बारह समुद्री मील की दूरी तक है।
मानचित्रों के आंतरिक विवरणों को सही दर्शाने का दायित्व प्रकाशक का है।

रूस ने ईरान में बैंक खोले। 1907 में इंग्लैंड और रूस में एक समझौता हुआ जिसके अनुसार दक्षिणी ईरान, ब्रिटेन और उत्तरी ईरान रूस के प्रभाव-क्षेत्र बन गए। ईरान का मध्य भाग किसी एक के प्रभाव क्षेत्र में नहीं था तथा दोनों के लिए खुला रहा।

इस बीच अफ़गानिस्तान तथा तिब्बत पर अधिकार के लिए इंग्लैंड और रूस का संघर्ष जारी रहा। अंततः 1907 में दोनों में एक समझौता इन दो देशों तथा ईरान को लेकर हुआ। दोनों शक्तियों ने तिब्बत में हस्तक्षेप न करने की बात मानी। रूस ने अफ़गानिस्तान को अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर मान लिया तथा ब्रिटेन ने यह माना कि जब तक अफ़गानिस्तान का शासक उसके प्रति निष्ठावान रहेगा, वह अफ़गानिस्तान का अधिग्रहण नहीं करेगा। तीन क्षेत्रों में ईरान के बँटवारे का ज़िक्र ऊपर आ चुका है। इसका अर्थ यह है कि ईरान पर इंग्लैंड और रूस की संयुक्त श्रेष्ठता स्थापित हो गई। 1917 में रूस की क्रांति के बाद नई सोवियत सरकार ने इस पुराने समझौते की निंदा की तथा ईरान में अपने सारे अधिकार छोड़ दिए मगर ईरान पर ब्रिटिश

सेना ने कब्ज़ा कर लिया।

इस बीच ईरान में कच्चे तेल का पता चला तथा ब्रिटेन और अमरीका की तेल कंपनियों की प्रभाव शक्ति ईरान में बढ़ी। ईरान कहने को स्वतंत्र रहा पर उसके ऊपर अमरीका की स्टैंडर्ड आयल कंपनी तथा इंग्लैड की ऐंग्लो- पर्शियन आयल कंपनी जैसी कंपनियों का दबदबा बराबर बढ़ता गया। 1911 में चीन में राजतंत्र की समाप्ति के बाद तिब्बत पर ब्रिटेन का प्रभाव भी बढ़ता गया।

इस पूरे काल में तुर्की तथा तुर्की साम्राज्य के एशियाई अधिकार-क्षेत्रों पर जर्मनी अपना प्रभाव बढ़ाता रहा। एक जर्मन कंपनी ने कुस्तुंतुनिया से बग़दाद और फ़ारस की खाड़ी तक रेल-लाइन बिछाने के अधिकार हासिल कर लिए। जर्मनी को आशा थी कि इस रेल-लाइन के सहारे वह इस क्षेत्र में तथा ईरान और भारत तक अपने आर्थिक हितों को बढ़ा सकेगा। फ्रांस, रूस तथा ब्रिटेन ने इसका विरोध किया, परंतु इस पूरे क्षेत्र के बँटवारे का समझौता जर्मनी, फ्रांस और इंग्लैंड के बीच हुआ। मगर प्रथम विश्वयुद्ध के छिड़ने पर स्थिति बदल गई। जर्मनी और तुर्की युद्ध में एक-दूसरे के सहयोगी थे, उनकी हार हुई। सीरिया, फिलिस्तीन, मेसोपोटामिया (इराक़) और अरब तुर्की से छिन गए और इंग्लैंड तथा फ्रांस के नियंत्रण में आ गए। इस तरह एशिया और दुनिया के दूसरे देशों से साम्राज्यवादी राष्ट्र के रूप में जर्मनी का सफ़ाया हो गया। जल्द ही तेल तथा तेल-संसाधनों पर नियंत्रण के अधिकार पाना पश्चिमी एशिया में साम्राज्यवादी देशों के प्रमुख लक्ष्य बन गए। ब्रिटेन और फ्रांस के साथ भागीदारी करके अमरीकी तेल कंपनियों ने अरब में तेल संबंधी अधिकार पा लिए।

साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में जापान

जापान ने अपना साम्राज्यवादी प्रसार 19 वीं सदी के अंतिम दशक में आरंभ किया। अपने पाँव जमाने की कोशिश पश्चिमी देशों ने जापान में भी की थी। 1853 में कमोडोर पेरी के नेतृत्व में अमरीकी जंगी जहाज़ों ने बल प्रयोग करके जापान को अमरीकी जहाज़रानी और व्यापार की छूट देने के लिए बाध्य कर दिया था। इसके बाद जापान के साथ ऐसे ही समझौते ब्रिटेन, हालैंड, फ्रांस और रूस ने किए। फिर भी दूसरे एशियाई देशों के अनुभव से जापान बचा रहा। 1867 में मेजी-पुनर्स्थापना के नाम से प्रख्यात सरकार-परिवर्तन के बाद जापान ने अपनी अर्थव्यवस्था को आधुनिक बनाना आरंभ कर दिया। कुछ ही दशकों में वह दुनिया के प्रमुख औद्योगिक देशों में से एक हो गया। लेकिन वह शक्तियाँ जिन्होंने अनेक पश्चिमी देशों को साम्राज्यवादी बनाया, जापान में भी सक्रिय थीं। जापान के पास अपने उद्योगों के लिए कच्चा माल बहुत कम था इसलिए उसकी निगाहें उन देशों पर पड़ी जहाँ माल उपलब्ध था तथा जो उसके कारख़ानों में तैयार माल की बिक्री के लिए बाज़ार भी मुहैया कर सकते थे।

जापान के साम्राज्यवादी मंसूबों के लिए चीन में पर्याप्त अवसर थे। 1894 में कोरिया के सवाल पर जापान और चीन के युद्ध के बारे में आप पहले पढ़ चुके हैं। इसके बाद चीन में जापान का प्रभाव बढ़ गया। 1902 की आंग्ल-जापानी संधि में उसे बड़ी यूरोपीय शक्तियों के बराबर के दर्जे की शक्ति मान लिया गया। 1904-1905 में उसने रूस को हराया। इस युद्ध के फलस्वरूप सखालिन का दक्षिणी भाग जापान को मिल गया। लियाओतुंग प्रायद्वीप के दक्षिणी भाग पर भी जापान का नियंत्रण हो गया और पोर्ट आर्थर उसे किराए पर मिल गया। 1910 में कोरिया जापान का उपनिवेश बन गया। 1914 में जब प्रथम विश्वयुद्ध आरंभ हुआ, तब जापान अपने पिछले पचास वर्षों के कारनामों पर गर्व करने की स्थिति में था। वह एक बड़ी शक्ति बन चुका था और अगर केवल पश्चिमी शक्तियाँ उसे ऐसा करने की छूट देतीं तो वह चीन में अपना और भी प्रसार कर सकता था।

साम्राज्यवादी देश के रूप में जापान के कारनामे पश्चिमी साम्राज्यवादियों के मुकाबले में बदतर ही थे। वास्तव में जापान की गतिविधियों से साबित होता है कि साम्राज्यवाद किसी एक जनगण या क्षेत्र की ही विशेषता नहीं थी बल्कि वह आर्थिक और राजनीतिक शक्ति की भूख का नतीजा था और अपनी नस्ल या सांस्कृतिक दावों के बावजूद किसी भी देश की नीति को विकृत कर सकता था।

संक्षेप में 20 वीं सदी के आरंभिक वर्षों तक लगभग पूरा एशिया साम्राज्यवादी देशों के कब्जे में आ चुका था।

अफ्रीका में साम्राज्यवाद

अफ्रीका के विभिन्न भागों में सभ्यता के उदय तथा राज्यों और साम्राज्यों का निर्माण काफी समय से हो रहा था। अफ्रीकी सभ्यताओं और संस्कृतियों के शेष दुनिया से प्राचीन काल से ही संपर्क थे। 15 वीं सदी के उत्तरार्ध में यूरोपीय खोजों के साथ अफ्रीका के कुछ भागों के इतिहास में एक नया चरण आरंभ हुआ। अफ्रीका के कुछ भागों के साथ व्यापारिक संबंधों की स्थापना के अलावा गुलामों का व्यापार भी इस काल की विशेषता थी। 19 वीं सदी के अंतिम दशकों तक अफ्रीकी महाद्वीप के केवल पाँचवें भाग पर यूरोप का नियंत्रण था। मगर कुछ ही वर्षों के अंदर लगभग पूरा महाद्वीप यूरोप के विभिन्न साम्राज्यवादी देशों के बीच बँट गया, हालाँकि उन्हें वास्तविक और प्रभावी अधिकार स्थापित करने में बहुत अधिक समय लगा।

दास ज़ंजीरें

दास-व्यापार

15 वीं सदी के अंतिम वर्षों के बाद एक लंबे समय तक अफ्रीका में यूरोप की घुस-पैठ मुख्यतः कुछ तटीय भागों तक सीमित रही। मगर अफ्रीका की जनता के लिए इन सीमित संपर्कों के भी अत्यंत दुःखद और घातक परिणाम हुए। इन संपर्कों का आरंभिक परिणाम लोगों की ख़रीद-बिक्री अर्थात दास-व्यापार था। अमरीकी महाद्वीपों में स्पेनी शासन की स्थापना के बाद वहाँ के मूल निवासियों को बड़े पैमाने पर मार डाला गया था। लिस्बन में पुर्तगाली एक दास-बाज़ार बना चुके थे और स्पेनी वहाँ से गुलाम ख़रीदकर काम कराने के लिए अमरीकी महाद्वीपों में ले जाते थे। दासों के व्यापारी अफ्रीकी गाँवों पर हमला करते, लोगों को पकड़ते और यूरोपीय व्यापारियों के हवाले कर देते। पहले दास-व्यापार पर अरबों का प्रभुत्व था। बाद में कुछ अफ्रीकी सरदार भी दास-व्यापार में शामिल होने लगे। वे यूरोपियों को बंदूकों के बदले गुलाम बेचते थे। यूरोपीय स्वयं भी गाँवों पर हमला करके लोगों को गुलाम बनाते और उन्हें समुद्र पार भेजते। जब अमरीका में गुलामों की माँग बढ़ गई तो व्यापारी अफ्रीका से सीधे वहाँ गुलाम भेजने लगे।

अफ्रीकी दासों का यह व्यापार पुर्तगालियों ने शुरू किया था। जल्द ही इस पर अंग्रेज़ों ने कब्ज़ा कर लिया। 1562 में एक धनी अंग्रेज़ व्यापारी सर जॉन हाकिंस जो बहुत धार्मिक व्यक्ति माना जाता था, 'जीसस' नामक जहाज़ लेकर दास लाने के लिए अपनी पहली अफ्रीकी-यात्रा पर गया। हाकिंस द्वारा लाए गए दासों की बिक्री से प्राप्त मुनाफ़े में इंग्लैंड की तत्कालीन महारानी एलिज़ाबेथ प्रथम को भी हिस्सा मिला था। 17 वीं सदी में एक नियमित कंपनी को इंग्लैंड के सम्राट ने दास-व्यापार के लिए चार्टर दिया। बाद में स्पेन ने दास-व्यापार पर अपना एकाधिकार और अमरीका में अपने अधिकार-क्षेत्र से होने वाले दास-व्यापार का अधिकार इंग्लैंड को दे दिया। दास-व्यापार से प्राप्त मुनाफ़े में इंग्लैंड के राजा का 25 प्रतिशत भाग निश्चित था।
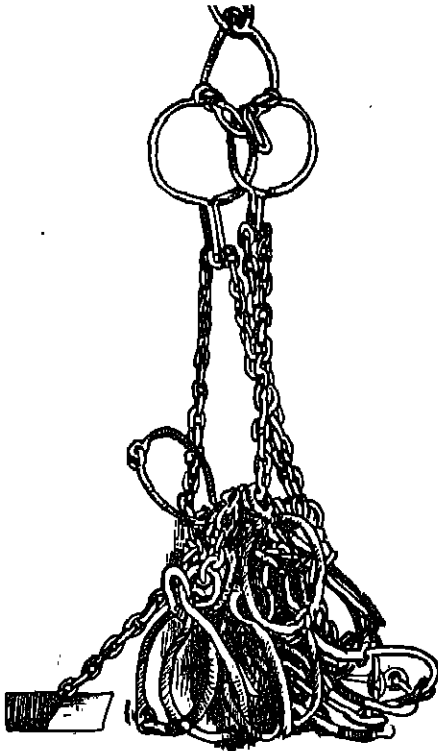
यह व्यापार 19 वीं सदी के लगभग मध्य तक जारी रहा। लाखों अफ्रीकी अपने घर-बार से दूर कर दिए गए। अनेकों अपने गाँवों पर व्यापारियों के हमलों का विरोध करते हुए मारे गए। जहाज़ों में उनको बेजान वस्तु समझकर ऐसी अस्वस्थकर दशा मे ले जाया जाता था कि जहाज़ों के नाविक प्रायः विद्रोह कर बैठते थे। लंबी यात्रा में लाखों अफ्रीकी मर गए। अनुमान है कि पकड़े गए कुल अफ्रीकी दासों में आधे भी अमरीका तक नहीं पहुँचते थे। बागानों में जिस अमानवीय दशा में उनसे जबरन काम लिया जाता था उसकी आज कल्पना भी नहीं की जा सकती। भागने की कोशिश करने वालों को अत्यंत निर्मम यातनाएँ दी जाती

नीलामी द्वारा दासों को बेचा जा रहा है।

थी। किसी भगोड़े दास को मारने वाले को सरकार की ओर से इनाम दिया जाता था। दास-प्रथा इस काल में यूरोपीय देशों द्वारा स्थापित औपनिवेशिक प्रणाली का अभिन्न अंग बन चुकी थी।

19 वीं सदी के आरंभ तक औपनिवेशिक शोषण की प्रणाली के लिए दास-व्यापार का महत्व समाप्त हो चुका था। अफ्रीका के अंदरूनी भागों को औपनिवेशिक शोषण के दायरे में लाने में दास-प्रथा बाधक भी थी। वास्तव में कुछ औपनिवेशिक शक्तियों ने अपने इलाके बढ़ाने के लिए दास-प्रथा के उन्मूलन का बहाना लेकर अफ्रीकी सरदारों और राजाओं के ख़िलाफ़ युद्ध भी छेड़े। इस बीच अफ्रीका में अंदरूनी क्षेत्रों का खोज कार्य आरंभ हो चुका था और यूरोपीय शक्तियाँ अफ्रीकी महाद्वीप पर एक और ढंग की दासता लादने, अर्थात लगभग पूरे महाद्वीप को विजय करने की तैयारियाँ कर रही थीं।

अफ्रीका के लिए छीना-झपटी

अफ्रीका के अंदरूनी भाग 19 वीं सदी के लगभग मध्य तक यूरोपियों के लिए प्रायः अज्ञात थे। तटीय क्षेत्र मुख्यतः पुर्तगाली, डच , अंग्रेज़ और फ्रांसीसी आदि पुराने व्यापारी राष्ट्रों के हाथों में थे। यहाँ उन्होंने अपने किले बनाए थे। केवल दो जगहें ऐसी थीं जहाँ अंदरूनी भागों में दूर तक यूरोपीय शासन की पैठ थी। उत्तर में फ्रांसीसियों ने अल्जीरिया पर कब्ज़ा कर लिया था। भारत के साथ अपने व्यापार की सुरक्षा के लिए दक्षिण में अंग्रेज़ों ने केप कॉलोनी पर कब्ज़ा कर लिया। यह पहले एक डच उपनिवेश था जहाँ अनेक यूरोपीय और मुख्यतः डच बस गए थे। इन्हें बोअर नाम से जाना जाता है। ये लोग खेती में लगे हुए थे। यह अफ्रीका का अकेला भाग था जहाँ बड़ी संख्या में यूरोपीय लोग बसे थे। परंतु कुछ ही वर्षों के अंदर उपनिवेशों के लिए छीना-झपटी आरंभ हो गई और लगभग पूरा महाद्वीप यूरोपीय शक्तियों के बीच टुकड़ों में बँट गया।

अफ्रीका की विजय में खोजियों, व्यापारियों और धर्मप्रचारकों ने अपनी-अपनी भूमिकाएँ निभाईं। खोजियों ने अफ्रीका के बारे में यूरोपियों की दिलचस्पी जगाई। धर्म प्रचारकों ने इस महाद्वीप को ईसाई मत के संदेश के प्रचार के लिए उपयुक्त स्थान समझा। खोजियों और धर्म प्रचारकों द्वारा पैदा किए गए प्रभाव का व्यापारियों ने जल्द ही उपयोग किया। पश्चिमी सरकारों ने सेनाएँ भेज कर इन सभी हितों को सहारा दिया। इस प्रकार विजय की भूमिका तैयार हो गई।

यूरोपीय शक्तियों को अफ्रीकियों के कड़े विरोध का सामना करना पड़ा और इन उपनिवेशों पर वास्तविक नियंत्रण स्थापित करने में उन्हें लंबा समय लगा फिर भी जिस तेज़ी से यूरोपीय शक्तियों ने इन देशों पर विजय पाई उसका उदाहरण नहीं मिलता। इसके कारणों को समझना आवश्यक है। इसके बाहरी कारणों का कुछ ज़िक्र हम इस

अध्याय के आरंभिक भागों में कर चुके है। साम्राज्यवादी शक्तियों की आर्थिक शक्ति अफ्रीकी राज्यों के आर्थिक संसाधनों से बहुत अधिक थी। इन राज्यों के पास लंबे समय तक लड़ने के लिए पर्याप्त साधन नहीं थे। सैनिक शक्ति की दृष्टि से साम्राज्यवादी देश अफ्रीकी राज्यों से बहुत अधिक शक्तिशाली थे। अफ्रीकियों के पास बंदूकें बहुत पुरानी थीं जो उन्हें यूरोपीय व्यापारियों ने बेची थीं। वे यूरोपियों द्वारा प्रयोग की जा रही नई राइफलों और बंदूकों का मुकाबला नहीं कर सकती थीं। इस श्रेष्ठता को दिखाने के लिए एक अंग्रेज़ कवि की ये पंक्तियाँ प्राय: उद्धृत की जाती हैं:

"हो कुछ भी हो पर है हमारे पास
मैक्सिम बंदूकें जो नहीं उनके पास।''

ये मैक्सिम बंदूकें तेज़ी से मार करने वाली बंदूकें थी जिनका उपयोग कुल्हाड़ों और छुरों से लड़ने वाले अफ्रीकियों के खिलाफ किया जाता था। राजनीतिक दृष्टि से 18 वीं सदी के भारतीय राज्यों की तरह अफ्रीकी राज्यों में भी एकता नहीं थी। राज्यों के बीच तथा एक ही राज्य के अंदर टकराव होते रहते थे और शासक तथा सरदार अपेन विरोधियों के ख़िलाफ़ अक्सर यूरोपियों की सहायता माँगते रहते थे। इन टकरावों के फलस्वरूप अफ्रीकी राज्यों की सीमाएँ प्राय: बदलती रहती थीं। इसके विपरीत अफ्रीका की इस लूट–खसोट में शामिल साम्राज्यवादी देश एकजुट थे। इस लूट-खसोट के कारण उनके बीच कड़ी शत्रुता थी और हर यूरोपीय देश जितनी जल्दी अफ्रीका का जितना बडा हिस्सा संभव हो हथियाने की चिंता में लगा रहता था। अनेकों बार संकट चरम सीमा पर पहुँचा और लूट में शामिल इन देशों में युद्ध की नौबत आई। मगर हर बार वे युद्ध बचा जाते थे और आपस में इसका समझौता कर लेते थे कि अफ्रीका का कौन सा हिस्सा किसे मिलेगा। उदाहरण के लिए पूर्वी अफ्रीका में इंग्लैंड और जर्मनी की शत्रुता का फैसला 1890 में हो गया जब जर्मनी ने इंग्लैंड से हेलिगोलैंड लेकर उसे यूगांडा दे दिया। 1884-85 में बर्लिन में एक सम्मेलन हुआ जिसमें अनेक यूरोपीय राज्यों ने भाग लिया तथा इस पर विचार किया कि वे अफ्रीका को आपस में कैसे बाँटें। इस सम्मेलन में किसी भी अफ्रीकी राज्य का प्रतिनिधि नहीं था। अफ्रीका के क्षेत्रों पर दावों से संबंधित विवाद निपटाने के लिए यूरोपीय शक्तियों ने आपस में संधियाँ कीं। अफ्रीकी सरदारों और शासकों तथा यूरोपीय सरकारों या यूरोपीय कंपनियों के प्रतिनिधियों और व्यक्तियों के बीच भी संधियाँ हुईं जिन्हें बाद में संबंधित सरकारों ने मान्यता दी। ये संधियाँ अक्सर धोखा–धड़ी का नमूना होती थीं। जब ये संधियाँ वास्तविक भी होती थीं तो दूसरे यूरोपीय देशों के सामने उनका ग़लत वर्णन किया जाता था और उनकी ग़लत व्याख्याओं को दूसरे यूरोपीय देश मान्यता दे देते थे। उदाहरण के लिए अगर कोई अफ्रीकी शासक अपने किसी विरोधी के ख़िलाफ़ किसी यूरोपीय देश के साथ संधि करता तो वह यूरोपीय देश दूसरे यूरोपीय देशों की मान्यता पाने के लिए उस संधि की यह व्याख्या करता कि उस अफ्रीकी शासक ने अपने राज्य को उस यूरोपीय देश का "संरक्षित राज्य" (प्रोटेक्टरेट) बनाने के लिए हामी भर दी है। तब इस व्याख्या को दूसरी यूरोपीय शक्तियां स्वीकार कर लेतीं और फिर उनकी तरफ से किसी रोक-टोक के बिना उस राज्य पर कब्जा करने की प्रक्रिया आरंभ हो जाती। इस प्रकार 19 वीं सदी के अंत तक अफ्रीका का बँटवारा लगभग पूरा हो गया। इस स्थिति को आम तौर पर "काग़ज़ी विभाजन" कहा जाता है क्योंकि वास्तविक विभाजन में और भी लंबा समय लगा और इसमे अफ्रीकियों के विरोध को कुचलने के लिए यूरोपीय शक्तियों को अपनी श्रेष्ठतर सैनिक शक्ति का उपयोग करना पड़ा। विभाजन के बाद अफ्रीका के मानचित्र को देखने पर पता चल जाएगा कि यूरोप के कांफ्रेंस–कक्षों में किस प्रकार काग़ज़ पर अफ्रीका महाद्वीप का विभाजन किया गया। अफ्रीका की सीमाओं में लगभग 30 प्रतिशत सीमाएँ सीधी रेखा में हैं।

अगर हम यूरोपीय शक्तियों की अफ्रीका विजय का क्षेत्रों के अनुसार अध्ययन करें तो उसे समझना आसान हो जाएगा। पर याद रहे कि यह विजय उसी क्रम में नहीं हुई जिस क्रम में उसका वर्णन यहाँ किया जा रहा है।

पश्चिमी और मध्य अफ्रीका

1878 में बेल्जियम के सम्राट लियोपोल्ड द्वितीय से वित्तीय सहायता पाकर एच. एम. स्टैनले ने इंटरनेशनल कांगो एसोसिएशन बनाई जिसने अफ्रीकी सरदारों के साथ 400

से अधिक संधियाँ कीं। अफ्रीकी सरदार यह नही जानते थे कि वे काग़ज़ के टुकड़ों पर अपने "चिह्न"लगाकर कपड़ों और ऐसी दूसरी वस्तुओं के बदले अपनी जमीन कांगो ऐसोसिएशन के हवाले कर रहे थे जिनका कोई अधिक मूल्य न था। इन तरीकों से स्टैनले ने बहुत बड़ी-बड़ी ज़मीनें हासिल कर लीं। 1885 में रबर और हाथी दांत से समृद्ध कोई 23 लाख वर्ग किलोमीटर क्षेत्र *"स्वतंत्र कांगो राज्य"* बन गया जिसका शासक लियोपोल्ड था।

स्टैनले ने कांगों (आज का ज़ायरे) के कब्ज़े को "एक अनोखा मानवतावादी और राजनीतिक उद्यम" की संज्ञा दी, पर इसका आरंभ कांगो की जनता के निर्मम शोषण से हुआ। उन्हें रबर और हाथी-दाँत जमा करने को मजबूर किया जाता। कहते हैं कि अकेले लियोपोल्ड ने 2 करोड़ डालर से अधिक का मुनाफ़ा कमाया। कांगो की जनता के साथ इतना बुरा व्यवहार किया गया कि दूसरी औपनिवेशिक शक्तियाँ स्तंभित रह गईं। इस बर्बरता का उदाहरण देखिए – स्वतंत्र कांगो राज्य के सैनिकों ने आज्ञा न मानने वाले देहातियों के हाथ काट डाले और उन्हें यादगार के रूप में अपने साथ ले गए। 1908 में लियोपोल्ड को मजबूर किया गया कि वह स्वतंत्र कांगो राज्य को बेल्जियम की सरकार के हवाले कर दे। उसके बाद उसे बेल्जियन कांगो कहा जाने लगा।

कांगो के रबर और हाथी-दाँत के मुकाबले सोना, हीरे, यूरेनियम, इमारती लकड़ी और ताँबा धीरे-धीरे अधिक महत्वपूर्ण हो गए। इन संसाधनों के दोहन के लिए इंग्लैंड और संयुक्त राज्य समेत अनेक दूसरे देश भी बेल्जियम के साथ हो गए। कटांगा (आज का शबा) प्रांत के ताँबा-संसाधनों पर नियंत्रण करने वाली कंपनी दुनिया की सबसे बड़ी ताँबा कंपनियों में से एक थी। इस कंपनी ने, जिसके मालिक अंग्रेज़ और बेल्जियन थे, कांगो के राजनीतिक मामलों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

पश्चिमी अफ्रीका की दूसरी सबसे बड़ी नदी नाइजर है। नाइजर पर नियंत्रण का अर्थ है संसाधनों से भरपूर इस क्षेत्र का नियंत्रण। कभी अंग्रेज़ों ने अमरीका के बागानों के लिए दासों के निर्यात की ख़ातिर इस क्षेत्र, नाइजीरिया, के एक भाग पर कब्जा कर लिया था। नाइजीरिया की विजय में पहल एक ब्रिटिश कंपनी ने की। एक समय तक एक फ़्रांसीसी कंपनी से उसकी तीखी शत्रुता चलती रही पर अंत में ब्रिटिश कंपनी फ़्रांसीसियों को बाहर निकालकर नाइजीरिया का शासक बनने में सफल रही। कुछ वर्षो बाद ब्रिटिश सरकार ने नाइजीरिया को ब्रिटेन का संरक्षित राज्य (प्रोटेक्टरेट) घोषित कर दिया। पश्चिमी *अफ्रीका में गांबिया, अशांती, गोल्ड कोस्ट और* सियरा लियोन पर भी ब्रिटेन ने कब्ज़ा किया ।

स्टैनले जब कांगो में सम्राट लियोपोल्ड के लिए साम्राज्य खड़े कर रहा था, तब 'द ब्राज़्ज़ा' नामक एक फ़्रांसीसी कांगो नदी के उत्तर में सक्रिय था। स्टैनले की तरकीबें अपनाकर 'द ब्राज़्ज़ा' ने इस क्षेत्र को फ़्रांस के लिए हथिया लिया। यह क्षेत्र अभी हाल तक फ्रेंच कांगो कहा जाता था और उसकी राजधानी का नाम द ब्राज़्ज़ा के नाम पर ब्राज़्ज़ा विल था। फ़्रांस अफ्रीका के पश्चिमी तट पर स्थित सेनेगल पर पहले ही कब्ज़ा कर चुका था। अब उसने पश्चिमी अफ्रीका में अपने साम्राज्य के विस्तार के प्रयास आरंभ कर दिए। जल्द ही उसके हाथ दहोमी (आज का बेनिन), आइवरी कोस्ट तथा फ्रेंच गिनी भी लग गए। 1900 तक फ़्रांस का साम्राज्य
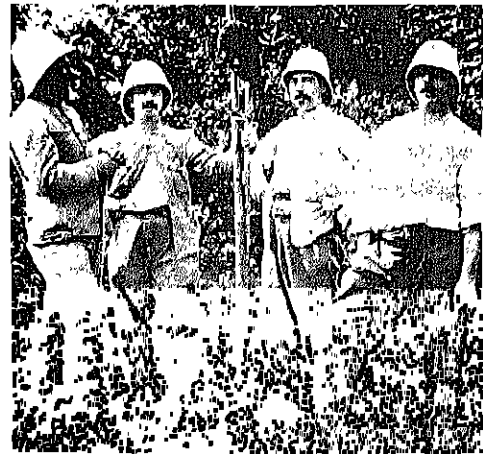
बीसवी सदी के आरंभिक वर्षो में आइवरी कोस्ट में फ़्रांसीसियों के अधिकार के प्रतिरोध को दबाने के दौरान फ़्रांसीसी सैनिक अफ्रीकियों को मारकर उनके सिर दिखा रहे हैं।

अफ्रीका के अंदरूनी भागों में और भी दूर तक फैल चुका था। 1900 के बाद पश्चिमी अफ्रीका के और भी क्षेत्रों पर उसे विजय मिली। अब फ्रांसीसी पश्चिमी अफ्रीका में सेनेगल, फ्रेंच गिनी, आइवरी कोस्ट, दहोमी, मारेतानिया, फ्रेंच-सूडान, अपर वोल्टा (आज का बुर्कीना फासो) और नाइजर टेरीटरी शामिल थे। फ्रांसीसियों की विजय के बाद अफ्रीका में जनता का हर जगह निर्मम शोषण आरंभ हो गया। उदाहरण के लिए, केवल 20 वर्षों में ही फ्रेंच कांगो की आबादी घटकर पहले की तुलना में एक तिहाई रह गई।

1880 के बाद अफ्रीका में इलाके जीतने में जर्मनी की दिलचस्पी भी जागी। पहले उसने पश्चिमी तट पर टोगोलैंड नामक इलाके पर कब्जा किया, फिर जल्द ही इसके कुछ दक्षिण स्थित कैमेरून पर, फिर इससे भी दक्षिण में दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका पर जर्मनी का कब्ज़ा हो गया। यहाँ स्थानीय विद्रोहियों को कुचलने के लिए आधी से अधिक जनता का सफ़ाया कर दिया गया। पर इन विजयों से जर्मनी की तसल्ली नहीं हुई। वह अंगोला और मोज़ाम्बिक के पुर्तगाली उपनिवेशों तथा कांगो पर भी कब्ज़ा करना चाहता था। प्रथम विश्वयुद्ध के छिड़ने से पहले, इंग्लैंड तथा जर्मनी ने अंगोला और मोज़ाम्बिक को आपस में बाँटने का फैसला किया, पर विश्वयुद्ध छिड़ने पर जर्मनी के सपने चूर-चूर हो गए। युद्ध के बाद जर्मन उपनिवेश विजेता शक्तियों को दे दिए गए। टोगोलैंड और कैमेरून फ्रांस और इंग्लैंड के बीच बंट गए और जर्मन दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका, दक्षिण अफ्रीका को दिया गया।
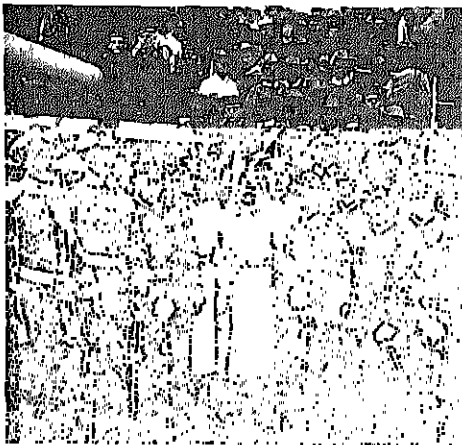
1904 में जर्मनी द्वारा दक्षिण-पश्चिमी अफ्रीका (नामीबिया) पर कब्ज़ा करने के ख़िलाफ़ विद्रोह भड़क उठा। जर्मन फौजें उस विद्रोह को कुचलने जा रही हैं।

अफ्रीका के पश्चिमी तट पर स्पेन के केवल दो उपनिवेश थे-ये थे रियो द ओरो (स्पेनी सहारा) और स्पेनी गिनी। पुर्तगाल के पास अंगोला तथा पुर्तगाली गिनी जैसे समृद्ध क्षेत्र थे। इस तरह लाइबेरिया को छोड़कर पूरा पश्चिमी अफ्रीका यूरोपीय शक्तियों के बीच बँट चुका था। लाइबेरिया में वे दास बसे थे जो अमरीका में मुक्त कर दिए गए थे। हालाँकि यह देश स्वतंत्र था, पर उस पर प्रभाव संयुक्त राज्य का और ख़ासकर रबर के बागानों में पूँजी लगाने वाले अमरीकियों का था।

दक्षिण अफ्रीका

दक्षिणी अफ्रीका में केप कॉलोनी डचों की बसाई हुई थी, पर 19 वीं सदी के आरंभ में वह अंग्रेज़ों के कब्ज़े में आ गई। फिर बोअर नाम से जाने जाने वाले डच बाशिंदे उत्तर की ओर चले गए और उन्होंने दो राज्यों, आरेंज फ्री स्टेट और ट्रांसवाल की स्थापना की। 1850 तक इन दोनों राज्यों पर बोअरों का शासन था। सीसल रोड्स नामक एक अंग्रेज़ दुस्साहसी 1870 में दक्षिण अफ्रीका आया। इस क्षेत्र के हीरे और सोने के व्यापार से उसने बहुत धन कमाया। उसके नाम पर अफ्रीका के एक उपनिवेश का नाम रोडेशिया पड़ा। (उत्तरी रोडेशिया अब स्वतंत्र है और जांबिया कहलाता है। दक्षिणी रोडेशिया जो आज का जिम्बाबवे है, अप्रैल 1980 में स्वतंत्र हुआ।) रोड्स आजकल "रोड्स छात्रवृत्ति" का आरंभ करने वाले एक महान दानी के रूप में प्रख्यात है, पर वह सबसे पहले एक मुनाफ़ाख़ोर और साम्राज्य-निर्माता था। उसका कहना था कि "शुद्ध दानी होना अपनी जगह बहुत अच्छी बात है पर दान के साथ पाँच प्रतिशत मुनाफ़ा हो, वह उससे और भी अच्छी बात है।" रोड्स का सपना पूरी दुनिया में ब्रिटिश साम्राज्य का प्रसार करना था और अफ्रीका में ब्रिटिश शासन को फैलाने में वह निश्चित ही सफल रहा। अंग्रेज़ों ने बेचुआनालैंड और रोडेशिया, स्वाज़ीलैंड और बसुतोलैंड पर कब्ज़ा कर लिया। उन्होंने

सोने के भंडारों से समृद्ध ट्रांसवाल की बोअर सरकार को उखाड़ फेंकने का षड़यंत्र किया। इसका फल 1899-1902 का बोअर युद्ध था जिसमें बोअरों की हार हुई हालाँकि वे वहीं बने रहे।

इसके कुछ ही समय बाद दक्षिण अफ्रीका संघ की स्थापना की गई। इसमें केप, नटाल, ट्रांसवाल और आरेंज रिवर कॉलोनी शामिल थे। इस संघ पर अल्पमत गोरों का शासन था, जिसमें बोअर, अंग्रेज़ तथा दूसरे यूरोपीय देशों से आकर बसे कुछ लोग शामिल थे। दक्षिण अफ्रीका की सरकार ने बाद में स्वयं को गणतंत्र घोषित किया।

पूर्वी अफ्रीका

मोज़ांबिक के एक भाग पर पुर्तगाली अधिकार को छोड़कर 1884 तक पूर्वी अफ्रीका पर किसी यूरोपीय शक्ति का कोई अधिकार न था। उस वर्ष कार्ल पीटर्स नाम का एक जर्मन दुस्साहसी तटीय क्षेत्रों में आया। रिश्वतों और धमकियों का सहारा लेकर उसने कुछ शासकों को मना लिया कि वे अपने को जर्मनी के संरक्षण में जाने के समझौते कर लें। चूँकि इस क्षेत्र पर फ्रांस और इंग्लैंड की निगाहें भी थीं इसलिए एक समझौता किया गया जिसके अनुसार मेडागास्कर फ्रांस को मिल गया तथा पूर्वी अफ्रीका इंग्लैंड और जर्मनी के बीच बँट गया। ज़ंज़ीबार का शासक भी पूर्वी अफ्रीका का दावेदार था। उसे 1600 किलोमीटर लंबी और 16 किलोमीटर चौड़ी एक पट्टी दे दी गई। फिर इस पट्टी के उत्तरी भाग का पुनर्गठन करके उसे ब्रिटिश प्रभाव क्षेत्र बना दिया गया और दक्षिणी भाग-टांगानिका- को जर्मनी का प्रभाव क्षेत्र बना दिया गया। बाद में इन क्षेत्रों पर ब्रिटेन और जर्मनी ने कब्ज़ा कर लिया परंतु चूँकि जर्मनी ने अफ्रीकियों की ज़मीन बिना कोई रकम दिए ही ले ली थी, इसलिए वे बार-बार विद्रोह के लिए उठ खड़े हुए। इस जर्मन उपनिवेश में 1905 में हुए एक विद्रोह में एक लाख बीस हज़ार अफ्रीकी मारे गए। 1890 में जर्मनी और इंग्लैंड के बीच एक समझौता हुआ जिसके अनुसार युगांडा इंग्लैंड के लिए "आरक्षित" हो गया। जर्मनी को बदले में हेलिगोलैंड मिला। 1896 में युगांडा को ब्रिटेन का संरक्षित राज्य (प्रोटेक्टरेट) घोषित कर दिया गया। जर्मनी ने भी ज़ंज़ीबार और पेंबा द्वीपसमूह पर तथा विटू और न्यासालैंड (आज का मलावी) पर अपना दावा छोड़ दिया, पर अंदरूनी भागों में उसने और नए क्षेत्र जीते। मोज़ांबिक के पुर्तगाली उपनिवेश को भी जर्मनी और इंग्लैंड के बीच बाँटा जाना था, पर प्रथम विश्व युद्ध के कारण यह योजना खटाई में पड़ गई और जर्मनी से उसके सारे उपनिवेश छिन गए। युद्ध के बाद जर्मन पूर्वी अफ्रीका इंग्लैंड को दे दिया गया और तब इसका नाम फिर से टांगानिका पड़ा। (टांगानिका और ज़ंज़ीबार अब मिलकर तंज़ानिया गणराज्य बन चुके हैं।) ब्रिटिश पूर्वी अफ्रीका का नाम केनिया रखा गया। रूआंडा-उरूंडी का जर्मन उपनिवेश बेल्जियम को दे दिया गया।

उपनिवेशों की दौड़ में जर्मनी की तरह इटली भी देर से शामिल हुआ। इतालवियों ने दो रेगिस्तानी क्षेत्रों पर कब्ज़ा कर लिया। ये थे सोमालीलैंड और एरिट्रिया जो "अफ्रीका का सींग" के नाम से विख्यात क्षेत्र में है। अबीसीनिया, जो आज इथियोपिया कहलाता है, एक स्वतंत्र राज्य था। इटली अबीसीनिया को अपना संरक्षित क्षेत्र घोषित करना और उस पर आक्रमण करना चाहता था। अबीसीनिया के राजा ने इटली के दावे को नामंजूर कर दिया और 1896 में उसने इटली की आक्रमणकारी सेना को हराया। दूसरे अफ्रीकी राज्यों के विपरीत अबीसीनिया फ्रांस से हथियार प्राप्त करने में सफल रहा था। यह ऐतिहासिक युद्ध जिसमें एक अफ्रीकी राज्य ने एक यूरोपीय राज्य की सेना को हराया था, अदोवा का युद्ध कहलाता है। इतालवियों को पीछे हटना पड़ा। 1935 में द्वितीय विश्वयुद्ध से पहले इटली ने अबीसीनिया को जीतने की एक कोशिश और की। इस काल में कुछ वर्षों को छोड़कर एरिट्रिया के अलावा शेष इथियोपिया अपनी स्वतंत्रता बनाए रखने में सफल रहा।

उत्तरी अफ्रीका

सन् 1830 में फ्रांस ने अफ्रीका के उत्तरी तट पर स्थित अल्जीरिया पर कब्ज़ा कर लिया, पर फ्रांसीसी कब्ज़े के खिलाफ अल्जीरियाई प्रतिरोध को कुचलने में उसे लगभग 40 साल लगे। यह फ्रांस का सबसे मुनाफेवाला उपनिवेश था जो फ्रांसीसी माल के लिए बहुत बड़ा बाज़ार उपलब्ध कराता था। अल्जीरिया के पूर्व में ट्यूनीशिया है जिस पर फ्रांस, इंग्लैंड और इटली की नज़रें गड़ी हुई थीं। 1878

सन् 1914 में अफ्रीका में साम्राज्यवाद का प्रभुत्व
अटलांटिक महासागर
मोरक्को (स्पेनी)
मोरक्को
अल्जीरिया
ट्यूनिशिया
भूमध्य सागर
त्रिपोली
लिबिया
स्वेज नहर
रियो-डि-ओरो
फ्रांसीसी पश्चिमी अफ्रीका
मिस्र
लाल सागर
एरीट्रिया
फ्रांसीसी सोमालीलैंड
ब्रिटिश सोमालीलैंड
आदिस अबाबा
इथियोपिया
सोमालीलैंड
सेनेगल नदी
सेनेगल
गाम्बिया
पुर्तगाली गिनी
फ्रांसीसी गिनी
आइवरी कोस्ट
लाइबेरिया
गोल्ड कोस्ट
टोगो
नाइजीरिया
कैमरून
ब्रिटिश पूर्वी अफ्रीका
जर्मन पूर्वी अफ्रीका
दार-एस-सलाम
हिन्द महासागर
ब्राजाविल
केबिंडा
लियोपोल्डविल
अंगोला
उत्तरी रोडेशिया
मोजाम्बिक
मेडागास्कर
दक्षिणी रोडेशिया
दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका
बेचुआनालैंड
प्रिटोरिया
स्वाज़ीलैंड
दक्षिण अफ्रीका
बसुतोलैंड
फ्रांसीसी
ब्रिटिश
इतालवी
जर्मन
बेल्जियन
पुर्तगाली
स्पेनी

के एक समझौते के अनुसार इंग्लैंड ने साइप्रस द्वीप पर ब्रिटिश कब्ज़े के बदले में ट्यूनीशिया को फ्रांस के लिए मुक्त छोड़ दिया । कुछ वर्षों के बाद ट्यूनीशिया फ्रांस का उपनिवेश बन गया।

अफ्रीका के उत्तरी तट पर जिब्राल्टर के ठीक दक्षिण में मोरक्को नामक देश स्थित है। इसलिए यह भूमध्य सागर पश्चिमी प्रवेश के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। फ्रांस और इटली दोनों इस पर कब्ज़े के दावे कर रहे थे। 1900 में इन दोनो ने समझौता किया। मोरक्को पर फ्रांस और ट्यूनीशिया के पूर्व में स्थित त्रिपोली तथा सायरेनायका पर इटली का कब्ज़ा मान लिया गया। 1904 के एक समझौते के अनुसार मोरक्को फ्रांस को और मिस्र इंग्लैंड को मिल गया। इन समझौतों पर हस्ताक्षर के बाद फ्रांस मोरक्को की विजय के लिए तैयारियाँ करने लगा।

उत्तरी अफ्रीका के बँटवारे के लिए जब इंग्लैंड, फ्रांस और इटली समझौते कर रहे थे, तब जर्मनी को अनदेखा कर दिया गया था। उसने फ्रांसीसी कब्ज़े का विरोध करने की धमकी दी। मोरक्को पर फ्रांसीसी कब्ज़े के बदले स्पेन को टेंजीयर देने का वादा किया गया था। इसलिए उत्तरी अफ्रीका में जर्मनी की महत्वाकांक्षाओं को संतुष्ट करना आवश्यक हो गया। अनेक अंतर्राष्ट्रीय संकट उभरे और ऐसा लगा कि युद्ध होकर रहेगा। जर्मन विदेश मंत्री ने कहा, "आपने स्पेन, इंग्लैंड तथा यहाँ तक कि इटली से भी मोरक्को पर अपना अधिकार खरीद लिया है और आपने हमें किनारे कर दिया है।" परंतु दूसरे मामलों की तरह मोरक्को पर किसका कब्ज़ा हो, इसका फैसला भी यूरोप में किया गया। मोरक्को की जनता से कोई पूछने तक नहीं गया। अंत में फ्रांस ने फ्रेंच कांगो का ढाई लाख वर्ग किलोमीटर क्षेत्र जर्मनी को देने की बात मान ली। मोरक्को का एक छोटा सा भाग स्पेन को देकर उसे और भी संतुष्ट कर दिया गया। 1912 में फ्रांस ने मोरक्को को संरक्षित राज्य बना लिया फिर भी प्रथम विश्वयद्ध के बाद फ्रांस को अनेक वर्ष वहाँ के विद्रोहों को कुचलने में लगे।

जैसाकि आपने अध्ययन किया है, त्रिपोली तथा सायरेनायका पर इटली के दावे को यूरोपीय राष्ट्रों का समर्थन मिल गया था। वे दोनों तुर्क साम्राज्य के क्षेत्र थे। अब इटली ने तुर्की के साथ युद्ध छेड़ दिया और इन दोनों प्रांतों पर कब्ज़ा कर लिया। इन्हें फिर से लिबिया नाम दे दिया गया जो इनका पुराना रोमन नाम था।

19 वीं सदी में जब उपनिवेशों के लिए भाग-दौड़ आरंभ हुई तब मिस्र तुर्क साम्राज्य का एक प्रांत था। इस पर तुर्की के सुल्तान का एक प्रतिनिधि शासन करता था जिसे पाशा कहा जाता था। नेपोलियन के समय से ही फ्रांस मिस्र में दिलचस्पी ले रहा था। मिस्र के सूबेदार इस्माइल पाशा से एक फ्रांसीसी कंपनी ने स्वेज की स्थलसंधि (इस्थमस)के आर-पार एक नहर बनाने की अनुमति प्राप्त कर ली थी। यह नहर 1869 में पूरी हुई। अब इस देश में ब्रिटेन की दिलचस्पी भी जागी। भारत का रास्ता सुरक्षित रखने के लिए ब्रिटिश प्रधानमंत्री डिज़रेली ने पाशा से नहर के बहुत शेयर खरीद लिए। इस नहर को डिज़रेली ने "हमारे भारतीय साम्राज्य का महामार्ग" कहा था।

पाशा की वित्तीय कठिनाइयों के कारण मिस्र में ब्रिटेन और फ्रांस का संयुक्त नियंत्रण और भी बढ़ गया। जब पाशा ने प्रतिरोध की कोशिश की तो उसे पद छोड़ने के लिए मजबूर किया गया और एक नया सूबेदार नियुक्त हुआ। 1882 में आंग्ल-फ्रांसीसी नियंत्रण के खिलाफ एक विद्रोह हुआ और इस विद्रोह को कुचलने की प्रक्रिया में ब्रिटिश सेनाओं ने मिस्र को जीत लिया। कानून और व्यवस्था की बहाली और स्वेज़ नहर की सुरक्षा को मिस्र में सैनिक हस्तक्षेप का कारण बताया गया। इंग्लैंड ने घोषणा की कि व्यवस्था के पुनर्स्थापित होते ही वह अपनी सेनाएँ वापस बुला लेगा। विद्रोह के कुचले जाने के बाद मिस्र पर ब्रिटेन का नियंत्रण हो गया । 1914 में प्रथम विश्व युद्ध के आरंभ होने पर इंग्लैंड ने घोषणा की कि मिस्र अब तुर्की का प्रांत न होकर ब्रिटेन का संरक्षित राज्य है। इस ब्रिटिश विजय को मिस्र वालों ने कभी स्वीकार नहीं किया। युद्ध के समाप्त होने के बाद मिस्र के नेता मिस्र का मामला सामने रखने के लिए पेरिस शांति सम्मेलन के लिए चले, पर उन्हें गिरफ्तार कर लिया गया। 1922 में ब्रिटेन का स्वेज़ नहर पर नियंत्रण बना रहा और दूसरे अधिकार भी बने रहे पर उसे बाध्य होकर मिस्र को एक स्वतंत्र प्रभुतासंपन्न राज्य मानना पड़ा।

सूडान का, जिसे मिस्री सूडान कहा जाता था, शोषण

1906 में स्फिंक्स के साथ खड़ी ब्रिटिश फौज़, स्फिंक्स मिस्र के प्राचीन स्मारक हैं।

मिस्र और ब्रिटेन मिलकर करते थे। एक सूडानी नेता, जिसने खुद को "मेहदी" घोषित किया था, 1880 के बाद के दशक में सूडान से मिस्री और ब्रिटिश नियंत्रण समाप्त करने में सफल रहा। उसकी सेना ने मिस्र और ब्रिटेन की सेनाओं को हराया। 1898 में एक लंबी और ख़ूनी लड़ाई के बाद ब्रिटिश और मिस्री सेनाएँ फिर से सूडान पर कब्ज़ा करने में सफल हो गई। इस युद्ध में मेहदी के उत्तराधिकारी समेत 20,000 सूडानी मारे गए। सूडान पर ब्रिटेन का शासन हो गया। इस समय फ़्रांसीसियों ने सूडान के दक्षिणी भागों पर कब्ज़ा करने की कोशिश की, परंतु अंग्रेज़ों ने उन्हें पीछे हटने पर मजबूर कर दिया। फिर भी फ़्रांस को तथाकथित पश्चिमी सूडान और सहारा में अपना नियंत्रण बढ़ाने की छूट दे दी गई। एक लंबे युद्ध के बाद फ़्रांस ने इन क्षेत्रों पर कब्ज़ा कर लिया। इन उपलब्धियों के बाद फ़्रांस अपने भूमध्यरैखिक क्षेत्रों को उत्तरी और पश्चिमी अफ़्रीका में स्थित अपने क्षेत्रों से जोड़ने में सफल हो गया।

अमरीकी महाद्वीप और प्रशांत

स्पेन, पुर्तगाल, ब्रिटेन, फ़्रांस और दूसरे यूरोपीय देशों द्वारा दोनों अमरीकी महाद्वीपों का उपनिवेशीकरण 16वीं सदी में शुरू हुआ और एक स्वतंत्र राज्य के रूप में संयुक्त राज्य अमरीका 1976 में उभर कर आया। दक्षिणी अमरीका के कुछ देशों और कैरीबियन में स्वतंत्रता आंदोलन हुए। 19 वीं सदी के तीसरे दशक तक अमरीकी महाद्वीपों के लगभग सारे देश स्पेन और पुर्तगाल से स्वतंत्र हो चुके थे। फिर यूरोपीय देशों के कुछे उपनिवेश ही दुनिया के इस भाग में रह गए थे। इन में थे - क्यूबा और प्यूरटो रिको-जिन पर अभी भी स्पेन का ही शासन था।

19 वीं सदी में संयुक्त राज्य अमरीका महाद्वीपों में सबसे बड़ी शक्ति बनकर उभरा। मेक्सिको से युद्ध करके और फ़्रांस, स्पेन तथा रूस से क्रमशः लुइसियाना, फ़्लोरिडा और अलास्का को ख़रीदकर उसने अपने क्षेत्र का विस्तार कर लिया था। 1861-65 के गृहयुद्ध के, जिसके परिणाम स्वरूप दासप्रथा समाप्त हो गई थी, कुछ ही समय बाद संयुक्त राज्य दुनिया की एक प्रमुख औद्योगिक और सैनिक शक्ति बनकर उभरा। 1900 में उसकी नौसैनिक शक्ति दुनिया में तीसरे नंबर की थी। जिन शक्तियों ने यूरोप और फिर जापान में साम्राज्यवाद को जन्म दिया था, उन्हीं के कारण संयुक्त राज्य उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में एक प्रमुख साम्राज्यवादी शक्ति बनकर उभरा। अफ़ीम युद्ध के बाद चीन पर कुछ यूरोपीय देशों ने जो संधियाँ लादी थीं, उन्हीं की तर्ज़ पर संयुक्त राज्य ने भी 1844 में चीन से एक संधि की। आप इसके बारे में पहले ही पढ़ चुकें हैं। 1853 में कमोडोर पेरी ने जापान के साथ जिस तरह बल प्रयोग किया, आप उसके बारे में भी पढ़ चुके हैं। स्पेन के साथ युद्ध के बाद फिलीपीन्स संयुक्त राज्य का उपनिवेश बन गया था। संयुक्त

राज्य ने स्पेन से प्यूरटो रिको और प्रशांत महासागर में स्थित गुआम भी ले लिया था। क्यूबा नाम भर को स्वतंत्र था पर वास्तव में अमरीका का अनुगामी बन गया।

जब उपनिवेशों के लिए छीना-झपटी शुरू हुई तो संयुक्त राज्य के नेताओं ने भी घोषणा की कि "उसे भी इस अभियान से बाहर नहीं रहना चाहिए।" यूरोप के साम्राज्यवादी देशों की तरह उसने भी घोषणा की कि उसे भी पिछड़े देशों को "सभ्य बनाने" का और निश्चय ही अपने बाजारों तथा अपनी पूँजी की सुरक्षा के लिए दूसरे देशों के मामलों में दखल देने के अधिकार हैं।

1890 के दशक से 20 वीं सदी के आरंभिक वर्षो तक के काल में संयुक्त राज्य ने दक्षिणी अमरीका और प्रशांत क्षेत्र पर अपना प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष नियंत्रण स्थापित कर लिया। 1823 में अमरीकी राष्ट्रपति ने अपना मनरो-सिद्धांत सामने रखा था जिसमें यूरोपीय देशों को चेतावनी दी गई थी कि वे पश्चिमी गोलार्द्ध में अपनी शक्ति बढ़ाने का प्रयास न करें। 1895 में मनरो-सिद्धांत को एक नया अर्थ दिया गया। ब्रिटिश गायना (अब गायना) और निकारागुआ के बीच सीमाई क्षेत्रों को लेकर झगड़ा था तथा अंग्रेज़ों ने अपनी फौजें निकारागुआ के ख़िलाफ़ भेजने की धमकी दी थी। अमरीकी सरकार ने ब्रिटेन को फौज न भेजने के लिए मजबूर किया और घोषणा की कि "संयुक्त राज्य इस महाद्वीप में व्यावहारिक रूप से सर्वप्रभुता संपन्न है।" अमरीकी राष्ट्रपति थियोडोर रूज़वेल्ट ने 1904 में मनरो-सिद्धांत में एक नई उपधारा जोड़ी। ब्रिटेन और जर्मनी ने वेनेज़ुएला के ख़िलाफ़ नौसैनिक नाकाबंदी कर रखी थी, क्योंकि वह उनसे लिया गया कर्ज़ नहीं चुका सका था। थियोडोर रूज़वेल्ट ने ब्रिटेन और जर्मनी को नाकाबंदी उठाने के लिए बाध्य किया और घोषणा की कि अगर संयुक्त राज्य के पड़ोसी देश अपने बल पर व्यवस्था कायम नहीं रख सकते तो केवल उसे ही उनके मामलों में दख़ल देने का अधिकार है। संयुक्त राज्य ने डोमिनिकन गणराज्य की वित्त-व्यवस्था अपने हाथों में ले ली और तीन दशक तक उस पर नियंत्रण करता रहा। उसने उस देश पर 1916 में आठ वर्षो तक कब्ज़ा भी किए रखा। 1906 में अमरीकी फ़ौजें क्यूबा भेजी गई और वह क्यूबा को अव्यवस्था से "सुरक्षित" रखने के लिए तीन वर्षो तक वहाँ रहीं। 1909 में एक अमरीकी खदान कंपनी द्वारा भड़काए गऐ एक विद्रोह के समर्थन में अमरीकी सेनाएँ निकारागुआ भेजी गईं। वहाँ जो सरकार स्थापित की गई उससे वहाँ अमरीकी हितों की रक्षा के लिए संयुक्त राज्य ने हस्तक्षेप करने का अधिकार भी ले लिया। 1915 में अमरीकी फ़ौजें हाइती भेजी गई जो 1934 तक वहाँ रहीं। मेक्सिको में जहाँ अमरीका की भारी पूँजी लगी थी, उसके समर्थन से एक लोकप्रिय नेता फ़्रांसिस्को मादेरो को सत्ता से हटा दिया। मेक्सिको में संयुक्त राज्य का हस्तक्षेप अनेक वर्षों तक चलता रहा।

संयुक्त राज्य की इस नीति को 'बड़ा डंडा' और "अंतर्राष्ट्रीय पुलिस मैन" की नीति कहा गया है। इस क्षेत्र में आर्थिक निवेश के द्वारा संयुक्त राज्य का प्रभाव बढ़ाने की नीति को "डालर कूटनीति" कहा गया है। दक्षिण अमरीका पर आर्थिक और राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने में इस बात से भी मदद मिली कि इन देशों में मज़बूत सरकारें नहीं थीं। इनमें अनेक देशों पर 'कौडिलो' नाम से जाने जाने वाले भोंडे और भ्रष्ट सैनिक शासकों का राज था जिनके पास हथियारबंद गिरोह होते थे। उन्होंने नकद धन पाने के लिए ऋण-पत्र जारी किए, पैसा लेकर विदेशी कंपनियों को अनुमति दी कि वे इन देशों के प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के लिए धन लगाएँ। उन्होंने औद्योगिक देशों, खासकर संयुक्त राज्य के कारख़ानों के माल के लिए बाज़ार तथा उनके लिए कच्चे मालों के स्रोत भी जुटाए तथा इन देशों को पूँजी लगाने के लिए अवसर दिए। दक्षिण अमरीका के अधिकांश देश राजनीतिक रूप से स्वाधीन होते हुए भी संयुक्त राज्य के आर्थिक-राजनीतिक नियंत्रण में आ गए।

पनामा नहर इस काल में संयुक्त राज्य की एक महत्वपूर्ण उपलब्धि थी। क़ोलंबिया (मध्य अमरीका) में पनामा स्थल-संधि (इस्थमस) के आर-पार एक फ़्रांसीसी कंपनी ने एक नहर का निर्माण आरंभ किया था। अटलांटिक और प्रशांत महासागरों को जोड़ने वाली इस नहर का बहुत अधिक आर्थिक महत्व था। 1901 में संयुक्त राज्य ने अकेले ही इस नहर को बनाने का फैसला किया। उसने फ़्रांसीसी कंपनी को 4 करोड़ डालर दिए और कोलंबिया की सरकार के साथ एक समझौता किया। इस

समझौते के अनुसार कोलंबिया को एक करोड़ डालर और साथ में ढाई लाख डालर सालाना किराए के बदले अमरीका को 6 मील चौड़े नहर-क्षेत्र पर स्थायी अधिकार सौंपना था। यह समझौता पूरी तरह कोलंबिया के हितों के विपरीत था और कोलंबिया की संसद ने इसे अनुमोदित करने से इन्कार कर दिया। 1903 में संयुक्त राज्य ने वित्तीय और दूसरी सहायता देकर पनामा में एक क्रांति करा दी और अपनी फ़ौजें वहाँ भेज दीं। इसके फौरन बाद संयुक्त राज्य ने पनामा को एक स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में मान्यता दे दी। पनामा की सरकार ने संयुक्त राज्य के साथ एक नया समझौता किया, जिस के अनुसार हर्जाने की रकम तो वही रही परंतु 6 मील चौड़े नहर-क्षेत्र की जगह 10 मील चौड़ा नहर-क्षेत्र संयुक्त राज्य के हवाले किया गया। यह नहर 1914 में खोली गई। नहर-क्षेत्र तब से अब तक संयुक्त राज्य के कब्ज़े में है।

इस काल में संयुक्त राज्य ने प्रशांत क्षेत्र में भी अपना नियंत्रण बढ़ाया। अमरीकी जहाज़रानी और चीन के साथ व्यापार के लिए हवाई द्वीपसमूह का बहुत महत्व था। इन द्वीपों में संयुक्त राज्य का आर्थिक और व्यापारिक प्रभाव धीरे-धीरे बढ़ता गया और वहाँ अमरीकियों के गन्ने की बड़े पैमाने पर खेती करने के लिए बस जाने से ये द्वीप संयुक्त राज्य की अर्थव्यवस्था के साथ घनिष्ठ रूप से जुड़ गए। एक नौसैनिक स्टेशन के रूप में पर्ल हार्बर का उपयोग करने का एकाधिकार संयुक्त राज्य ने पा लिया। 1893 में हवाई की महारानी के ख़िलाफ़ वहाँ बसे अमरीकियों ने विद्रोह कर दिया तथा इन द्वीपसमूहों को अमरीका में मिलाने की माँग की। 1899 तक संयुक्त राज्य हवाई पर अपना कब्ज़ा कर चुका था। बाद में यह संयुक्त राज्य अमरीका का एक राज्य बन गया।

संयुक्त राज्य ने प्रशांत के दूसरे द्वीपों पर भी अपना नियंत्रण फैलाया। समोअन द्वीपसमूह को लेकर संयुक्त राज्य, ब्रिटेन और जर्मनी के बीच शत्रुता चल रही थी। 1898 में इन द्वीपों को जर्मनी और संयुक्त राज्य ने आपस में बाँट लिया और ब्रिटेन को 'हर्जाना' के रूप में प्रशांत में दूसरे द्वीप समूह दिए गए।

1911 में फ्रांसिस्को मेडेरो के सत्ता में आने के पहले, लगभग तीस वर्षों से मैक्सिको की सत्ता पोरफेरियो डियाज़ के हाथ में थी। यह व्यंग्य चित्र प्रसिद्ध मैक्सिकन चित्रकार सिक्वेराज़ ने बनाया है जिसमें दिखाया गया है कि डियाज़ संविधान अपने पैरो के नीचे दबा कर बैठा है

साम्राज्यवाद के प्रभाव

दुनिया के लगभग सभी गैर-औद्योगिक भाग 1914 तक कुछेक औद्योगिक देशों के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष नियंत्रण में आ चुके थे। एशिया और अफ्रीका के लगभग सभी देशों की राजनीतिक स्वतंत्रता समाप्त हो चुकी थी और उन पर किसी न किसी साम्राज्यवादी देश का शासन था। इन सभी देशों की तथा राजनीतिक रूप से स्वतंत्र देशों की भी

अर्थव्यवस्थाओं का नियंत्रण कुछ साम्राज्यवादी देश अपने हित में कर रहे थे। दुनिया के सभी भाग एक ही विश्व आर्थिक व्यवस्था के अंतर्गत आ गए जो उपनिवेशों के शोषण पर आधारित थी। 1945 के बाद से अधिकांश एशियाई और अफ्रीकी उपनिवेश स्वतंत्र और स्वाधीन हो चुके हैं। इसके बारे में विस्तार से आप आगे पढ़ेंगें। पंरतु इन देशों की जनता के जीवन पर साम्राज्यवाद के प्रभाव आज भी स्पष्ट हैं।

उपनिवेशों और साम्राज्यवादी देशों द्वारा अप्रत्यक्ष रूप से नियंत्रित देशों का आर्थिक पिछड़ापन साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद का सबसे महत्वपूर्ण और स्थाई परिणाम है। साम्राज्यवाद के कारण इन देशों के स्थानीय उद्योग नष्ट हो गए। उदाहरण के लिए, भारत सदियों तक वस्त्रों का निर्यात करता रहा था। साम्राज्यवादी शासन के काल में भारत का देशी वस्त्र उद्योग नष्ट हो गया और वह ब्रिटिश वस्त्र का आयातकर्ता बन गया। इन सभी देशों के प्राकृतिक संसाधन साम्राज्यवादी देशों के नियंत्रण में आ गए और वे अपने लाभ के लिए उनका दोहन करने लगे। इन देशों का उद्योगीकरण नहीं हो सका। इन देशों में कुछ उद्योग आरंभ किए गए पंरतु वे साम्राज्यवादी देशों के उद्योगों के हितों के अधीन कर दिए गए या फिर उनकी कंपनियों के लिए मुनाफा कमाने के लिए ही स्थापित किये गए। उपनिवेशों में स्थापित आधुनिक उद्योगों का वहाँ की जनता के जीवन पर कम ही प्रभाव पड़ा। साम्राज्यवादी देशों के उद्योगों की आवश्यकताएँ पूरी करने के लिए उपनिवेशों में खेती के ढर्रे बदल दिए गए। कुछ देशों की पूरी खेती को एक-दो फसल उगाने तक ही सीमित कर दिया गया। उदाहरण के लिए क्यूबा मात्र चीनी का उत्पादक होकर रह गया, इसके अलावा शायद ही उस के पास कुछ और रहा। प्राकृतिक संसाधनों को खुले आम लूटा गया और भारी लगान तथा कर लगाकर उनका शोषण किया गया। उपनिवेशों की कुछ उपजाऊ ज़मीनें बागान लगाने वाले यूरोपियों ने ले लीं। साम्राज्यवाद ने दुनिया के ग़ैर-औद्योगिक देशों के आर्थिक पिछड़ेपन और अल्पविकास को और बढ़ाया। इस तरह इन क्षेत्रों की अर्थव्यवस्था को पूर्ण तौर पर साम्राज्यवादी देशों की अर्थव्यवस्था के अधीन बनाया गया कि राजनीतिक स्वतंत्रता पाने के बाद भी इन देशों का साम्राजयवादी देशों के शिकंजे से निकलना और अपने हित में अपनी अर्थव्यवस्था का विकास करना कठिन हो गया। उपनिवेशों और दूसरे ग़ैर-औद्योगिक देशों की जनता की निर्धनता साम्राज्यवाद का ऐसा परिणाम है जो अभी भी जारी है।

साम्राज्यवाद ने जातीय दंभ और भेदभाव को भी जन्म दिया। साम्राज्यवादी देशों में यह विचार फैलाया गया कि गोरी जाति श्रेष्ठ है और उसे ईश्वर ने दुनिया पर शासन करने के लिए पैदा किया है। इन उपनिवेशों में गोरे शासकों और बसने वालों ने स्थानीय निवासियों के साथ भेदभाव किया और उन्हें अपने से हीन समझा। अधिकांश यूरोपीय उपनिवेशों में स्थानीय जनता के साथ मेल-जोल नहीं रखा गया तथा यूरोपीय अपने लिए आरक्षित क्षेत्रों में रहते रहे। नस्लवाद का सबसे बुरा उदाहरण दक्षिण अफ्रीका था। वहाँ गोरों और कालों का परस्पर मेल-जोल अपराध था। यह जानकारी भी दिलचस्प है कि एक साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में जापान के उभरने के बाद जापानियों को हीन जाति कहा जाना बंद कर दिया गया। वास्तव में दक्षिण अफ्रीका ने जापानियों को 'मानव गोरों' का दर्जा दिया।

साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ संघर्ष

साम्राज्यवादी शक्तियों को एक-एक कदम पर उन जनगणों के प्रतिरोध का सामना करना पड़ा जिन्हें वे अधीन बनाने के प्रयास कर रहे थे। हथियारों के बल पर मिली विजय अगर निर्णायक भी रही तो भी उसके बाद स्थापित विदेशी शासन को उखाड़ फेंकने के लिए ही नहीं बल्कि अपने-अपने देश को आधुनिक राष्ट्रों के रूप में विकसित करने के लिए भी आंदोलन चलाए गए। साम्राज्यवाद विरोधी इन आंदोलनों का स्वरूप एक अर्थ में अंतरांष्ट्रीय था। एक देश में स्वाधीनता के लिए संघर्ष कर रही जनता दूसरे देशों की जनता का समर्थन करती थी।

साम्राज्यवादी देशों के हाथों में उनके उपनिवेश मोटे तौर पर द्वितीय विश्वयुद्ध तक रहे। पर युद्ध की समाप्ति के बाद दो दशकों के अंदर-अंदर अधिकांश देश स्वाधीनता पाने में सफल हो गए।

19 वीं सदी का अधिकांश भाग तथा 20 वीं सदी के पहले कुछ दशक तक विश्व इतिहास में एक ऐसी अवधि थी जब

दक्षिण अफ्रीका के डबलिन नगर में एक रेल पुल, उसमें काले तथा गोरों के लिए आने जाने के अलग-अलग रास्ते थे

पश्चिमी राष्ट्रों ने एशिया और अफ्रीका पर कब्ज़ा करके उनको अपना उपनिवेश बनाए रखा। साम्राज्यवाद के इस काल के अंतिम वर्षों में दुनिया की लगभग दो-तिहाई जनसंख्या किसी-न-किसी विदेशी सरकार के अधीन थी। यूरोपीय राष्ट्रों द्वारा बनाए गए साम्राज्य विश्व इतिहास के सबसे बड़े साम्राज्य थे।

साम्राज्यवाद की कहानी छल-कपट, बर्बरता और सैनिक बल के दुरुपयोग की कहानी है। फिर भी साम्राज्यवादी शक्तियाँ "सभ्यता के प्रसार'' के नाम पर दूसरे देशों और जनगणों को गुलाम बनाने को उचित बतलाती रहीं।

नए बाज़ारों और कच्चे मालों के स्रोतों पर कब्ज़ा करना और सस्ते श्रम के उपयोग करने वाले उद्योग खड़े करना-इन कारणों ने अनेक "छोटे युद्धों" तथा दो विश्व युद्धों को जन्म दिया। "सभ्यजन के समझौतों" के बावजूद पश्चिमी शक्तियाँ बराबर आपस में दुनिया का पुनर्विभाजन करने के प्रयास करती रहती थीं मगर इन प्रयासों में कभी भी उस जनता के कल्याण को ध्यान में नहीं रखा जाता था, जिसका वास्तव में उस क्षेत्र पर अधिकार था।

अभ्यास

जानकारी के लिए

1. बतलाइए कि औद्योगिक क्रांति के कारण साम्राज्यवाद का उदय क्यों हुआ ?
2. समुचित उदाहरण देते हुए उन उपायों का वर्णन कीजिए जिनके द्वारा साम्राज्यवादी देशों ने अफ्रीका के अधिकांश भागों का अधिग्रहण किया।

3. एशिया और अफ्रीका के देशों पर पश्चिमी शक्तियों का प्रभुत्व इतनी आसानी से कैसे स्थापित हुआ ?
4. राष्ट्रवाद ने यूरोप में साम्राज्यवाद को "लोकप्रिय" बनाने में कैसे सहायता की ?
5. एक साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में संयुक्त राज्य अमरीका के उदय का वर्णन कीजिए। समुचित उदाहरण भी दीजिए।
6. सन् 1914 तक जापान के साम्राज्यवादी प्रसार का वर्णन कीजिए।
7. निम्नलिखित शब्दों की समुचित उदाहरणों सहित व्याख्या कीजिए–प्रभाव-क्षेत्र, शोषण, क्षेत्रेतर अधिकार, संरक्षित राज्य, मनरो-सिद्धांत, डालर की कूटनीति।

करने के लिए

1. एशिया और अफ्रीका के मानचित्र तैयार कीजिए और इन पर प्रथम विश्व युद्ध से पहले विभिन्न साम्राज्यवादी शक्तियों के उपनिवेश या प्रभाव-क्षेत्र दर्शाइए।
2. अप्रैल 1974 में पुर्तगाल में हुई क्रांति के बाद अफ्रीका में हुए घटनाक्रम का अध्ययन कीजिए।
3. "दास प्रथा, दासव्यापार तथा उसके उन्मूलन के लिए संघर्ष" के विषय पर एक निबंध लिखिए।

सोचने और विचार-विमर्श के लिए

1. 19 वीं और 20 वीं सदियों के साम्राज्य प्राचीन काल के साम्राज्यों जैसे मौर्य साम्राज्य, रोमन साम्राज्य और सिकंदर के साम्राज्य से किस प्रकार भिन्न थे ?
2. 16 वीं से 18 वीं सदी के साम्राज्यवादी प्रसार तथा 1870 से 1914 तक के साम्राज्यवादी प्रसार के अंतर का विवेचन कीजिए।
3. नवस्वतंत्र देशों के सामने मौजूद बड़ी समस्याओं के नाम बतलाकर उन पर विचार-विमर्श कीजिए। ये समस्याएँ किस प्रकार सभी देशों की समस्याएँ हैं ?
4. एशिया, अफ्रीका और दक्षिणी अमरीका पर साम्राज्यवादी नियंत्रण के कारण पड़े दीर्घकालिक प्रभाव पर विचार-विमर्श कीजिए।

अध्याय 2

प्रथम विश्व युद्ध

यूरोप में 1914 में एक ऐसा युद्ध आरंभ हुआ जिसने पूरी दुनिया को अपने प्रभाव क्षेत्र में समेट लिया। इस लड़ाई से जितनी बरबादी हुई उतनी मानव-इतिहास में पहले कभी नहीं हुई थी। इससे पहले की लड़ाइयों में ग़ैरसैनिक जनता आमतौर पर शामिल नहीं होती थी और जान की हानि भी आमतौर पर युद्धरत सेनाओं को ही उठानी पड़ती थी। पर 1914 में आंरभ होने वाला युद्ध सर्वव्यापी युद्ध था जिसमें युद्धरत देशों के सारे संसाधन झोंक दिए गए। इसका पूरी दुनिया की अर्थव्यवस्था पर प्रभाव पड़ा और ग़ैरसैनिक क्षेत्रों पर हुई बमबारियों से, युद्ध के कारण फैले अकाल और महामारियों से जितने ग़ैरसैनिक लोगों की जानें गईं उनकी संख्या मारे गए सैनिकों से कहीं अधिक थी। इस युद्ध का प्रभाव भी अभूतपूर्व था। इसने दुनिया के इतिहास को एक नया मोड़ दिया। इस युद्ध में लड़ाइयाँ यूरोप, एशिया, अफ्रीका और प्रशांत क्षेत्र में लड़ी गईं। इसके अभूतपूर्व फैलाव और सर्वाधिक स्वरूप के कारण इसे प्रथम विश्वयुद्ध कहा जाता है।

साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धा

युद्ध के मूल कारण थे – साम्राज्यवादी देशों की आपसी प्रतिस्पर्धाएँ और टकराव। आप अध्याय 1 में पढ़ चुके हैं कि एशिया और अफ्रीका की साम्राज्यवादी विजय के दौरान साम्राज्यवादी देशों में टकराव होते रहते थे। कभी-कभी साम्राज्यवादी आपस में "शांतिपूर्ण निपटारा" कर लेते थे और एक दूसरे के ख़िलाफ बल-प्रयोग किए बिना एशिया या अफ्रीका के किसी भाग को आपस में बाँट लेते थे। कई बार आपसी टकराव के कारण युद्ध की परिस्थितियाँ भी पैदा हो जाती थीं मगर उस समय आमतौर पर युद्ध को टाल दिया जाता था क्योंकि अभी साम्राज्यवादी विजय के और भी अवसर थे। अगर किसी क्षेत्र से किसी साम्राज्यवादी देश को हटना पड़ता तो उसके सामने किसी और क्षेत्र को पाने के अवसर होते थे। कभी-कभी साम्राज्यवादी देशों के बीच युद्ध सचमुच हो जाते थे, जैसाकि जापान और रूस के बीच हुआ। मगर 19 वीं सदी के अंत तक स्थिति बदल चुकी थी। एशिया और अफ्रीका के अधिकांश भाग को साम्राज्यवादी देश आपस में बाँट चुके थे और नए उपनिवेश पाने का एक ही रास्ता था कि किसी साम्राज्यवादी देश से उसके उपनिवेश छीने जाएँ। इसलिए 19 वीं सदी के अंतिम दशक के बाद के दौर में साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धाओं के कारण विश्व को पुनर्विभाजित करने के प्रयास होने लगे जिससे युद्ध की परिस्थितियाँ पैदा हुईं।

आप पहले पढ़ चुके हैं कि जर्मनी उपनिवेशों की छीनाझपटी में बहुत बाद में शामिल हुआ। जर्मनी के एकीकरण के बाद उसका बहुत अधिक आर्थिक विकास हुआ था। 1914 तक वह लोहे और इस्पात तथा बहुत-सी औद्योगिक वस्तुओं के उत्पादन में ब्रिटेन और फ्रांस को बहुत पीछे छोड़ चुका था। जहाज़-व्यापार में उसने धड़ल्ले के साथ प्रवेश किया। इसका एक जहाज़ 'इंपरेटर' 1912 में बनाया गया था, वह उस वक्त का सबसे बड़ा जहाज़ था। जर्मनी में कारखानों की वस्तुओं के बढ़ते उत्पादन को देखकर ब्रिटेन और फ्रांस दोनों चौंक उठे क्योंकि इससे उन्हें अपनी स्थिति के लिए खतरा दिखाई देने लगा। आप पढ़

चुके हैं कि जर्मनी उपनिवेशों की दौड़ में बहुत बाद में शामिल हुआ था और इसलिए उसे कम उपनिवेश ही हाथ लगे थे, तब तक पुराने साम्राज्यवादी देश एशिया और अफ्रीका के अधिकांश भागों को जीत चुके थे। तब जर्मन साम्राज्यवादियों ने पूर्व में पाँव फैलाने की सोची। उनकी महत्वाकांक्षा थी- पतनशील उस्मानिया (तुर्की) साम्राज्य की अर्थव्यवस्था पर अपना नियंत्रण स्थापित करना। इसके लिए उन्होंने बर्लिन से बग़दाद तक एक रेल-लाइन बिछाने की योजना बनाई। इस योजना से ब्रिटेन, फ्रांस और रूस डर गए, क्योंकि इस रेल-लाइन के तैयार होने पर तुर्की साम्राज्य से संबंधित उनकी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं को धक्का लगता। बेशक अफ्रीका समेत दूसरी जगहों पर भी जर्मनी की अपनी महत्वाकांक्षाएँ थीं।

जर्मनी की तरह यूरोप की सभी प्रमुख शक्तियाँ और जापान की भी अपनी-अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाएँ थीं। इटली एकीकरण के बाद फ्रांस जितना ही शक्तिशाली बन चुका था, वह उत्तरी अफ्रीका स्थित त्रिपोली पर नज़रें गड़ाए था। यह उस्मानिया साम्राज्य का क्षेत्र था। वह तब तक एरिट्रिया और सोमालीलैंड पर कब्ज़ा भी कर चुका था। अफ्रीका में फ्रांस मोरक्को को अपने साम्राज्य में शामिल करना चाहता था। रूस की ईरान, कुस्तुंतुनिया समेत तुर्की साम्राज्य के इलाकों, सुदूर पूर्व और अन्य जगहों से जुड़ी अपनी महत्वाकांक्षाएँ थी। रूस की महत्वाकांक्षाओं का ब्रिटेन, जर्मनी और आस्ट्रिया के हितों और महत्वाकांक्षाओं से टकराव हुआ। जापान भी तब तक साम्राज्यवादी देश बन चुका था। सुदूर पूर्व में उसकी अपनी महत्वाकांक्षाएँ थीं और वह इन्हें पूरा करने के लिए कदम भी उठा चुका था। ब्रिटेन के साथ एक समझौता करने के बाद उसने 1904-05 में रूस को हराया। इससे सुदूर-पूर्व में उसका प्रभाव बढ़ गया। दूसरे सभी साम्राज्यवादी देशों से ब्रिटेन का टकराव हो गया
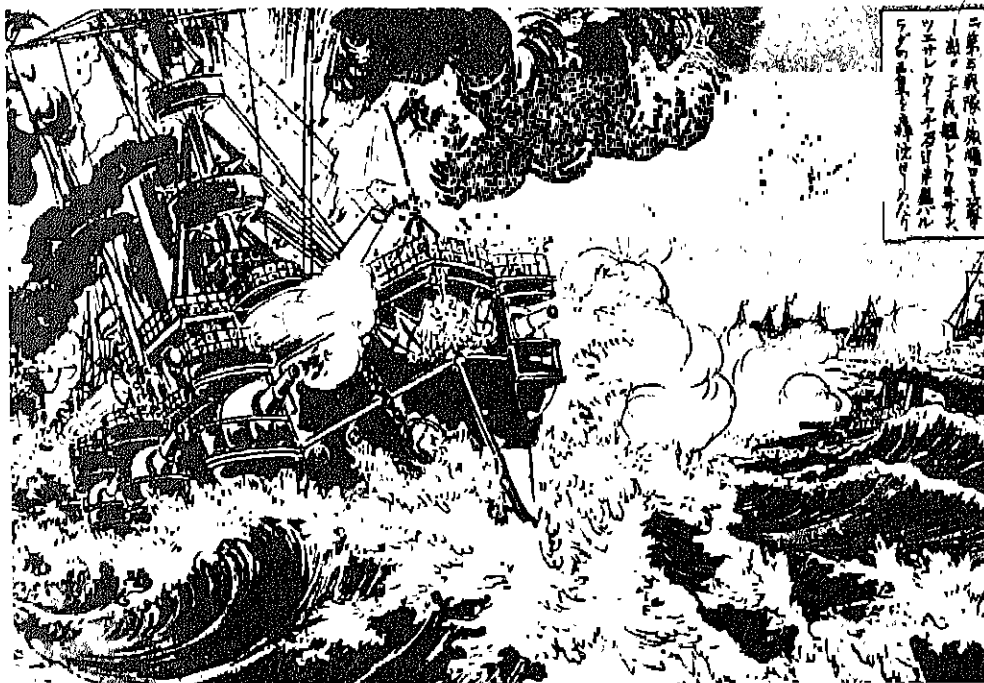
1904-05 के रूसी-जापानी नौसैनिक युद्ध को दर्शाने वाला एक समकालीन जापानी चित्र

था, क्योंकि उसके पास पहले से एक बहुत बड़ा साम्राज्य था और उसकी रक्षा करना आवश्यक था। जब कभी किसी देश की शक्ति बढ़ती तो उसे ब्रिटिश साम्राज्य के लिए ख़तरा समझा जाता था। उसका अंतर्राष्ट्रीय व्यापार भी बहुत फैला हुआ था और इस व्यापार की रक्षा उसे प्रतियोगी देशों से करनी पड़ती थी।

साथ ही उसे अपने साम्राज्य के व्यापार-मार्गों की रक्षा भी करनी थी। तुर्की साम्राज्य के बारे में आस्ट्रिया की भी महत्वाकांक्षाएँ थीं। संयुक्त राज्य अमरीका भी 19 वीं सदी के अंत तक एक शक्तिशाली राष्ट्र के रूप में उभर चुका था। उसने फिलीपीन्स को हड़प लिया था। चूँकि उसका व्यापार बहुत तेज़ी से बढ़ रहा था इसलिए उसकी मुख्य दिलचस्पी व्यापार की स्वतंत्रता बनाए रखने में थी। दूसरी बड़ी ताकतों के प्रभाव का बढ़ना अमरीकी हितों के लिए ख़तरा समझा जाता था।

यूरोप मे संघर्ष

यूरोप की प्रमुख शक्तियों के बीच उपनिवेशों और व्यापार को लेकर टकराव तो थे ही, साथ ही यूरोप के अंदर होने वाली कुछेक घटनाओं को लेकर भी टकराव थे। उस समय यूरोप में छः प्रमुख शक्तियाँ थीं — ब्रिटेन, जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी, रूस, फ्रांस और इटली। एक प्रश्न जिसमें ये सभी देश उलझ गए, वह था — यूरोप के बल्कान प्रायद्वीप के देशों का प्रश्न। बल्कान प्रायद्वीप के देश तुर्की साम्राज्य के अधीन थे मगर 19 वीं सदी में तुर्की साम्राज्य का पतन आरंभ हो चुका था। स्वाधीनता के लिए अनेक जातियाँ इस साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह कर रही थीं। रूस के जारों को आशा थी कि इन क्षेत्रों से उस्मानी तुर्कों का शासन समाप्त होने के बाद ये रूस के नियंत्रण में आ जाएँगे। उन्होने सर्व-स्लाव (पान-स्लाव) नामक एक आंदोलन को बढ़ावा दिया जो इस सिद्धांत पर आधारित था कि पूर्वी यूरोप के सभी स्लाव एक ही जनगण के लोग हैं। स्लाव आस्ट्रिया-हंगरी के अनेक क्षेत्रों में भी रहते थे। इसलिए रूस ने तुर्की साम्राज्य और आस्ट्रिया-हंगरी, दोनों के खिलाफ़ आंदोलनों को बढ़ावा दिया। तुर्की साम्राज्य और आस्ट्रिया-हंगरी के स्लाव बहुल क्षेत्रों को एक करने के आंदोलन का नेतृत्व बल्कान प्रायद्वीप का एक प्रमुख देश सर्बिया कर रहा था। रूस के बढ़ते प्रभाव को देखकर यूरोप की दूसरी प्रमुख शक्तियाँ चौकन्नी हो गईं। वे रूस के प्रभाव को बढ़ने से रोकना चाहती थीं जबकि आस्ट्रिया-हंगरी इस क्षेत्र में अपना पाँव फैलाना चाहता था।

सर्व-स्लाव आंदोलन की तरह एक सर्व-जर्मनी आंदोलन भी चला जिसका उद्देश्य जर्मनी के प्रभाव को पूरे मध्य यूरोप और बल्कान क्षेत्र में फैलाना था। इटली ने कुछ ऐसे क्षेत्रों पर दावा किया जो उस समय आस्ट्रिया के अधीन थे। फ्रांस न केवल अल्सास-लोरेन को वापस पाना चाहता था जो उसे 1871 में जर्मनी को दे देना पड़ा था, बल्कि जर्मनी के साथ 1870-71 के यद्ध में उसकी जो शर्मनाक हर हुई थी, जर्मनी से उसका वह बदला भी लेना चाहता था।

गुटों का निर्माण

ऊपर यूरोप के अंदर होने वाले और उपनिवेशों को लेकर होने वाले जिन टकरावों का वर्णन किया जा चुका है, उनके कारण 19 वीं सदी के अंतिम दशक और उसके बाद के काल में यूरोप में तनाव की स्थिति पैदा हो गई। यूरोप के देश अब परस्पर-विरोधी गुटों में शामिल होने लगे। अपनी सैनिक शक्ति बढ़ाने, अपनी सेनाओं और नौसेनाओं की संख्या बढ़ाने, नए और पहले से अधिक घातक हथियार विकसित करने तथा आम तौर पर युद्ध की तैयारियों पर वे अपार धन खर्च करने लगे। यूरोप अब धीरे-धीरे एक विशाल सैनिक शिविर बनता जा रहा था। साथ ही हर देश में युद्ध-प्रचार भी आरंभ हो गया जिसमें दूसरे देशों के खिलाफ़ नफ़रत भड़काई जाती थी, अपने देश को दूसरों से श्रेष्ठ बतलाया जाता था और युद्ध को महिमा मंडित किया जाता था। बेशक ऐसे लोग भी थे जिन्होंने युद्ध के ख़तरे के ख़िलाफ़ और सैन्यीकरण के ख़िलाफ़ आवाज़ उठाई। मगर जल्द ही ये सारी आवाज़ें युद्ध के तुमुलनाद में दब गईं।

देशों के परस्पर-विरोधी समूहों या यूरोप में बने गुटों ने केवल युद्ध के ख़तरे को ही नहीं बढ़ाया बल्कि उन्होंने

यह भी निश्चित कर दिया कि अगर युद्ध छिड़ गया तो विश्वव्यापी हुए बिना नहीं रहेगा। यूरोपीय देश 19 वीं सदी से ही गुटों का निर्माण और पुनःनिर्माण करते आ रहे थे। अंत में 20 वीं सदी के पहले दशक में देशों के दो परस्पर-विरोधी गुट बन गए और वे अपनी-अपनी सैनिक-शक्ति के साथ एक-दूसरे के मुकाबले के लिए तैयार हो गए। 1882 में एक त्रिगुट (ट्रिपल एलायंस) बना था जिसमें जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी और इटली शामिल थे। मगर इस गुट के प्रति इटली की वफ़ादारी संदिग्ध थी क्योंकि उसका मुख्य उद्देश्य यूरोप में आस्ट्रिया-हंगरी से कुछ इलाके छीनना और फ़्रांस की सहायता से त्रिपोली को जीतना था। इस त्रिगुट के विरोध में फ़्रांस, रूस और ब्रिटेन ने 1907 में एक त्रिदेशीय संधि (ट्रिपल आंतॉं) बनाई। जैसाकि शब्द "आंतॉं" (इसका शाब्दिक अर्थ है — आपसी समझदारी) से स्पष्ट है, यह संधि सिद्धांत रूप में आपसी समझ पर आधारित एक ढीला-ढाला गठजोड़ थी। इन दो परस्पर-विरोधी गुटों के उदय से यह निश्चित हो गया था कि अगर इनमें से कोई भी देश किसी टकराव में उलझता है तो वह टकराव अंततः अखिल-यूरोपीय युद्ध में बदल जाएगा। चूँकि अपने औपनिवेशिक अधिकार-क्षेत्र बढ़ाना भी इन गुटों के देशों के उद्देश्यों में शामिल था, इसलिए किसी अखिल-यूरोपीय युद्ध का विश्वयुद्ध बन जाना लगभग निश्चित था। इन गुटों के निर्माण के साथ अधिक से अधिक घातक हथियार बनाने और सेनाओं एवं नौसेनाओं की संख्या बढ़ाने की दौड़ भी आरंभ हो गई।

युद्ध से ठीक पहले के वर्षों में एक-के-बाद-एक संकट आए। इन संकटों के कारण यूरोप में तनाव और कड़वाहट में वृद्धि हुई और उग्रराष्ट्रवाद (नेशनल शाविनिज़्म) का जन्म हुआ। यूरोपीय देश दूसरों के इलाके पाने के लिए आपस में गुप्त समझौते भी करने लगे। इन समझौतों का अक्सर ही भंडाफोड़ हो जाता था और इससे हर देश में भय और शंका का वातावरण और भी तीखा हो जाता था। ऐसे भय और शंका के कारण युद्ध की घड़ी और भी पास आ गई।

युद्ध से पहले की घटनाएँ

युद्ध के पहले अनेक ऐसी घटनाएँ हुई जिनके कारण तनाव बढ़ा। इनमें से एक था- मोरक्को को लेकर टकराव। 1904 में ब्रिटेन और फ़्रांस ने आपस में एक समझौता किया था। इसके अनुसार ब्रिटेन को मिस्र में खुलकर खेलने की छूट मिल गई और फ़्रांस को मोरक्को मिल गया। जर्मनी को इस समझौते का पता चल गया और वह क्षुब्ध हो उठा। जर्मन सम्राट मोरक्को गया और उसने मोरक्को के सुल्तान को मोरक्को की स्वतंत्रता के लिए पूरा समर्थन देने का वचन दिया। ऐसा लगता था कि मोरक्को को लेकर होने वाली दुश्मनी युद्ध का करण बन जाएगी मगर युद्ध टल गया। 1911 में फ़्रांस ने मोरक्को के अधिकांश भाग पर कब्ज़ा कर लिया और बदले में उसने जर्मनी को फ़्रांसीसी कांगो का एक बड़ा भाग दे दिया। हालाँकि युद्ध तो टल गया पर यूरोप में हर देश के युद्ध की तैयारी करने के कारण स्थिति ख़तरनाक हो गई।

यूरोप की ख़तरनाक स्थिति को और भी बदतर बनाने वाली घटनाएँ बल्कान क्षेत्र में हुई। 1908 में आस्ट्रिया ने बोस्निया और हरज़ेगोविना को हड़प लिया जो तुर्की साम्राज्य के प्रांत थे। इन प्रांतों पर सर्बिया की निगाहें भी गड़ी थीं जिसे बल्कान क्षेत्र में एक संयुक्त स्लाव राज्य कायम करने के लिए रूस का समर्थन प्राप्त था। रूस ने आस्ट्रियाई कब्ज़े के ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ने की धमकी दी परंतु जर्मनी ने आस्ट्रिया को खुलकर अपना समर्थन दिया और रूस को पीछे हटना पड़ा। मगर इस घटना से सर्बिया में ही कटुता नहीं फैली बल्कि रूस और जर्मनी की दुश्मनी और भी गाढ़ी हो गई। यूरोप में स्थिति और भी तनावपूर्ण हो गई।

आस्ट्रिया द्वारा बोस्निया और हरज़ेगोविना के हड़पे जाने के बाद जो संकट उत्पन्न हुआ उसके बाद बल्कान में युद्ध आरंभ हो गए। 1912 में चार बल्कान देशों -- सर्बिया, बुल्गारिया, मोंटेनेग्रो और यूनान ने तुर्कों के ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ दिया। इस युद्ध के फलस्वरूप यूरोप में तुर्की के लगभग सारे अधिकार क्षेत्र छिन गए मगर तुर्की के पुराने अधिकार-क्षेत्रों के बँटवारे के सवाल पर बल्कान के देश आपस में लड़ पड़े। अंत में अस्ट्रिया अल्बानिया को एक स्वतंत्र देश बनवाने में सफल रहा। हालाँकि उस पर सर्बिया का दावा था। सर्बिया की महत्वाकांक्षाएँ पूरी न होने पर वहाँ आस्ट्रिया के ख़िलाफ़ और कड़वाहट पैदा हुई। इन
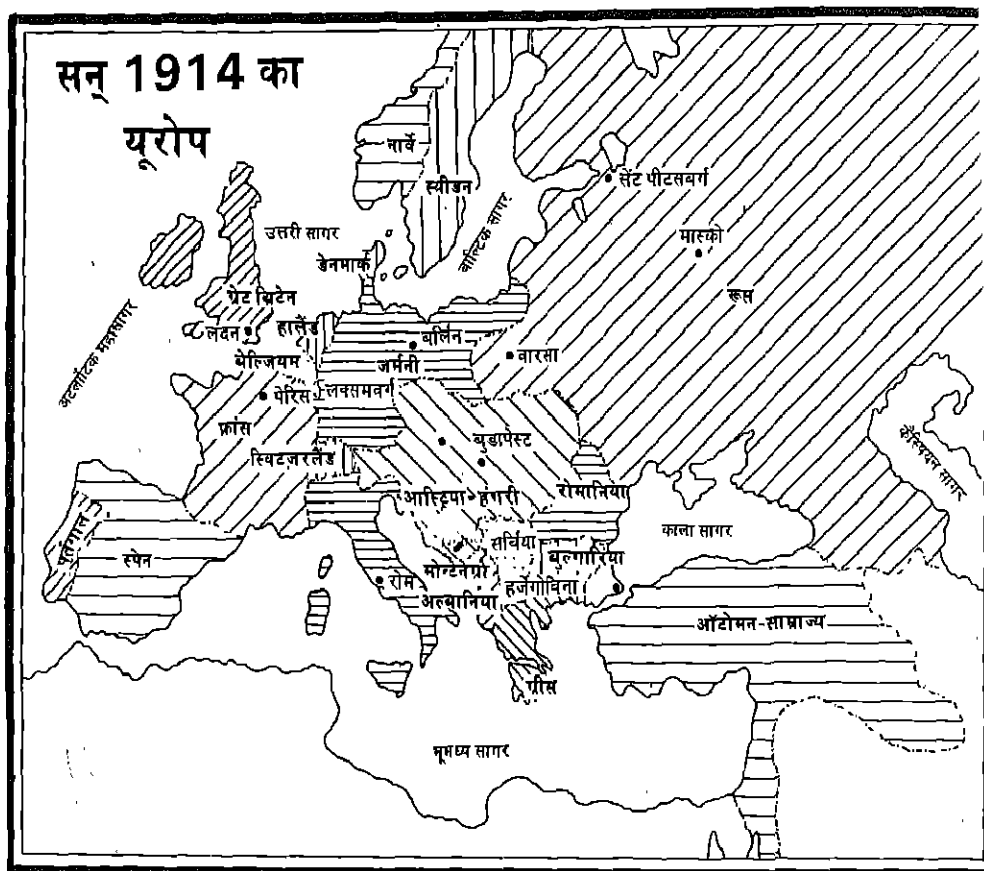
सभी घटनाओं के कारण यूरोप युद्ध के कगार पर आ गया।

युद्ध का आरंभ

युद्ध का आरंभ एक मामूली घटना से हुआ। अगर यूरोप वर्षों से युद्ध की तैयारी कर रहे दो परस्पर-विरोधी सैनिक शिविरों में न बँटा होता तो इस घटना से कोई खास तहलका नहीं मचता। 28 जून 1914 को आर्कड्यूक फ्रांसिस फर्डीनंड की बोस्निया की राजधानी साराजेवो में हत्या हो गई। (यह स्मरणीय है कि कुछ ही वर्ष पहले आस्ट्रिया ने बोस्निया को हड़प लिया था)। फर्डीनंड आस्ट्रिया-हंगरी की गद्दी का उत्तराधिकारी था। आस्ट्रिया ने इस हत्या में सर्बिया का हाथ देखा और उसे चेतावनी दी। सर्बिया ने इस चेतावनी की एक माँग मानने से इनकार कर दिया क्योंकि वह उसकी स्वतंत्रता के खिलाफ थी। 28 जुलाई 1914 को आस्ट्रिया ने सर्बिया के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। रूस ने सर्बिया की पूर्ण सहायता का वादा किया था और इसलिए वह युद्ध की तैयारी करने लगा। जर्मनी ने 1 अगस्त को रूस और 3 अगस्त को फ्रांस के खिलाफ युद्ध की घोषणा की। फ्रांस पर दबाव डालने के लिए जर्मन सेनाएँ 4 अगस्त को बेल्जियम में घुस गईं। उसी दिन ब्रिटेन ने जर्मनी के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी।

अनेक दूसरे देश भी लड़ाई में शामिल हो गए। सुदूर-पूर्व में जर्मनी के उपनिवेश हथियाने के उद्देश्य से जापान ने जर्मनी के खिलाफ युद्ध की घोषणा कर दी। तुर्की

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान खाई युद्ध को दर्शाता हुआ एक दृश्य

और बुल्गारिया जर्मनी की तरफ हो गए। त्रिगुट का सदस्य होने के बावजूद इटली कुछ समय तक तटस्थ बना रहा। 1915 में वह जर्मनी और आस्ट्रिया-हंगरी के ख़िलाफ़ युद्ध में शामिल हुआ।

युद्ध की घटनाएँ

जर्मनी को आशा थी कि वह बेल्जियम पर बिजली की तरह मार करके फ्रांस पर हमला कर देगा और उसे कुछ ही हफ्तों में हरा देगा और तब वह रूस से उलझेगा। कुछ समय तक ऐसा लगा कि यह योजना सफल हो रही है। जर्मन सेना पेरिस से मात्र 20 किलोमीटर की दूरी तक आ पहुँची। रूस ने जर्मनी और आस्ट्रिया पर हमले आरंभ कर दिए थे और इसलिए कुछ जर्मन सेना पूर्वी मोर्चे पर भी भेजनी पड़ी। जल्द ही फ्रांस की तरफ़ सेनाओं का बढ़ना रुक गया और यूरोप में युद्ध में लम्बें समय के लिए गतिरोध पैदा हो गया। इस बीच युद्ध दुनिया के कई दूसरे भागों तक फैल चुका था और पश्चिमी एशिया, अफ्रीका और सुदूर-पूर्व में लड़ाइयाँ होने लगी थीं।

जर्मन सेनाओं का बढ़ना रुक जाने के बाद एक नए प्रकार का युद्ध आरंभ हो गया। परस्पर भिड़ रही सेनाएँ
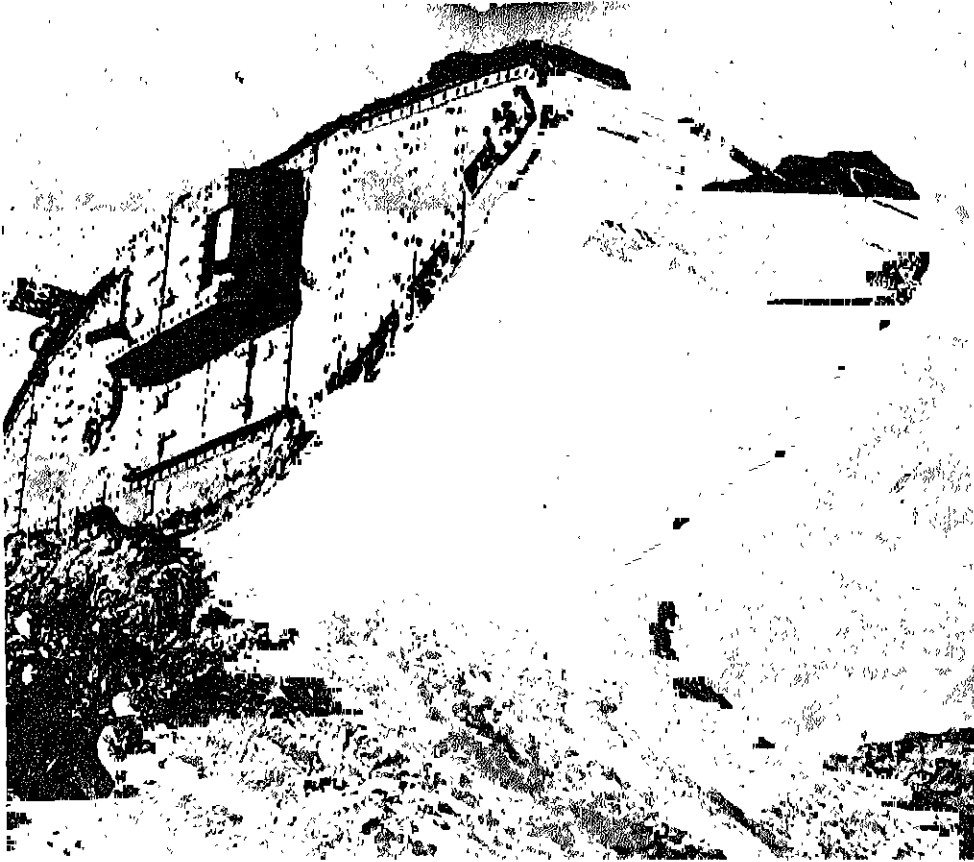
प्रथम विश्व युद्ध में टैंक का इस्तेमाल एक नए हथियार के रूप में किया गया था। सबसे पहले ब्रिटेन ने इसको तैयार किया था।

खंदकें खोदकर वहाँ से एक दूसरे पर छापे मारने लगीं। सेनाएँ जिस तरह का युद्ध पहले लड़ती थीं, यानी आमने-सामने होकर एक दूसरे से लड़ना, वह लगभग पूरी तरह समाप्त हो गया। पश्चिमी मोर्चे पर (जिस में पूर्वी फ्रांस और बेल्जियम शामिल थे) विरोधी सेनाओं ने खंदकें खोदीं और वहाँ से एक-दूसरे के ठिकानों पर छापे मारे। लगभग चार वर्षों तक कोई भी पक्ष दूसरे को विस्थापित नहीं कर सका। यूरोपीय देशों ने अपने-अपने उपनिवेशों में भर्ती किए गए सैनिकों का उपयोग इस युद्ध में किया। पूर्वी मोर्चे पर जर्मनी और आस्ट्रिया को रूस के हमले नाकाम बनाने और रूसी साम्राज्य के कुछ भागों पर कब्ज़ा करने में कामयाबी मिली। यूरोप से बाहर फिलिस्तीन, मेसोपोटामिया (इराक) और अरब में तुर्की साम्राज्य के ख़िलाफ़ अभियान संगठित किए गए और जर्मनी तथा तुर्की के ख़िलाफ़ ईरान में भी जो वहां अपना प्रभाव स्थापित करना चाहते थे। पूर्वी एशिया में जापान ने जर्मनी के अधिकार-क्षेत्रों पर कब्ज़ा कर लिया और अफ्रीका में ब्रिटेन तथा फ्रांस ने अधिकांश जर्मन उपनिवेश हथिया लिए।

इस युद्ध में अनेक नए हथियारों का उपयोग किया गया। इस तरह के दो हथियार थे- मशीनगन और तरल-अग्नि
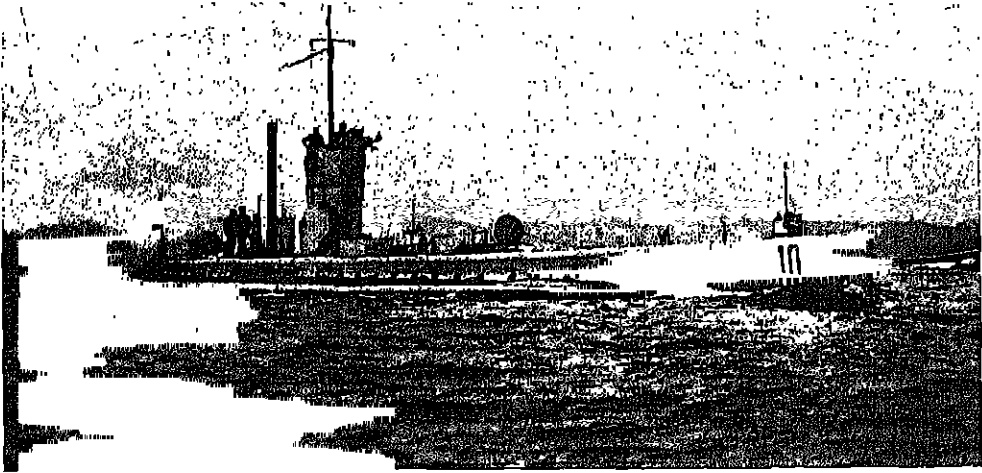
जर्मनी ने प्रथम विश्व युद्ध में पनडुब्बियों का उपयोग किया था जिसे उस समय यू-बोट्स कहा जाता था।

(लिक्विड़ फायर)। युद्ध में पहली बार ग़ैरसैनिक जनता को मारने के लिए हवाई जहाज़ों का उपयोग किया गया। अंग्रेज़ों ने टैंकों का प्रयोग किया जो आगे चलकर युद्ध के प्रमुख हथियार बन गए। दोनों युद्धरत गुटों ने एक-दूसरे तक खाद्यान्न, कारख़ानों के माल तथा हथियार पहुँचाने को रोकने की कोशिशें की और इस काम में समुद्री युद्ध की प्रमुख भूमिका रही। जर्मनी ने बड़े पैमाने पर यू-बोट नामक पनडुब्बियों का उपयोग किया। इसका उद्देश्य दुश्मन के जहाज़ों को ही नहीं बल्कि ब्रिटिश बंदरगाहों की ओर बढ़ रही तटस्थ देशों की नौकाओं को भी नष्ट करना था। इस युद्ध में जहरीली गैसों का भी उपयोग किया गया जो एक और भयानक हथियार था। युद्ध लंबा खिंच गया और इसमें लाखों लोगों की जानें गईं।

6 अप्रैल 1917 को संयुक्त राज्य अमरीका ने जर्मनी के ख़िलाफ़ युद्ध की घोषणा की। अमरीका आंतांँ देशों के लिए हथियारों और दूसरी आवश्यक वस्तुओं का प्रमुख स्रोत बन चुका था। 1915 में जर्मनी की यू-बोटें 'लूसीतानिया' नामक एक ब्रिटिश जहाज़ को डुबो चुकी थीं। मरने वाले 1153 यात्रियों में 128 अमरीकी भी थे। आमतौर पर ब्रिटेन के प्रति अमरीकियों की सहानुभूति थी। इस घटना के बाद अमरीका में जर्मनी-विरोधी भावनाएँ और भड़क उठीं। अपने आर्थिक उद्देश्यों के कारण वे आंतांँ देशों के और पक्के समर्थक बन गए। हथियारों और दूसरी वस्तुओं को ख़रीदने के लिए इन देशों ने अमरीका में बड़े पैमाने पर ऋण-पत्र जारी किए थे। अनेक अमरीकियों ने ये ऋण-पत्र ख़रीदे थे जिनकी अदायगी इन देशों के युद्ध में जीतने के बाद होनी थी। यह डर भी था कि अगर युद्ध में जर्मनी की जीत होती है तो वह अमरीका का एक शक्तिशाली प्रतियोगी बन जाएगा। जब जर्मनी की यू-बोटों ने कुछ जहाज़ों को डुबोया, जिनमें अमरीकी नागरिकों को ले जाने वाले अमरीकी जहाज़ भी शामिल थे, तो अमरीका भी अंततः युद्ध में शामिल हो गया।

1917 की एक और प्रमुख घटना थी-अक्तूबर क्रांति और उसके बाद रूस का युद्ध से हट जाना। रूसी क्रांतिकारी आरंभ से ही युद्ध का विरोध करते आए थे और लेनिन के नेतृत्व में उन्होंने फ़ैसला किया था कि वे रूसी निरंकुश शासन को उखाड़ फेंककर सत्ता पर कब्ज़ा करने के लिए इस युद्ध को एक क्रांतिकारी युद्ध में बदल देंगे। युद्ध में रूसी साम्राज्य को भारी नुकसान उठाना पड़ा था। रूस के 6 लाख से अधिक सैनिक मारे जा चुके थे। जिस दिन

बोलशेविक सरकार सत्ता में आई, उसके दूसरे दिन उसने शांति की आज्ञप्ति (डिक्री) जारी की, जिसमें दूसरों के क्षेत्रों को हथियाए बिना और युद्ध के हर्जाने लिए बिना शांति स्थापित करने के प्रस्ताव रखे गए थे। रूस ने युद्ध से हट जाने का फ़ैसला किया और मार्च 1918 में जर्मनी के साथ एक शांति-संधि की। जर्मनी ने यह समझा कि रूस की सरकार युद्ध को जारी रखने की स्थिति में नहीं है, इसलिए उसने ऐसी शर्तें रखीं जो रूस के लिए बहुत कड़ी थीं पर रूस की सरकार ने ये शर्तें मान लीं। आँतों देश रूसी क्रांति के और युद्ध से रूस के हटने के विरोधी थे। उन्होंने क्रांति -विरोधी तत्वों को सहायता देने के लिए रूस में सैनिक हस्तक्षेप आरंभ कर दिया। फलस्वरूप एक गृहयुद्ध आरंभ हो गया जो तीन वर्षों तक चला। अंत में सैनिक हस्तक्षेप करने वालों की और क्रांतिकारी सरकार के खिलाफ़ हथियार उठाने वाले रूसियों की हार हुई।

युद्ध की समाप्ति

युद्ध को समाप्त कराने के लिए अनेक प्रयास किए गए। रूस की नई सरकार के प्रस्तावों का ऊपर ज़िक्र किया जा चुका है। 1917 के आरंभ में कुछ समाजवादी पार्टियों ने भी प्रस्ताव किया कि एक अंतर्राष्ट्रीय समाजवादी सम्मेलन का आयोजन किया जाए जो किसी के भूभाग हथियाए बिना युद्ध की समाप्ति के लिए और जनगणों के आत्मनिर्णय के अधिकार को मान्यता देने के लिए समुचित प्रस्ताव तैयार करे मगर यह सम्मेलन नहीं हो सका। रूस की बोलशेविक सरकार ने जो प्रस्ताव रखे थे कि "किसी के भूभाग हथियाए बिना और युद्ध के हर्जाने लिए बिना, जनगणों के आत्मनिर्णय के सिद्धांत के आधार पर'' शांति स्थापित की जाए, उन प्रस्तावों का युद्धरत देशों की जनता ने स्वागत किया था पर ये प्रस्ताव ख़ारिज कर दिए गए। पोप ने भी शांति के प्रस्ताव रखे पर उनको भी गंभीरता से नहीं लिया गया। हालाँकि युद्ध समाप्त करने के प्रस्तावों को युद्धरत देशों की सरकारों की ओर से कोई सकारात्मक प्रत्युत्तर नहीं मिला मगर जनता में युद्ध-विरोधी भावनाएँ पनपीं। व्यापक असंतोष फैला, गड़बड़ियाँ हुई और कुछ जगहों पर सैनिक विद्रोह तक होने लगे। रूसी क्रांति की सफलता के बाद कुछ देशों में वहाँ की सरकारों को उखाड़ फेंकने के लिए जनता उठ खड़ी हुई।

अमरीका के राष्ट्रपति वुडरो विल्सन ने जनवरी 1918 में शांति का एक कार्यक्रम सामने रखा। यह राष्ट्रपति विल्सन के 'चौदह सूत्रों' के नाम से विख्यात हुआ। इसमें राज्यों के बीच खुली बातचीत चलाना, जहाज़रानी की स्वतंत्रता, हथियारों में कमी, बेल्जियम की स्वतंत्रता, फ्रांस को अल्सास-लोरेन की वापसी, यूरोप में स्वतंत्र राज्यों की स्थापना, सभी राज्यों की स्वतंत्रता की ज़मानत के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना, आदि बातें शामिल थीं। युद्ध की समाप्ति के बाद जब शांति की संधियों पर हस्ताक्षर हुए तो उनमें विल्सन के कुछ सूत्रों को शामिल कर लिया गया।

जुलाई 1918 में ब्रिटेन, फ्रांस और अमरीका ने संयुक्त सैनिक अभियान आरंभ किया और जर्मनी तथा उसके सहयोगी देशों की हार होने लगी। बुल्गारिया सितंबर में युद्ध से अलग हो गया। अक्तूबर में तुर्की ने आत्मसमर्पण कर दिया। आस्ट्रिया-हंगरी और जर्मनी में राजनीतिक असंतोष बढ़ रहा था। 3 नवंबर को आस्ट्रिया-हंगरी के सम्राट ने आत्मसमर्पण कर दिया। जर्मनी में एक क्रांति फूट पड़ी। जर्मनी एक गणराज्य बन गया और जर्मन सम्राट कैसर विल्हेल्म द्वितीय भाग कर हालैंड चला गया। नई जर्मन सरकार ने 11 नवंबर 1918 को युद्धविराम संधि पर हस्ताक्षर किए और इस प्रकार युद्ध समाप्त हो गया। इस समाचार को सारी दुनिया में लोगों ने अपार हर्ष के साथ सुना।

शांति-संधियाँ

जनवरी और जून 1919 के बीच विजयी शक्तियों (मित्र राष्ट्रों) का एक सम्मेलन पहले पेरिस के उपनगर वरसाइ में और फिर पेरिस में हुआ। हाँलाकि इस सम्मेलन में 27 देश भाग ले रहे थे, मगर शांति-संधियों की शर्तें केवल तीन देश-ब्रिटेन, फ्रांस और अमरीका तय कर रहे थे। शांति-संधियों की शर्तें निर्धारित करने में जिन तीन व्यक्तियों ने निर्णायक भूमिका निभाई, वे थे — अमरीकी राष्ट्रपति वुडरो विल्सन, ब्रिटेन के प्रधानमंत्री लायड जार्ज और फ्रांस

के प्रधानमंत्री जार्ज क्लेमेंसो। सम्मेलन में पराजित देशों को कोई प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया। विजेता देशों ने सम्मेलन से रूस को भी बाहर रखा। इस तरह इस संधि की शर्तें पराजित और विजेता देशों के बीच बातचीत के द्वारा नहीं तय हुईं बल्कि वे विजेताओं द्वारा पराजित देशों पर लादी गईं।

युद्ध के बाद मुख्य संधि जर्मनी के साथ 28 जून 1919 को हुई। इसे वरसाइ की संधि कहते हैं। जर्मनी की गणतांत्रिक सरकार को युद्ध की धमकी देकर इस संधि पर हस्ताक्षर करने के लिए मजबूर किया गया। संधि में जर्मनी और उसके सहयोगियों को आक्रमण का दोषी ठहराया गया। फ्रांस को अल्सास-लोरेन वापस दे दिया गया। सार नामक जर्मन क्षेत्र की कोयला खदानें 15 वर्षों के लिए फ्रांस को दे दी गईं, और यह क्षेत्र राष्ट्रसंघ (लीग आफ नेशंस) के प्रशासन में आ गया। जर्मनी को अपने युद्धपूर्व क्षेत्र का कुछ भाग डेनमार्क, बेल्जियम, पोलैंड और चेकोस्लोवाकिया को भी देना पड़ा। राइन नदी के घाटी क्षेत्र को सेनारहित करने का फैसला किया गया। संधि में जर्मनी के निरस्त्रीकरण की व्यवस्थाएँ भी थीं। उसे अपनी सेना को घटाकर एक लाख करना था और वायुसेना और पनडुब्बियाँ रखने का अधिकार उससे छीन लिया गया। जर्मनी के सारे उपनिवेश उससे छीनकर विजेताओं को दे दिए गए। टोगो और कैमरून को ब्रिटेन और फ्रांस ने आपस में बाँट लिया। दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका और पूर्वी अफ्रीका में स्थित जर्मन उपनिवेश ब्रिटेन, बेल्जियम , दक्षिण अफ्रीका और पुर्तगाल को दे दिए गए। प्रशांत क्षेत्र में स्थित उसके उपनिवेश तथा चीन में उसके सारे अधिकार-क्षेत्र जापान को दे दिए गए। युद्ध के दौरान चीन मित्र राष्ट्रों का सहयोगी था और पेरिस सम्मेलन में उसका प्रतिनिधि भी शामिल हुआ था पर जर्मनी के अधिकार या नियंत्रण करने वाले चीनी क्षेत्र चीन को नहीं लौटाए गए बल्कि वे जापान को दे दिए गए। युद्ध में मित्र राष्ट्रों को जो हानि-और क्षति हुई थी, उसका हरजाना भी जर्मनी को भरना पड़ा। उसके लिए 6 अरब 50 करोड़ पौंड की भारी रकम निश्चित की गई।

जर्मनी के सहयोगियों के साथ अलग से संधियाँ की गईं। आस्ट्रिया-हंगरी को विभाजित कर दिया गया। आस्ट्रिया से कहा गया कि वह हंगरी, चेकोस्लोवाकिया, यूगोस्लाविया और पोलैंड की स्वाधीनता को मान्यता दे । उसे अपने क्षेत्र भी इन देशों को और इटली को देने पड़े। बल्कान क्षेत्र में अनेक परिवर्तन किए गए। अनेक नए राज्य बनाए गए और उनके बीच भूभागों का हस्तांतरण किया गया। बाल्टिक राज्य जो रूसी साम्राज्य के भाग थे, स्वतंत्र घोषित कर दिए गए। तुर्की के साथ की गई संधि में उस्मानिया साम्राज्य को पूरी तरह छिन्न-भिन्न कर दिया गया। ब्रिटेन को फिलिस्तीन और मेसोपोटामिया (इराक) दे दिए गए और फ्रांस को सीरिया दे दिया गया। क्षेत्रों और देशों का यह हस्तांतरण जिस व्यवस्था के तहत किया गया उसे "शासनादेश"(मैंडेट) कहा जाता है। सिद्धांत रूप से "शासनादेश" पाने वाली शक्तियाँ अर्थात ब्रिटेन और फ्रांस को इन देशों की जनता कि हितों के लिए शासन चलाना था। पर वास्तव में उनका शासन उपनिवेशों की तरह किया जाने लगा। तुर्की के क्षेत्र का अधिकांश भाग यूनान और इटली को दे दिया गया और खुद तुर्की को एक बहुत छोटा-सा राज्य बनाने का निर्णय लिया गया। मगर फिर तुर्की में मुस्तफा कमाल के नेतृत्व में एक क्राँति हुई जिसमें सुल्तान को सत्ता से हटा दिया गया और तुर्की को 1922 में गणराज्य घोषित कर दिया गया। तुर्की ने एशिया माइनर और कुस्तुंतुनिया शहर (आज का इस्तंबोल) पर फिर से अधिकार कर लिया और मित्र राष्ट्रों को उसके साथ पहले की गई संधि रद्द करनी पड़ी।

इन शांति-संधियों का एक प्रमुख अंग था-राष्ट्रसंघ (लीग आफ नेशंस) का प्रसंविदा (कोवेनेंट)। राष्ट्रपति विल्सन के 14 सूत्रों में शांति बनाए रखने के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना और सभी राज्यों की स्वतंत्रता की ज़मानत भी शामिल थी। इस तरह राष्ट्रसंघ की स्थापना हुई। इरादा था कि उससे सभी स्वतंत्र राज्यों का एक विश्व संगठन बनाया जाएगा। इसके लक्ष्य थे शांति और सुरक्षा बनाए रखना, अंतर्राष्ट्रीय झगड़ों का शांतिपूर्ण निपटारा करना और सदस्य-देशों को "युद्ध का सहारा न लेने के लिए" बाध्य करना। इसका एक महत्वपूर्ण प्रावधान प्रतिबंधों (सैंक्शन्स) से संबंधित था। इसके अनुसार किसी भी आक्रमणकारी देश के खिलाफ आर्थिक

और सैनिक कारवाई करना शामिल था। इसके अनुसार सदस्य देशों को अपने यहाँ श्रमिकों की दशा और सामाजिक स्थिति सुधारने के लिए वचनबद्ध किया गया। इस उद्देश्य से अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की स्थापना हुई जो आज भी संयुक्त राष्ट्र संघ की एक विशेषीकृत एजेंसी है।

मगर शांति और राष्ट्रों की स्वतंत्रता बनाए रखने के लिए सही अर्थों में एक विश्व संगठन बनाने की जो आशा थी, वह लीग की स्थापना से पूरी न हो सकी। दो प्रमुख देशों, जर्मनी और सोवियत संघ, को वर्षों तक इसका सदस्य बनने नहीं दिया गया। दूसरी तरफ़ भारत स्वतंत्र राष्ट्र न था, पर उसे सदस्य बना लिया गया। लीग की स्थापना में महत्वपूर्ण भूमिका संयुक्त राज्य अमरीका ने निभाई थी, पर उसी ने अंत में इसमें न शामिल होने का फैसला किया। लीग कभी एक प्रभावशाली संगठन नहीं बन सकी। चौथे दशक में जब कुछ देशों ने अन्य देशों पर आक्रमण किए तब लीग को या तो अनदेखा किया गया या सफलतापूर्वक उसकी अवहेलना की गई।

शांति-संधियों की एक महत्वपूर्ण विशेषता थी-पराजित देशों के उपनिवेशों के प्रति उसका रवैया। इसी से इन संधियों की विशेषताओं का पता चलता है कि युद्ध की लूट के बँटवारे के लिए मित्रराष्ट्रों ने आपस में अनेक गुप्त समझौते किए थे। युद्ध के साम्राज्यवादी चरित्र को सिद्ध करने के लिए सोवियत सरकार ने इन संधियों का भंडाफोड़ कर दिया। युद्ध के दौरान मित्रराष्ट्र दावा करते रहे कि यह युद्ध स्वतंत्रता और लोकतंत्र के लिए लड़ा जा रहा है। राष्ट्रपति विल्सन ने कहा था कि युद्ध "विश्व को लोकतंत्र के लिए एक सुरक्षित स्थान बनाने के लिए'' लड़ा जा रहा है। सोवियत सरकार ने जब उपर्युक्त गुप्त संधियों को प्रकाशित किया तो इन दावों की धज्जियाँ उड़ गईं। मगर जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इन सब बातों के बावजूद विजेता देशों ने पराजित देशों के उपनिवेश आपस में बाँट लिए। बेशक सभी गुप्त संधियों का निषेध करने वाले सोवियत संघ को इस लूट का कोई भी भाग नहीं मिला यद्यपि रूसी सम्राट के साथ इसका वादा किया गया था। लूट की इस बंदरबाँट को राष्ट्रसंघ ने भी मान्यता दे दी। जैसाकि कहा जा चुका है, जर्मनी और तुर्की के कुछ अधिकार-क्षेत्र जिन्हें ब्रिटेन, फ्रांस और दूसरे देशों को दे दिया गया था, उन्हें "शासनादेश'' कहा गया। सिद्धांत रूप से यह "शासनादेश'' वाले क्षेत्रों का शासन वहाँ की जनता के हित में चलाना था। उन्हें राष्ट्रसंघ के प्रति उत्तरदाई भी ठहराया गया। पर वास्तव में वे इन क्षेत्रों का शासन उपनिवेशों की तरह ही चलाने लगे।

युद्ध और शांति-संधियों के परिणाम

उस समय तक जितने युद्ध हुए थे, प्रथम विश्वयुद्ध उनमें सबसे ज़्यादा विनाशकारी और भयानक था।

जैसाकि कहा जा चुका है, इसमें हुई बरबादी अभूतपूर्व थी। उस युद्ध में लड़ने वालों की संख्या विस्मयकारी थी। विभिन्न अनुमानों के अनुसार 5 करोड़ 30 लाख से लेकर 7 करोड़ तक लोग इस युद्ध में लड़े। लड़ाई में मारे गए या अन्यथा मरने वालों की संख्या 90 लाख बतलाई जाती है, जो युद्ध में भाग लेने वालों की संख्या का लगभग सातवाँ भाग है। लाखों लोग अपंग हो गए। हवाई हमलों, अकालों और महामारियों से भारी संख्या में असैनिक नागरिक मारे गये। इस भयानक जनहानि के अलावा अनेक देशों की अर्थव्यवस्थाएँ छिन्न-भिन्न हो गईं। इससे अनेक गंभीर सामाजिक समस्याएँ खड़ी हुईं। विभिन्न देशों में विकसित हो रही राजनीतिक संस्थाओं को भी धक्का लगा।

इस युद्ध तथा इसके बाद की शांति-संधियों ने दुनिया का और ख़ासकर यूरोप का नक्शा ही बदलकर रख दिया। तीन शासक वंश समाप्त हो गए।युद्ध के दौरान रूस में रोमानोव शासन नष्ट हो गया। बाद में जर्मनी में होहेनज़ोलर्न और आस्ट्रिया-हंगरी में हेब्सबर्ग के शासक वंश समाप्त हो गए। युद्ध के कुछ ही समय बाद तुर्की में उस्मानिया वंश का शासन समाप्त हो गया। आस्ट्रिया और हंगरी दो अलग-अलग स्वतंत्र राज्य बन गए। चेकोस्लोवाकिया और यूगोस्लाविया स्वतंत्र देशों के रूप में उभरे। 18 वीं सदी में पोलैंड को रूस, आस्ट्रिया और प्रशिया ने आपस में बाँट लिया था। अत: वह भी एक स्वतंत्र देश बनकर उभरा।

युद्ध के बाद के दौर में दुनिया में यूरोप का बोलबाला

ख़त्म होना शुरू हो गया। संयुक्त राज्य अमरीका युद्ध के बाद एक विश्वशक्ति बनकर उभरा। वह आर्थिक तथा सैनिक दृष्टि से यूरोप को पीछे छोड़ गया। कुछ ही समय बाद सोवियत संघ भी एक प्रमुख विश्वशक्ति बनकर उभरा। युद्ध के पश्चात एशिया और अफ्रीका के स्वाधीनता आंदोलन भी ताकतवर बने। यूरोप के कमज़ोर होने से तथा सोवियत संघ के उदय और उसके द्वारा राष्ट्रीय स्वाधीनता के संघर्षों को समर्थन की घोषणा से इन संघर्षों की शक्ति बढ़ी। युद्ध के दौरान मित्रराष्ट्रों द्वारा लोकतन्त्र की रक्षा के प्रचार ने तथा यूरोप की लड़ाइयों में एशियाई और अफ्रीकी सैनिकों की भागीदारी ने भी एशिया और अफ्रीका की जनता को जागृत किया। यूरोपीय देशों ने अपने उपनिवेशों के संसाधनों का उपयोग युद्ध में किया था। साम्राज्यवादी देशों द्वारा उपनिवेशों के सैनिकों तथा श्रमिकों की जबरन की गई भर्ती तथा युद्ध के लिए इन उपनिवेशों के संसाधनों के शोषण ने उपनिवेशों की जनता में क्षोभ की भावना पैदा की। औपनिवेशिक देश उपनिवेशों की जनता में इसे मिथक को प्रचारित करते आये थे कि एशिया और अफ्रीका के लोग यूरोपीय लोगों से हीन हैं। युद्ध में एक गुट के देशों के ख़िलाफ़ दूसरे गुट की विजय में एशिया और अफ्रीका के सैनिकों की जो भूमिका रही थी, उसने इस धारणा को तोड़ दिया। अनेक एशियाई नेताओं ने युद्ध-प्रयासों में इस आशा के साथ सहायता की थी कि युद्ध समाप्त होने के बाद उनके देशों को स्वतंत्र कर दिया जायेगा मगर ये आशाएँ पूरी नहीं

हुई। यूरोपीय देशों ने तो आत्मनिर्णय का अधिकार पा लिया मगर एशिया और अफ्रीका के देशों में औपनिवेशिक शासन और शोषण वैसे ही जारी रहे। इन दोनों स्थितियों का अंतर इतना स्पष्ट था कि इनसे निगाहें चूक नहीं सकती थीं। यूरोप के तथा अन्य स्थानों के मोर्चों से जब सैनिक अपने देश वापस आये तो असंतोष और नया जागरण अपने साथ लेकर आए। इन सभी कारणों से उपनिवेशों में राष्ट्रवादी आंदोलनों को बल मिला। कुछ देशों में राष्ट्रवाद की पहली हलचल युद्ध के बाद महसूस की जाने लगी।

विश्वास था कि प्रथम विश्व युद्ध भविष्य में युद्ध की सारी सम्भवानाएँ समाप्त कर देगा। पर ये बात सुनिश्चित करने में शांति-संधियाँ असफल रहीं। इसके विपरीत इन संधियों की कुछ धाराएँ ऐसी थीं जो पराजित देशों के लिए बहुत कड़ी थीं।

इन्होंने भावी युद्धों के बीज बोए। इसी तरह कुछ विजेता देशों की आशाएँ भी पूरी नहीं हुईं और उन्हें लगा कि उनको ठग लिया गया है। यह युद्ध साम्राज्यवाद को समाप्त नहीं कर सका। वास्तव में इसके बाद विजयी देशों ने अपने अधिकार क्षेत्र और भी बढ़ा लिए। जिन कारणों ने साम्राज्यवादी देशों के बीच शत्रुता और टकराव को और इस तरह युद्ध को जन्म दिया था वे वैसे ही बने रहे। इस कारण यह ख़तरा भी बना रहा कि विश्व के पुनः विभाजन के लिए एक बार फिर युद्ध का सहारा लिया जाएगा। सोवियत संघ के उदय को अनेक देशों में वहाँ की तत्कालीन सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के लिए ख़तरा समझा जाने लगा। उसे समाप्त करने का लक्ष्य इन देशों की नीतियों को प्रभावित करने वाला एक कारण बन गया।

ये कारण और इनके साथ अगले बीस वर्षों में होने वाली कुछ घटनाओं ने मिलकर एक और विश्वयुद्ध की परिस्थिति पैदा कर दी।

अभ्यास

जानकारी के लिए

1. 19 वीं सदी के अंतिम वर्षों से 20 वीं सदी के आरंभिक वर्षों तक के काल में यूरोपीय देशों के बीच हुए टकरावों के मूलभूत कारणों की व्याख्या कीजिए।
2. त्रिगुट (ट्रिपल एलायंस) तथा त्रिदेशीय संधि (ट्रिपल आंताँ) में शामिल देश कौन-कौन से थे ? इन गुटों की स्थापना के प्रमुख उद्देश्य क्या थे ?
3. सर्व-स्लाव (पान-स्लाव) आंदोलन से क्या अभिप्राय है ? इसने रूस और आस्ट्रिया के बीच किस तरह टकराव को बढ़ाया ?
4. प्रथम विश्वयुद्ध में अमरीका के शामिल होने के कारणों की व्याख्या कीजिए।
5. जो युद्ध 1914 में भड़का उसे प्रथम विश्व युद्ध क्यों कहा जाता है ?
6. जर्मनी, आस्ट्रिया-हंगरी और तुर्की पर प्रथम विश्वयुद्ध के जो प्रभाव पड़े, उनकी व्याख्या कीजिए।
7. राष्ट्रसंघ (लीग ऑफ़ नेशंस) की स्थापना किन उद्देश्यों को लेकर हुई ?
8. 1917 की क्रांति के बाद रूस युद्ध से क्यों अलग हो गया ?

करने के लिए

1. विश्व के मानचित्र पर एशिया और अफ्रीका के उन क्षेत्रों को दर्शाइए जो विभिन्न यूरोपीय देशों के बीच टकराव के कारण बने।

2. विजेता शक्तियों के बीच विश्व का " पुन: विभाजन" किस प्रकार हुआ ? विजेता-देशों ने पराजित देशों के जिन क्षेत्रों पर अधिकार कर लिया उन्हें दशति हुए एक मानचित्र बनाइये।
3. राष्ट्रपति विल्सन के 14 सूत्रों का और युद्ध के बाद हुई शांति संधियों का अध्ययन कीजिए। एक तुलनात्मक सूची बनाकर दिखाइये कि 14 सूत्री कार्यक्रम की कौन सी बातें शांति संधियाँ में शामिल की गई और कौन-सी नहीं।

सोचने और विचार-विमर्श के लिए

1. साम्राज्यवादी प्रतिस्पर्धाएँ किस हद तक प्रथम विश्व युद्ध का मूलभूत कारण थीं ?
2. क्या आप सोचते हैं कि शांति-संधियों से एक न्यायपूर्ण और स्थायी शांति की बुनियाद पड़ी ? तर्क सहित उत्तर की पुष्टि कीजिए।
3. एक छोटी सी घटना एक विश्वयुद्ध के छिड़ने का कारण बन गई। कैसे ? इस विषय पर अपने विचार प्रस्तुत कीजिए।

अध्याय 3

रूस की क्रांति

बीसवीं सदी के प्रारंभिक वर्षों तक आते-आते यूरोप के अनेक देशों में समाजवाद के विचारों पर आधारित राजनीतिक आंदोलनों का उदय हो चुका था। मगर प्रथम विश्व युद्ध के छिड़ने के कारण यूरोप के अधिकांश देशों में समाजवादी आंदोलन को एक धक्का लगा। फिर भी इस काल में रूस में क्रांति अंदर ही अंदर पक रही थी। 1917 में रूस में एक क्रांति हुई, जिसने कई दशकों तक विश्व-इतिहास की दिशा को प्रभावित किया।

क्रांति से पहले रूस की परिस्थितियाँ

लगभग पूरे यूरोप में 19 वीं सदी में महत्वपूर्ण सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक परिवर्तन हुए। इनमें से अधिकांश देश फ्रांस की तरह के गणराज्य थे या इंग्लैंड की तरह के सांविधानिक राजतंत्र। पुराने सामंती अभिजातों के शासन की जगह नए मध्यवर्गों ने शासन की डोर संभाल ली थी। परंतु रूस ज़ार के शासन में अभी भी अपनी "पुरानी दुनिया" में जी रहा था। (रूसी सम्राटों को ज़ार कहा जाता था।) 1861 में कृषि-दास प्रथा का उन्मूलन हो चुका था मगर इससे किसानों की दशा नहीं सुधरी। उनकी जोतें अभी भी बहुत छोटी-छोटी थीं और उनको विकसित करने की पूँजी भी किसानों के पास न थी। उन्हें छोटी-छोटी जोतें पाने के लिए भी अनेक दशकों तक मुक्ति कर के रूप में बड़ी-बड़ी रकमें देनी पड़ीं। किसानों की 'ज़मीन की भूख' रूसी समाज का एक महत्वपूर्ण सामाजिक तथ्य था।

रूस में उद्योगीकरण का आरंभ बहुत देर से, उन्नीसवीं सदी के उत्तरार्ध में हुआ। फिर इसकी गति अच्छी-ख़ासी तेज़ रही, मगर निवेश के लिए आधी से अधिक पूँजी विदेशों से आई। विदेशी निवेशकों की दिलचस्पी आसानी से मुनाफ़ा बटोरने में थी और मज़दूरों की दशा सुधारने की उन्हें कोई चिंता न थी। अपर्याप्त पूँजी होने के कारण रूसी पूँजीपति मज़दूरों की मज़दूरियाँ घटाकर विदेशी निवेशकों से मुकाबला करने के प्रयास करते थे। कारखाने चाहे विदेशियों के हों या रूसियों के, काम की परिस्थिति भयानक थीं। मज़दूरों को कोई राजनीतिक अधिकार प्राप्त न थे और न ही मामूली सुधार भी लागू करवाने के साधन उनके पास थे। मार्क्स के ये शब्द कि मज़दूरों के पास "खोने के लिए अपनी ज़ंजीरों को छोड़कर कुछ भी नहीं है", उनको शब्दश: सही लगते थे।

ज़ारों की रूसी राजसत्ता आधुनिक युग की आवश्यकताओं से एकदम मेल नहीं खाती थी। जिस ज़ार निकोलस द्वितीय के शासन में क्रांति हुई, वह स्वयं भी राजाओं के दैवी अधिकारों में विश्वास करता था। निरंकुशतंत्र की रक्षा को वह अपना परम कर्तव्य मानता था। ज़ार के समर्थक केवल कुलीन वर्ग और पुरोहितों के ऊपरी दर्जे के लोग थे। विशाल रूसी साम्राज्य की जनसंख्या का शेष भाग उसका विरोधी था। ज़ारों ने नौकरशाही का जो ढाँचा खड़ा किया था उसमें सारे अधिकार ऊपर के लोगों के हाथों में थे। वह नौकरशाही लचकीली और कुशल न थी और इसके सदस्य किसी योग्यता के बल पर नहीं बल्कि विशेषाधिकार-प्राप्त वर्गों से चुने जाते थे।

यूरोप और एशिया की विभिन्न ज़ातियों को पराजित

करके रूसी जारों ने अपना विशाल साम्राज्य खड़ा किया था। इन जीते हुए क्षेत्रों में उन्होंने रूसी भाषा लादी तथा इन क्षेत्रों की जनता की संस्कृतियों का महत्व कम करने की कोशिश की। रूस के साम्राज्यवादी प्रसार ने उसे टकरावों में भी उलझाया और फलस्वरूप होने वाले युद्धों ने रूसी राजसत्ता के खोखलेपन को और उजागर किया।

रूस में क्रांतिकारी आंदोलनों का विकास

19 वीं सदी से पहले रूस में अनेक किसान विद्रोह हुए मगर वे सभी कुचल दिए गए। पश्चिमी यूरोप में हो रहे परिवर्तन से अनेक रूसी विचारक प्रभावित थे और वे रूस में भी वैसे ही परिवर्तन होते देखना चाहते थे। उनके प्रयासों ने कृषिदास-प्रथा के उन्मूलन में बहुत सहायता की मगर यह विजय खोखली सिद्ध हुई। एक सांविधानिक लोकतांत्रिक सरकार की दिशा में क्रमिक परिर्वतनों की आशाएँ जल्द ही टूटकर बिखर गईं और लगता था कि क्रमिक सुधार के सारे प्रयास बेकार जाएँगे। रूस में जो परिस्थितियाँ थीं उनमें एक संयत लोकतंत्रवादी या सुधारक का भी क्रांतिकारी बनना अपरिहार्य था। 19 वीं सदी के अंतिम दशकों में एक आंदोलन चला जिसका नारा था "जनता के बीच जाओ"। इस आंदोलन के दौरान बुद्धिजीवी लोग किसानों के बीच अपने विचारों का प्रचार करने लगे।

उद्योगीकरण के आरंभ के बाद जब मज़दूरों के संगठन बने तो उन पर समाजवादी विचारों का प्रभाव था। 1883 में मार्क्स के एक अनुयायी ज्यार्ज़ी प्लेखानोव ने 'रूसी सामाजिक लोकतांत्रिक पार्टी' का गठन किया। यह पार्टी 1898 में दूसरे अनेक समाजवादी गुटों से मिलकर 'रूसी सामाजिक लोकतांत्रिक मज़दूर पार्टी' बन गई। मगर संगठन और नीतियों के सवालों पर जल्द ही यह पार्टी दो टुकड़ों में बँट गई। जो भाग अल्पमत में था (अल्पमत के कारण इसे मेनशेविक कहा जाता है) वह इस प्रकार की पार्टी के पक्ष में था जैसी फ्रांस और जर्मनी में थीं और जो अपने-अपने देश के संसद के चुनावों में भाग लेती थी। मगर बहुमतवाला भाग, जो "बोल्शेविक" कहलाता था, इस मत का था कि एक ऐसे देश में, जहाँ कोई लोकतांत्रिक अधिकार न हो और जहाँ कोई संसद न हो, संसदीय सिद्धांत पर आधारित कोई पार्टी कोई परिवर्तन ला सकने में समर्थ नहीं होगी। वे ऐसे लोगों की पार्टी चाहते थे जो पार्टी के अनुशासन से बँधकर क्रांति के लिए काम करें।

बोल्शेविकों के नेता ब्लादिमीर इलिइच उल्यानोव थे जिन्हें आम तौर पर लेनिन के नाम से जाना जाता है। उन्हें मार्क्स और एंगेल्स के बाद समाजवादी आंदोलन के सबसे बड़े नेताओं में गिना जाता है। क्रांति के एक साधन के रूप में बोल्शेविक पार्टी गठित करने के काम में उन्होंने अपना जीवन लगा दिया। उनका नाम 1917 की रूसी क्रांति से एकाकार हो चुका है। प्लेखानोव और लेनिन समेत सभी रूसी समाजवादियों की प्रमुख भूमिका रही।

मेनशेविक और बोल्शेविक पार्टियों (जो औद्योगिक मजदूरों की राजनीतिक पार्टियाँ थीं) के अलावा एक 'समाजवादी क्रांतिकारी पार्टी' भी थी जो किसानों की माँगें उठाती थी। इसके अलावा रूसी साम्राज्य की ग़ैर-रूसी ज़ातियों की पार्टियाँ थीं जो औपनिवेशिक दमन से अपने-अपने क्षेत्रों की मुक्ति के लिए प्रयासरत थीं।

जब 1905 में एक क्रांति फूटी तब रूस में क्रांतिकारी आंदोलन तेज़ी से आगे बढ रहा था। 1904 में रूस और जापान के बीच एक युद्ध में रूसी फौजों को मुँह की खानी पड़ी। रूस के क्रांतिकारी आंदोलन को इससे और भी बल मिला। 9 जनवरी 1905 को जब मज़दूर अपने बीवी-बच्चों के साथ एक शांतिपूर्ण जुलूस में ज़ार को एक प्रार्थनापत्र देने उसके सेंट पीटर्सबर्ग स्थित शिशिर प्रासाद जा रहे थे तब उन पर गोलियाँ बरसाई गईं। एक हज़ार से अधिक मज़दूर मारे गए और हज़ारों अन्य घायल हुए। इस दिन को "खूनी रविवार" कहा जाता है। इस नरसंहार की ख़बर फैलने पर पूरे रूस में अभूतपूर्व उथल-पुथल आरंभ हो गई। सेना और नौसेना के कुछ भागों ने भी विद्रोह कर दिया। जंगी जहाज़ "पोतेम्किन" के नाविक भी क्रांतिकारियों से आ मिले। इस क्रांति के दौरान संगठन का एक नया रूप उभरा जो 1917 की क्रांति में निर्णायक महत्व वाला सिद्ध हुआ। इस संगठन को "सोवियत" अर्थात मज़दूरों के प्रतिनिधियों की परिषद कहा जाता है। आरंभ में ये हड़ताल चलाने वाली कमेटियाँ थी जो आगे चलकर राजनीतिक सत्ता के साधन बन गईं। किसानों की सोवियतें भी बनीं।

अक्तूबर में ज़ार को झुकना पड़ा। उसने अपना एक

1905 की क्रान्ति के दौरान एक घटना को चित्रित करने वाली आइज़ेंस्टाइन की प्रसिद्ध फिल्म "बैटलशिप पोतेम्किन" का एक दृश्य

घोषणा-पत्र सामने रखा जिसमें भाषण, प्रेस और संगठन की स्वतंत्रता दी गई तथा "दूमा" नाम की एक निर्वाचित संस्था को कानून बनाने का अधिकार दिया गया। ज़ार के इस घोषणा पत्र में ऐसे सिद्धांत शामिल थे जो रूस को भी इंग्लैंड की तरह का एक सांविधानिक राजतंत्र बना सकते थे। मगर ज़ार जल्द ही वादों से मुकर कर अपने पुराने ढर्रे पर आ गया। अब क्रमिक सुधारों की और आशा न रही। 1905 की रूसी क्रांति 1917 में होने वाली क्रांति का पूर्वाभ्यास सिद्ध हुई। इसने जनता को जागरूक बनाकर क्रांति के लिए तैयार किया। इसके कारण फ़ौजी तथा ग़ैर-रूसी जातियों के लोग रूसी क्रांतिकारियों के घनिष्ठ संपर्क में आए।

कुस्तुंतुनिया और दार्दनेल्स जलडमरूमध्य पर कब्ज़ा करने की अपनी साम्राज्यी आकांक्षा को पूरी करने के लिए ज़ार ने रूस को प्रथम विश्व युद्ध में झोंक दिया। यह उसके लिए घातक सिद्ध हुआ और रूसी निरंकुशतंत्र का अंत इसके कारण हो गया। ज़ार की राजसत्ता कोई आधुनिक युद्ध चला सकने में असमर्थ थी। राजपरिवार के नैतिक पतन ने हालत को और बिगाड़ दिया। निकोलस द्वितीय पूरी तरह अपनी पत्नी के दबाव में था जो स्वयं एक ढोंगी साधु रास्पुतिन के कहने पर चलती थी। एक तरह से सरकार यही व्यक्ति चलाता था। राज्य में व्याप्त भ्रष्टाचार ने जनता को घोर कष्ट दिए। भोजन की कमी पड़ गई। रूसी सेना की बुरी तरह हार हुई। मोर्चे पर लड़ रहे सैनिकों की दशा पर सरकार का एकदम ध्यान न था। फ़रवरी 1917 तक युद्ध में 6 लाख सैनिक मारे जा चुके थे। पूरे साम्राज्य में और सेना में भी असंतोष फैल रहा था। क्रांति के लिए स्थिति परिपक्व थी। "एक सफल क्रांति का बुनियादी नियम" सामने रखते हुए लेनिन ने इसकी दो शर्तें बतलाई थीं — "जनता पूरी तरह समझे कि क्रांति आवश्यक है और उसके लिए बलिदान देने को तैयार हो और दूसरे, मौजूदा सरकार

संकट से ग्रस्त हो ताकि उसे बलपूर्वक हटा सकना संभव हो।" 1917 में रूस में ऐसी स्थिति निश्चित ही आ चुकी थी।

क्रांति का आरंभ

छोटी-छोटी घटनाएँ अक्सर ही क्रांति भड़का देती हैं। रूसी क्रांति की शुरुआत के लिए ऐसी ही एक छोटी घटना थी — रोटी ख़रीदने के प्रयास कर रही मज़दूर औरतों का एक प्रदर्शन। फिर मज़दूरों की एक आम हड़ताल हुई जिसमें सैनिक और अन्य लोग भी शामिल हो गए। 12 मार्च 1917 को राजधानी सेंट पीटर्सबर्ग (बाद में इसका नाम पेत्रोग्राद पड़ा और फिर इसका नाम लेनिनग्राद पड़ा। सोवियत संघ के पतन के बाद पुन: इसका नाम सेंट पीटर्सबर्ग हो गया है) क्रांतिकारियों के हाथों में आ गई। क्रांतिकारियों ने जल्द ही मास्को पर भी कब्ज़ा कर लिया। ज़ार शासन छोड़ कर भाग गया और 15 मार्च को पहली अस्थायी सरकार बनी। ज़ार के प्रति रूसी जनता की नफरत के भाव को अभिव्यक्त करते हुए उसके पतन पर प्रसिद्ध कवि मायकोवस्की ने लिखा :

"दातों से चबाए हुए चुरट के सिरे की तरह हमने
उनके राज़वंश को थूककर फेंक दिया।"

ज़ार के पतन की इस घटना को फ़रवरी की क्रांति कहा जाता है क्योंकि पुराने रूसी कैलेंडर के अनुसार यह 27 फ़रवरी 1917 को घटित हुई थी मगर ज़ार का पतन क्रांति का आरंभ-मात्र था।

जनता की सबसे महत्वपूर्ण चार माँगे थी : शांति, ज़मीन की मल्कियत जोतने वाले को, कारख़ानों पर मज़दूरों का नियंत्रण, और ग़ैर-रूसी ज़ातियों को समानता का दर्जा। अस्थायी सरकार का प्रधान केरेन्सकी नामक एक व्यक्ति था। वह इनमें से किसी भी माँग को पूरा नहीं कर सका और सरकार जनता का समर्थन खो बैठी। लेनिन फ़रवरी की क्रांति के समय स्विटज़रलैंड में निर्वासन का जीवन बिता रहे थे, वे अप्रैल मे रूस लौट आए। उनके नेतृत्व में बोल्शेविक पार्टी ने युद्ध समाप्त करने, किसानों को ज़मीन देने तथा "सारे अधिकार सोवियतों को देने" की स्पष्ट नीतियाँ सामने रखीं। ग़ैर-रूसी ज़ातियों के सवाल पर केवल बोल्शेविक पार्टी ही ऐसी थी जिसके पास एक स्पष्ट नीति थी।

लेनिन ने कभी रूसी साम्राज्य को "राष्ट्रों का कारागार" कहा था और यह घोषणा की थी कि सभी गैर-रूसी जनगणों को समान अधिकार दिए बिना कभी भी वास्तविक लोकतंत्र की स्थापना नहीं हो सकती। उन्होंने रूसी साम्राज्य के जनगणों समेत सभी ज़नगणों के आत्मनिर्णय के अधिकार की घोषणा की।

केरेन्सकी सरकार की अलोकप्रियता के कारण 7 नवंबर 1917 को उसका पतन उस समय हो गया जबकि उसके मुख्यालय विंटर पैलेस पर नाविकों के एक दल ने कब्ज़ा कर लिया।. 1905 की क्रांति में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाले लियोन त्रात्सकी मई 1917 में रूस लौट आए थे। पेत्रोग्राद सोवियत के प्रमुख़ के रूप में नवंबर के विद्रोह के वह एक प्रमुख नेता थे। उसी दिन सोवियतों की अखिल-रूसी कांग्रेस की बैठक हुई और उसने राजनीतिक सत्ता अपने हाथों में ले ली। 7 नवंबर को होने वाली इस घटना को अक्तूबर की क्रांति कहा जाता है क्योंकि उस दिन पुराने रूसी कैलेंडर के अनुसार 25 अक्तूबर की तारीख़ थी।

दूसरे दिन सोवियतों की कांग्रेस ने सभी जनगणों तथा युद्धरत राष्ट्रों के नाम एक घोषणा जारी की कि वे कब्ज़ों और हरज़ानों की माँग किए बिना एक न्यायपूर्ण शांति के लिए वार्ता चलाएँ। फिर रूस युद्ध से अलग हो गया हालाँकि जर्मनी के साथ शांति-संधि पर हस्ताक्षर कुछ समय बाद हुए और शांति की कीमत के रूप में जर्मनी द्वारा माँगे गए इलाके उसे सौंपने पड़े। ज़मीन संबंधी घोषणा के बाद भूस्वामियों, चर्च और ज़ार की ज़ागीरें ज़ब्त करके किसानों की समितियों के हवाले कर दी गईं कि वे उस ज़मीन को बिना मज़दूर रखे अपनी मेहनत से जोतने वाले किसान परिवारों के बीच आबंटित करें। उद्योगों का नियंत्रण मज़दूरों की शॉप कमेटियों के हवाले कर दिया गया। 1918 के मध्य तक बैंक और बीमा कंपनियों, बड़े उद्योगों, ख़दानों, जल-यातायात और रेलों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया, विदेशी कर्ज़े रद्द कर दिए गए और विदेशी पूँज़ी ज़ब्त कर ली गई। जनगण के अधिकारों संबंधी एक घोषणा ज़ारी करके सभी जातियों को आत्मनिर्णय का अधिकार दे दिया गया। लेनिन के नेतृत्व में जन-कमिसार परिषद् नाम से
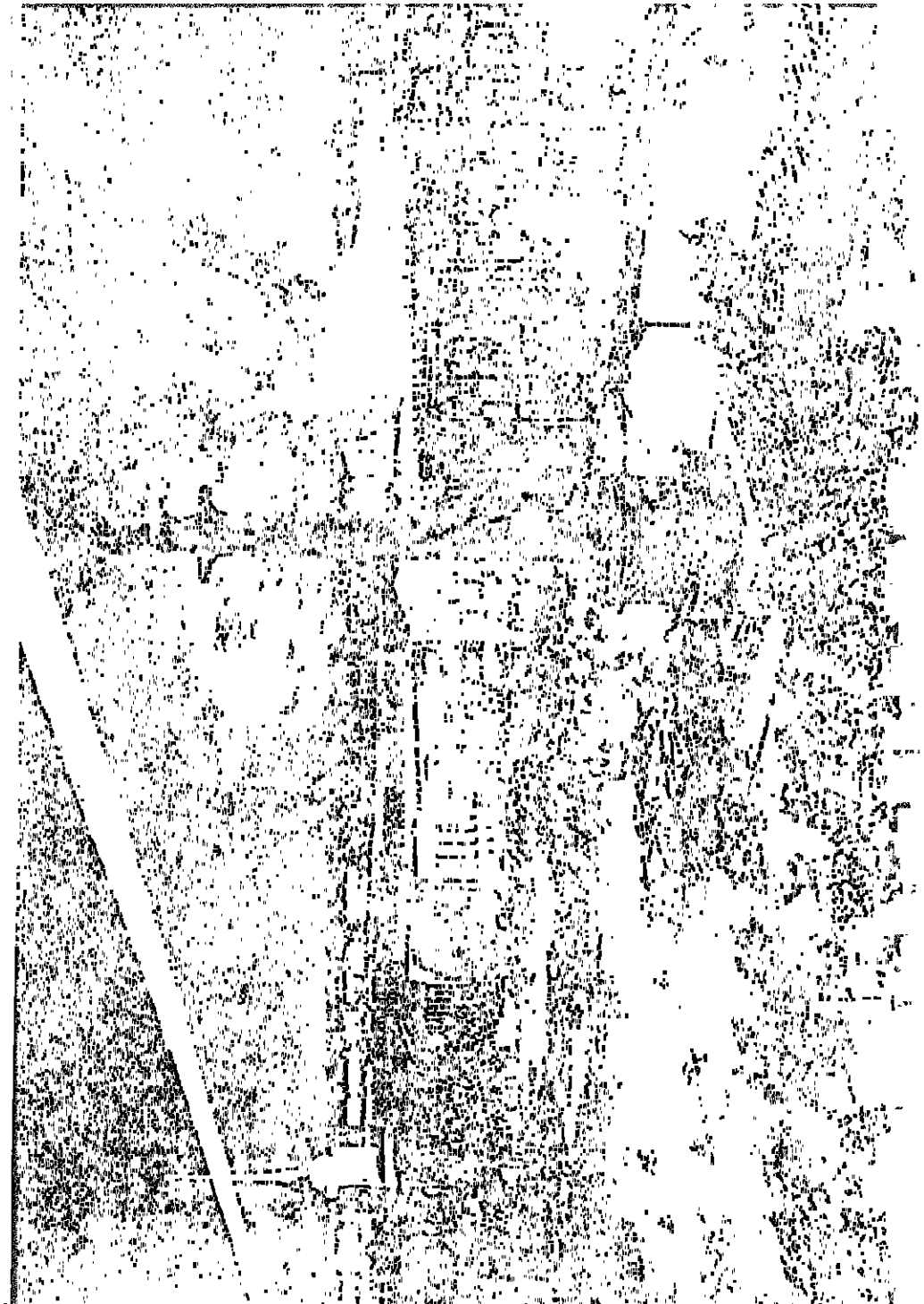
केरेंस्की सरकार के पतन के बाद विंटर पैलेस का एक कक्ष

एक नई सरकार का गठन किया गया। नई सरकार के इन कार्यों को समाजवाद के युग के आरंभ के रूप में स्वागत किया गया।

अक्तूबर की क्रांति लगभग पूरी तरह शांतिपूर्ण थी। क्रांति के दिन पेत्रोग्राद में दो व्यक्ति मारे गए। मगर यह नया राज्य जल्द ही गृह-युद्ध में फँस गया। सत्ताच्युत ज़ार की सेना के कुछ अधिकारियों ने सोवियत राजसत्ता के खिलाफ सशस्त्र विद्रोह छेड़ दिया। इंग्लैंड, फ्रांस, जापान, अमरीका और अन्य देशों की सेनाएँ भी उनके पक्ष में आ गईं। यह युद्ध 1920 तक चला। इस समय तक नए राज्य की "लाल सेना" (रेड आर्मी) ज़ार के पुराने साम्राज्य के लगभग सभी भागों पर अपना नियंत्रण स्थापित कर चुकी थी। यह लाल सेना बुरी तरह साधनहीन थी और इसमें अधिकांशतः मज़दूर और किसान थे। फिर भी उसने अपने से बेहतर साधनों से लैस और बेहतर प्रशिक्षण-प्राप्त सेनाओं पर विजय पाई, जिस तरह अमरीकी और फ्रांसीसी क्रांतियों में नागरिकों की सेनाओं ने विजय प्राप्त की थी।

◀ *7 नवम्बर 1917 को विंटर पैलेस पर धावा*

क्रांति के नतीजे

स्वेच्छाचारी शासन का खात्मा तथा अभिजात वर्ग और चर्च की शक्ति का अंत क्रांति की आरंभिक उपलब्धियाँ थीं। इस क्रांति के बाद ज़ार का साम्राज्य नए राज्य में रूपांतरित हो गया। यह नया राज्य सोवियत समाजवादी गणराज्यों का संघ अथवा संक्षेप में सोवियत संघ कहलाया। इस नए राज्य द्वारा निर्धारित नीतियों का मकसद पुराने समाजवादी आदर्शों को प्राप्त करना था जिसका अर्थ यह था कि हर व्यक्ति से उसकी क्षमता के अनुसार काम लिया जाए और काम के मुताबिक उसे पारिश्रमिक दिया जाए। अब निजी संपत्ति उत्पादन का साधन नहीं रह गई, उसे समाप्त कर दिया गया और उत्पादन प्रणाली से व्यक्तिगत लाभ की प्रेरणा को भी खत्म कर दिया गया। ज़बर्दस्त सामाजिक असमानताओं के उन्मूलन के लिए, उन्नत प्रौद्योगिक अर्थव्यवस्था के तेज विकास को ध्यान में रख कर, राज्य ने आर्थिक नियोजन का रास्ता अपनाया। हर मनुष्य के लिए काम करना ज़रूरी हो गया क्योंकि

№ 208
Суббота,
28 октября 1917 г.

ИЗВѢСТІЯ

Центральнаго Исполнительнаго Комитета
и Петроградскаго Совѣта
РАБОЧИХЪ и СОЛДАТСКИХЪ ДЕПУТАТОВЪ.

Въ виду созыва въ теченіи ближайшихъ дней Второго Всероссійскаго Съѣзда Совѣтовъ Крестьянскихъ Депутатовъ, **крестьянъ-делегатовъ** пріѣхавшихъ на Второй Всероссійскій Съѣздъ Совѣтовъ Рабочихъ и Солдатскихъ Депутатовъ **просятъ остаться** для участія въ работахъ этого съѣзда.

रूसी अखबार 'इज़्वेस्तिया' में 28 अक्तूबर 1917 (पुराने रूसी पंचांग के अनुसार) को छपा लेनिन द्वारा हस्ताक्षरित भूमि संबंधी आदेश

जीविका निर्वाह के लिए बिना कमाई के पैसे का स्रोत किसी के पास नहीं रह गया। काम का अधिकार सांविधानिक अधिकार हो गया तथा रोज़गार दिलाना राज्य का कर्त्तव्य बन गया। सारी जनता को शिक्षित करने के काम को उच्च प्राथमिकता दी गई। पहले 1924 में और उसके बाद 1936 में जो संविधान तैयार किया गया, उसमें सोवियत संघ के सभी राष्ट्रों (नेशनालिटीज) को बराबरी का दर्जा दिया गया। विभिन्न राष्ट्रों के जो गणराज्य बने, अपनी भाषा और संस्कृति के विकास के लिए संविधान ने उनको पूरी स्वायत्तता प्रदान की। सोवियत संघ के एशियाई गणराज्यों के लिए ये विकास अधिक महत्व के थे, इसलिए कि यूरोपीय हिस्से में स्थित गणराज्यों की तुलना में एशियाई गणराज्य काफी पिछड़े हुए थे।

क्रांति के कुछ सालों के बाद ही सोवियत संघ विश्वशक्ति के रूप में उभर कर सामने आया। वहाँ जिस प्रकार की सामाजिक और आर्थिक ढाँचे की रचना हुई, उसका बहुतों ने यह कह कर स्वागत किया कि यह नई सभ्यता की शुरुआत है, वहीं कुछ अन्य लोगों ने इस व्यवस्था की निन्दा भी की। इस क्रांति के लगभग 70 सालों के बाद यह व्यवस्था बिखर गई और 1991 में राज्य के रूप में सोवियत संघ का अस्तित्व ही समाप्त हो गया (इस अध्याय में दिए गए नक्शे में उन 15 गणराज्यों को दर्शाया गया है, जिनको मिला कर 1991 के पहले का सोवियत संघ बना था)। अगले दो अध्यायों में सोवियत संघ में हुए कुछ प्रमुख परिवर्तनों के बारे में आप पढ़ेंगे और अपने उदय काल से लेकर पतन के समय तक विश्व की गतिविधियों में इन परिवर्तनों की जो भूमिका रही है, उनकी भी चर्चा इन अध्यायों में की जाएगी।

जहाँ तक विश्व में इसके प्रभाव का सवाल है, इतिहास के पन्नों पर दर्ज़ ऐसी बहुत थोड़ी घटनाएँ हैं जिनसे इस क्रांति की तुलना की जा सकती है। समाजवादी आंदोलन जिन समाजवादी विचारों की वकालत करता आ रहा था और रूसी क्रांति ने जिनको अपनाया उनके बारे में ऐसा माना गया था कि वे सारे विश्व में चरितार्थ हो सकते हैं। रूसी क्रांति इतिहास की पहली सफ़ल क्रांति थी जिसने घोषणा की थी कि उसका लक्ष्य समाजवादी समाज की रचना करना है। इसके चलते विश्व के नक्शे के बहुत बड़े भाग पर नए राज्य का गठन हुआ था, इसलिए बाकी दुनिया में इसका असर न हो, ऐसा संभव नहीं था।

सोवियत क्रांति के तत्काल बाद अंतर्राष्ट्रीय पैमाने पर क्रांतियों को बढ़ावा देने के लिए "कम्युनिस्ट इंटरनेशनल" का गठन हुआ (इसको "तीसरा इंटरनेशनल") अथवा "कोमिंटर्न" भी कहा जाता है) प्रथम विश्व युद्ध के समय समाजवादी आंदोलन में फूट पड़ गई थी। कई समाजवादियों

"भूमि" और "शांति" संबंधी सोवियत सरकार द्वारा ज़ारी की गई घोषणाएँ पढ़ते हुए लोग

के वामपंथी तबकों ने अब आपस में संगठित होकर कम्युनिस्ट पार्टियाँ बनाई तथा अपने को कोमिंटर्न से संबद्ध कर लिया। अन्य देशों में भी कम्युनिस्ट पार्टियाँ गठित की गईं। इनके गठन में अक्सर कोमिंटर्न का सहयोग तथा समर्थन रहता था। इस प्रकार एक संगठन के अंतर्गत अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर कम्युनिस्ट आंदोलन उठ खड़ा हुआ। यही संगठन सारी कम्युनिस्ट पार्टियों के लिए नीति तय करता था तथा वे पार्टियाँ उनके मुताबिक कार्य करती थीं।

सोवियत समाजवादी गणराज्यों का संघ*

(1991 में विघटन से पूर्व)
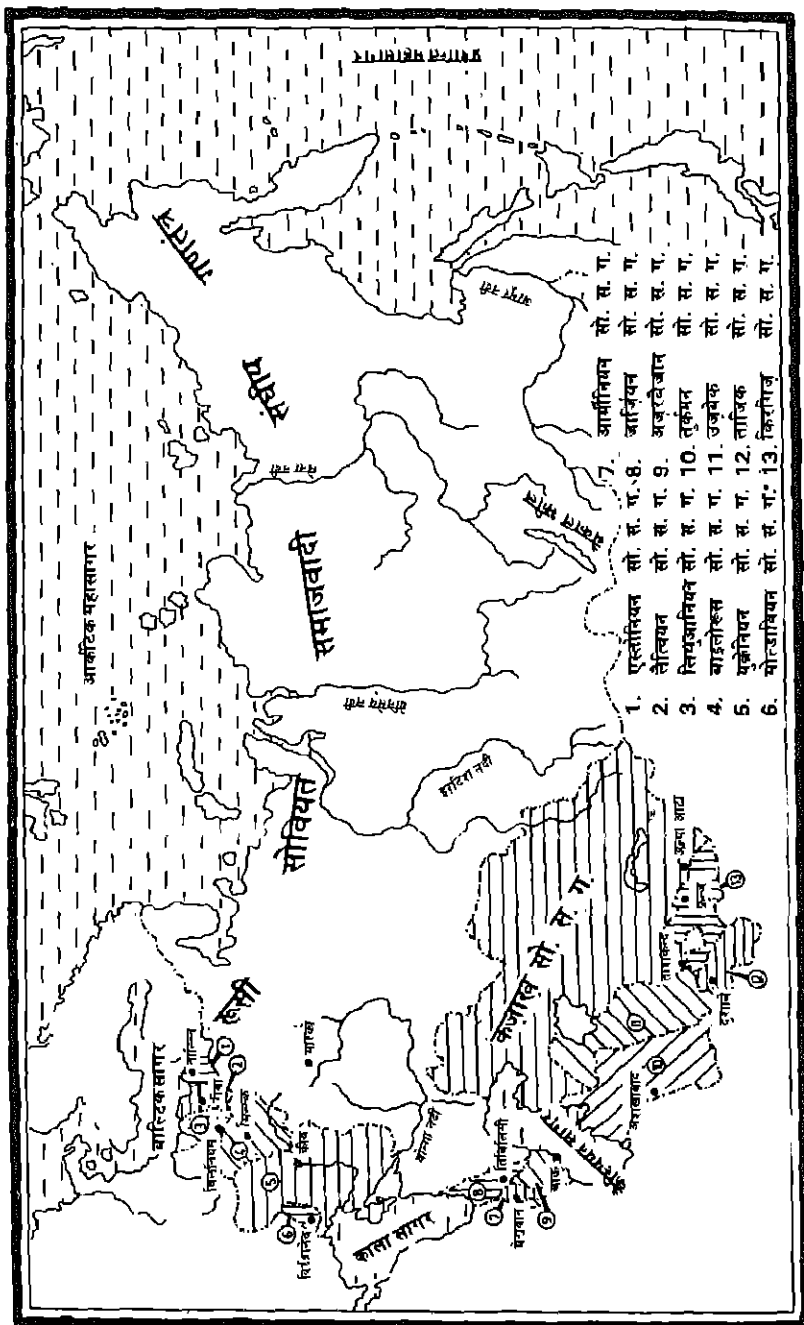
* पृष्ठ 105 पर 15 गणराज्यों के नाम दिये गये हैं।

बोल्शेविक क्रान्ति की दूसरी वर्षगाँठ के अवसर पर लेनिन

विभिन्न देशों की कम्युनिस्ट पार्टियाँ सोवियत संघ को विश्व कम्युनिस्ट आंदोलन का अगुवा मानती थीं और कोमिंटर्न की नीतियों को तय करने में सोवियत संघ की महत्वपूर्ण भूमिका थी। आमतौर पर लोगों का मानना है कि सोवियत संघ अक्सर कोमिंटर्न को अपना उद्देश्य पूरा करने के लिए हथियार के रूप में इस्तेमाल करता था। बहरहाल, रूसी क्रांति के महत्वपूर्ण नतीज़ों पर निगाह डालने पर हम पाते हैं कि इसकी प्रेरणा से अनेक देशों में कम्युनिस्ट पार्टियाँ गठित की गईं, जिनका मकसद क्रांति करना और एक सामान्य नीति पर चलते हुए अपना काम करना था।

कोमिंटर्न के गठन के बाद समाजवादी आंदोलन दो हिस्सों में बंट गया-समाजवादी और साम्यवादी (कम्युनिस्ट)। किस तरीके से समाजवाद कायम किया जा सकता है, और यहाँ तक कि समाजवाद की अवधारणा को लेकर इनमें काफी मतभेद थे। इन मतभेदों के बावजूद अपने उदय के कुछ दशकों के बाद ही समाजवाद एक व्यापक स्वीकृत विचारधारा के रूप में सामने आया। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद समाजवादी विचारों और आंदोलनों का प्रसार काफी बड़े पैमाने पर सामने आया और कहने की आवश्यकता नहीं कि इसका श्रेय बहुत हद तक रूसी क्रांति को जाता है।

समाजवाद की बढ़ती लोकप्रियता और सोवियत संघ की अनेक उपलब्धियों के चलते जनवाद को फिर से परिभाषित करना पड़ा। अधिकांश लोगों का समाजवाद में विश्वास नहीं था लेकिन वे भी यह मानने लगे कि जनवाद को यथार्थ रूप प्रदान करने के लिए, बिना आर्थिक और सामाजिक अधिकारों के, राजनीतिक अधिकार पर्याप्त नहीं हैं। आर्थिक और सामाजिक मामलों को पूंजीपतियों के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता। जनता की हालत सुधारने के लिए अर्थव्यवस्था के नियमन और नियोजन में राज्य की भूमिका के विचार को मान्यता मिल गई। रूसी क्रांति और समाजवादी आंदोलन के कारण बाइबिल का यह विचार फिर से जीवित हो उठा तथा इसे व्यापक रूप से मान्यता मिली कि "जो काम नहीं करता, वह खाएगा भी नहीं" इससे श्रम को गौरव प्राप्त हुआ। नस्ल, रंग और लिंग के आधार पर जो भेदभाव किया जाता था उसे कम करने में भी समाजवादी आंदोलन से मदद मिली।

समाजवादी विचारों के प्रसार ने अंतर्राष्ट्रवाद को प्रोत्साहन दिया। कम से कम सिद्धान्त के स्तर पर ही सही, सभी राष्ट्रों ने यह महसूस किया कि दूसरे राष्ट्रों के साथ उनके संबंध मात्र स्वार्थ पर आधारित नहीं होने चाहिएँ। अनेक समस्याओं को अब तक राष्ट्रीय समस्याएँ माना जाता था, अब उन्हें पूरी दुनिया की चिंता का विषय समझा जाने लगा। सार्वभौमिकता तथा अंतर्राष्ट्रवाद जो आरंभ से ही समाजवादी विचारधारा के मूल सिद्धांत रहे हैं पूरी तरह साम्राज्यवाद के विरोधी थे। रूसी क्रांति ने साम्राज्यवाद के विनाश की प्रक्रिया को तेज़ किया। मार्क्स के अनुसार "किसी दूसरे राष्ट्र को गुलाम बनाने वाला राष्ट्र स्वयं कभी स्वतंत्र नहीं हो सकता"। पूरी दुनिया में समाजवादियों ने सम्राज्यवाद के विनाश के लिए अभियान चलाए हैं।

नए सोवियत राज्य को राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए संघर्ष कर रही औपनिवेशिक जनता का मित्र समझा जाने लगा। क्रांति के बाद रूस यूरोप का एकमात्र ऐसा देश था जिसने

विदेशी शासन से सभी राष्ट्रों की स्वाधीनता के उद्देश्य का खुलकर समर्थन कि ा। क्रांति के फौरन बाद सोवियत संघ ने उन असमान संधियों को रद्द कर दिया जो ज़ार ने चीन पर लाद रखी थीं। चीन के एकीकरण के संघर्ष में उसने सुनयातसेन की तरह-तरह से मदद की। रूसी क्रांति ने स्वाधीनता के आंदोलनों को भी प्रभावित किया और इस प्रभाव के कारण इन आंदोलनों ने अपने लक्ष्यों को और व्यापक बनाकर उसमें योजना-बद्ध आर्थिक विकास के द्वारा सामाजिक और आर्थिक समानता लाने का सिद्धांत भी शामिल कर लिया। अपनी "आत्मकथा" में रूसी क्रांति के बारे में लिखते हुए जवाहर लाल नेहरू ने कहा है कि "इसने मुझे राजनीति के बारे में अधिक सामाजिक परिवर्तन की दृष्टि से सोचने के लिए बाध्य किया।"

अभ्यास

जानकारी के लिए

1. निम्नलिखित शब्दों की व्याख्या कीजिए : बोल्शेविक, मेन्शेविक, फरवरी क्रांति, अक्तूबर क्रान्ति, खूनी रविवार, कम्युनिस्ट इन्टरनेशनल, समाजवाद, उत्पादन के साधन, सोवियत।
2. 1917 की रूसी क्रान्ति के पूर्व की सामाजिक और आर्थिक परिस्थितियों का वर्णन कीजिए। प्रथम विश्वयुद्ध में रूस के भाग लेने से उत्पन्न परिस्थितियाँ किस प्रकार रूसी तानाशाही की गिरावट का कारण बनी ?
3. रूसी क्रांतिकारियों के मुख्य उद्देश्य क्या थे ?
4. अक्तूबर क्रांति का निम्नलिखित पर क्या तत्कालिक प्रभाव पड़ा ?
   (i) रूस के प्रथम विश्वयुद्ध में भाग लेने पर।
   (ii) भूमि के स्वामित्व पर।
   (iii) रूसी साम्राज्य में रहने वाली ग़ैर-रूसी जातियों की स्थिति पर।
5. रूसी क्रांति को जन्म देने वाली परिस्थितियों की संक्षेप में व्याख्या कीजिए। इसके पीछे कौन से प्रमुख विचार कार्यरत थे ?
6. एशिया के स्वतंत्रता-आंदोलनों के प्रति सोवियत संघ के दृष्टिकोण की व्याख्या कीजिए।

करने के लिए

1. प्रदर्शन के लिए रूसी क्रांति से संबंधित चित्र जमा कीजिए। इन चित्रों में देखी जा रही घटनाओं तथा व्यक्तियों की भूमिकाओं का वर्णन कीजिए।
2. रूसी क्रांति से संबंधित दस्तावेज़ (जैसे भूमि और शांति संबंधी राजाज्ञाओं के पाठ) जमा कीजिए तथा बुलेटिन बोर्ड पर प्रदर्शन के लिए उनसे बयानों का चयन कीजिए।

सोचने और विचार-विमर्श के लिए

1. विश्व पर रूसी क्रांति के प्रभाव की चर्चा कीजिए।
2. इस दृष्टिकोण पर विचार-विमर्श कीजिए कि सोवियत संघ में हुए कुछ विकास समाजवाद के विचारों के अनुकूल नहीं थे।

अध्याय 4

विश्व : सन् 1919 से द्वितीय विश्वयुद्ध तक

प्रथम विश्वयुद्ध के समाप्त हुए अभी मुश्किल से बीस वर्ष बीते होंगे कि सन् 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ गया। यह इतिहास का सबसे विनाशकारी युद्ध था, जिससे दुनिया के हर भाग की जनता का जीवन प्रभावित हुआ। प्रथम और द्वितीय विश्वयुद्धों के बीच के बीस वर्ष का काल दुनिया भर में ज़बर्दस्त परिवर्तनों का दौर था। यूरोप में ऐसी अनेक घटनाएँ हुई जिन्होंने द्वितीय विश्वयुद्ध के लिए उपयुक्त वातावरण बनाया। इस काल में एक व्यापक आर्थिक संकट आया जिसने दुनिया के लगभग सारे भागों और खासकर पश्चिम के सबसे उन्नत पूंजीवादी देशों को प्रभावित किया। एशिया और अफ्रीका में इस काल में एक अभूतपूर्व जन जागरण आया जिसका लक्ष्य द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद पूरा हुआ। इस काल में हुए परिवर्तन और विकास द्वितीय विश्वयुद्ध को जन्म देने वाली शक्तियों और कारणों को ही नहीं बल्कि युद्ध के बाद उभरने वाले विश्व को समझने के लिए भी आवश्यक हैं। इस तरह आज के विश्व को समझने में उनका केंद्रीय महत्व है।

दोनों युद्धों के बीच यूरोप

युद्ध के कारण उत्पन्न दुर्दशा ने अनेक देशों की राजनीतिक गतिविधियों को प्रभावित किया। आप पढ़ चुके हैं कि युद्ध के अंतिम दिनों में जर्मनी में एक क्रांति हुई जिसके कारण जर्मनी का सम्राट देश छोड़कर भाग गया और जर्मनी एक गणतंत्र बन गया। गणतंत्र की घोषणा से जर्मनी के क्रांतिकारी संतुष्ट नहीं हुए और जनवरी 1919 में उन्होंने एक और विद्रोह आरंभ कर दिया परंतु विद्रोह को कुचल दिया गया। जर्मन क्रांतिकारी आंदोलन के दो नेताओं – कार्ल लाइबनेख़्ट और रोज़ा लक्ज़मबर्ग की हत्या कर दी गई। हंगरी में भी एक क्रांति हुई परंतु जो क्रांतिकारी सरकार अस्तित्व में आई वह कुछ ही महीनों बाद उलट दी गई। रूसी क्रांति से प्रेरित होकर यूरोप के अनेक दूसरे देशों में भी क्रांतियाँ हुईं जैसे फ़िनलैंड और तीन बाल्टिक राज्यों (लात्विया, एस्तोनिया और लिथुआनिया) में जो पहले रूसी साम्राज्य के भाग थे। परंतु ये सभी क्रांतियाँ कुछ ही समय के बाद कुचल दी गईं। यूरोप के दूसरे भागों में लोगों के जीवन की परिस्थितियों में सुधार लाने के लिए आंदोलन हुए। यूरोप के लगभग हर देश में राजनीतिक स्थिति जटिल थी। इस काल में यूरोप के लगभग हरेक देश में समाजवादी और कम्युनिस्ट पार्टियाँ उभरीं परंतु यूरोप के अनेक देशों में कुछ ही वर्षों में समाजवादी आंदोलन को हार का सामना करना पड़ा और वहाँ तानाशाही सरकारें सत्ता में आईं। इन सरकारों ने केवल समाजवादी आंदोलनों को ही नहीं कुचला बल्कि लोकतंत्र को भी समाप्त कर दिया। इस काल में यूरोप में तानाशाही सरकारों की स्थापना से यूरोप की जनता पर ही नहीं बल्कि पूरे विश्व पर घातक प्रभाव हुए। सबसे भयानक घटना जर्मनी और इटली में फ़ासीवाद की विजय थी जिसने द्वितीय विश्वयुद्ध के लिए मार्ग प्रशस्त किया।

इटली में फ़ासीवाद

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद यूरोप में ऐसे अनेक राजनीतिक आंदोलन हुए जिनको 'फ़ासीवादी' कहा जाता है। इन आंदोलनों की समान विशेषताएँ ये थीं : जनतंत्र और समाजवाद के प्रति शत्रुता का रवैया और तानाशाही स्थापित

करने का लक्ष्य। यूरोप के अनेक देशों जैसे हंगरी, इटली, पोलैंड, पुर्तगाल, जर्मनी और स्पेन में इन्हें सफलता मिली। इटली और जर्मनी में उनकी सफलता के बड़े घातक परिणाम हुए।

'फ़ासीवाद' (Fascism) शब्द इतालवी मूल का है। सबसे पहले इसका प्रयोग इटली में बेनितो मुसोलिनी के नेतृत्व में चले आंदोलन के लिए किया गया। 1919 में मुसोलिनी ने समाजवादियों और कम्युनिस्टों के ख़िलाफ़ हथियारबंद गिरोह संगठित किए थे। आप इटली के एकीकरण और उसकी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं के बारे में पढ़ चुके हैं। इटली की सरकार ने खेतिहर और औद्योगिक मज़दूरों के कल्याण में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई। उनकी दुर्दशा पराकाष्ठा पर पहुँच गई। इसके विपरीत उसने उपनिवेश प्राप्त करने की आशा में इटली को प्रथम विश्वयुद्ध में झोंक दिया। युद्ध में कोई सात लाख इतालवी नागरिक मारे गए। लोगों की हालत और भी बिगड़ गई। इटली में समाजवादी आंदोलन की बढ़ती हुई शक्ति से तत्कालीन व्यवस्था को ख़तरा पैदा हो गया।

इटली के युद्ध में शामिल होने का लक्ष्य उपनिवेश प्राप्त करना था पर शांति-संधियों से उसकी महत्वाकांक्षाएँ पूरी नहीं हुईं। उस समय इटली की सरकार पर पूँजीपतियों और ज़मींदारों का प्रभुत्व था। ये वर्ग लोकतंत्र विरोधी आंदोलनों का समर्थन करने लगे, जिन्होंने उन्हें समाजवाद के ख़तरे से बचाने का और साथ ही उनकी औपनिवेशिक आकांक्षाएँ पूरी करने का भी आश्वासन दिया। मुसोलिनी का आंदोलन इसी तरह का था। ज़मींदारों और उद्योगपतियों ने उसके हथियारबंद दस्तों का इस्तेमाल समाजवादियों और कम्युनिस्टों के ख़िलाफ़ हिंसा के लिए किया। आतंक और हत्याओं का एक सिलसिला आरंभ हो गया परंतु सरकार ने इसे दबाने में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई।

इटली में 1921 में चुनाव हुए परंतु किसी भी पार्टी को बहुमत नहीं मिला और कोई स्थाई सरकार नहीं बनाई जा सकी। मुसोलिनी के गिरोहों द्वारा फैलाए गए आतंक के बावजूद उसकी पार्टी को कुल 35 जगहें मिलीं जबकि समाजवादियों और कम्युनिस्टों को कुल मिलाकर 138 जगहें मिलीं। चुनाव में अपनी ख़राब कारगुज़ारी के बावजूद

अपने अनुयायियों के साथ रोम में मार्च करता हुआ मुसोलिनी (दाएँ से तीसरा)

मुसोलिनी खुले आम सत्ता पर कब्ज़ा करने की बात करने लगा। उसने 28 अक्तूबर 1922 को रोम की ओर एक अभियान आयोजित किया। इटली की सरकार ने मुसोलिनी के स्वयंसेवकों के ख़िलाफ़ कोई प्रतिरोध नहीं दिखाया। उल्टे इटली के सम्राट ने 29 अक्तूबर 1922 को मुसोलिनी को सरकार में शामिल होने के लिए आमंत्रित किया। इस तरह एक भी गोली चलाए बिना फ़ासीवादी मुसोलिनी सत्ता के नेतृत्व में आए।

सरकार पर फ़ासीवादियों के कब्ज़े के बाद इटली में आतंक का राज्य कायम हो गया। समाजवादी आंदोलन को कुचल दिया गया। अनेक समाजवादी और कम्युनिस्ट जेलों में डाल दिए गए। 1926 में मुसोलिनी की पार्टी को छोड़कर शेष सभी पार्टियों पर प्रतिबंध लगा दिया गया। इटली में फ़ासीवाद की विजय ने न केवल लोकतन्त्र को नष्ट किया और समाजवादी आंदोलन का दमन किया, बल्कि युद्ध की तैयारियाँ भी आरंभ हो गईं। फ़ासीवादियों का विश्वास था कि दो या दो से अधिक राष्ट्रों के बीच मेलमिलाप नहीं रह सकता। उनका विचार था कि युद्ध मनुष्य को महान बनाता है। उन्होंने खुलकर विस्तारवाद की नीति की पैरवी की और कहा कि अपना विस्तार न करने वाले राष्ट्र बहुत दिनों तक ज़िंदा नहीं रह सकते।

इटली में फ़ासीवाद की विजय न तो किसी चुनाव में जीत का परिणाम थी और न ही किसी जन विद्रोह का। फ़ासीवादियों को इटली का शासन केवल इसलिए सौंपा गया

कि वहाँ के शासक वर्ग लोकतंत्र और समाजवाद को अपनी सत्ता के लिए ख़तरा समझने लगे थे।

जर्मनी में नाज़ीवाद

इटली में फ़ासीवादियों द्वारा सत्ता हथियाने के ग्यारह वर्षों के भीतर ही जर्मनी में नाज़ीवाद की विजय हुई। नाजीवाद फ़ासीवाद का ही जर्मन रूप था। वह मूल इतालवी फ़ासीवाद से अधिक अनिष्टकर था। एडोल्फ हिटलर के नेतृत्व में नाज़ियों ने आधुनिक युग की सबसे बर्बर तानाशाही स्थापित की।

जर्मन कलाकार काथे कोल्विट्ज द्वारा चित्रित यूरोप में बेरोज़गार लोगों की पीड़ा

आप जर्मनी के एकीकरण और प्रथम विश्वयुद्ध तक जर्मनी के इतिहास के कुछ पहलुओं के बारे में पढ़ चुके हैं। जर्मनी ने अपनी साम्राज्यवादी महत्वाकांक्षाओं को युद्ध के द्वारा पूरी करने की कोशिश की थी, पर उसे पराजय ही मिली थी। प्रथम विश्वयुद्ध के अंतिम दिनों में जर्मनी में हुई क्रांति के कारण जर्मन राजतंत्र का नाश हो चुका था। पर जर्मनी के गणतंत्र बनने के बाद भी राजतंत्र-समर्थक शक्तियाँ बहुत शक्तिशाली बनी रहीं। इन शक्तियों में उद्योगपति, बड़े जमींदार और फौजी अफसर शामिल थे। जर्मनी की गणतांत्रिक सरकार उनकी ताकत ख़त्म नहीं कर सकी। वे अपनी ताकत का विस्तार करने तथा समाजवादी आंदोलन की बढ़ती ताकत को रोकने के लिए लोकतंत्र-विरोधी शक्तियों की ओर झुके जिनका प्रतिनिधित्व नाजीवाद करता था।

'नाजीवाद' (Nazism) शब्द हिटलर द्वारा 1921 में स्थापित पार्टी नेशनल सोशलिस्ट जर्मन वर्कर्स पार्टी – के संक्षिप्त रूप 'नाजी' से निकला है। मुसोलिनी की तरह हिटलर ने भी बर्लिन की ओर एक अभियान आयोजित करके सत्ता हथियाने की योजना बनाई परंतु उसे गिरफ़्तार करके जेल में डाल दिया गया, हालाँकि सज़ा की अवधि पूरी होने से पहले ही उसे छोड़ भी दिया गया। उसने जेल में ही अपनी पुस्तक 'मेरा संघर्ष' (Mein Kampf) लिखी जिसमें नाज़ी आंदोलन के कुछ दानवीय विचार व्यक्त किए गए। उसने बल प्रयोग, बर्बर व्यवहार और एक नेता की महानता और उसके शासन की महिमा का गुणगान किया और अंतर्राष्ट्रवाद, शांति और लोकतंत्र का मखौल उड़ाया। उसने जर्मन यहूदियों के प्रति अत्यंत घृणा का प्रचार किया और उनको प्रथम विश्वयुद्ध में जर्मनी की हार का ही नहीं बल्कि जर्मनी के सभी दोषों का कारण ठहराया। उसने हिंसक राष्ट्रवाद का महिमा मंडन तथा युद्ध का गुणगान किया। नाज़ियों के ये विचार सेना, उद्योगपतियों, बड़े ज़मींदारों और गणतंत्र-विरोधी राजनीतिज्ञों को बहुत प्रिय लगे। वह हिटलर को जर्मनी का मुक्तिदाता समझने लगे।

युद्ध में पराजय तथा वरसाइ संधि की अनुचित व्यवस्थाओं के कारण बहुत से जर्मन अपने को अपमानित महसूस कर रहे थे। नाज़ियों ने अपमान की इस भावना का लाभ उठाया। उन्होंने जनता की तंगहाली का भी फ़ायदा उठाया। युद्ध के लिए मित्रराष्ट्रों द्वारा जर्मनी से हर्जाना लिए जाने के कारण जर्मन जनता की तंगहाली बढ़ी थी। 1929 में सबसे भयानक आर्थिक संकट फूट पड़ा जिसने

दुनिया के सभी पूँजीवादी देशों को प्रभावित किया। आप इसके बारे में आगे पढ़ेंगे। इस संकट के फलस्वरूप जर्मनी के 80 लाख मज़दूर बेकार हो गये जो काम कर सकने वाली जनसंख्या का आधा भाग थे। यही वह काल था जब नाज़ी पार्टी अपना प्रभाव बढ़ाने लगी जो आरंभ में एक षड़यंत्रकारी समूह के अलावा कुछ न थी। उस समय सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी और कम्युनिस्ट पार्टी काफ़ी शक्तिशाली थीं और उसके समर्थकों की संख्या बहुत अधिक थी। मगर ये दोनों पार्टियाँ नाज़ियों के ख़िलाफ़ एकजुट न हो सकीं।

इटली में फ़ासीवाद की विजय की ही तरह जर्मनी में नाज़ीवाद की विजय भी किसी जन विद्रोह का परिणाम न थी। यह मुसोलिनी के रोम-अभियान की तरह किसी दिखावटी बर्लिन-अभियान का परिणाम भी न थी। हिटलर के सत्ता में आने से पहले जो आख़िरी चुनाव हुए थे, उसमें नाज़ी पार्टी को समाजवादियों और कम्युनिस्टों के कुल मतों से कम मत मिले थे। उसे 650 जगहों में से केवल 196 जगहें मिली थीं। हिटलर का सत्ता में आना राजनीतिक षड़यंत्रों का परिणाम था। चुनावों में विफलता के बावजूद राष्ट्रपति ने उसे 30 जनवरी 1933 को जर्मनी का चांसलर नियुक्त कर दिया। उसके सत्ता में आने के कुछ ही सप्ताह के अंदर जर्मनी में लोकतंत्र का ढाँचा बिखर कर रह गया।

नाज़ियों का एक जुलूस, न्यूरमबर्ग, 1936

सत्ता में आने के कुछ ही समय बाद हिटलर ने नए चुनावों के आदेश जारी किए और आतंक का राज्य स्थापित कर दिया। बड़े पैमाने पर नाज़ी विरोधी नेताओं की हत्याएँ कराई गईं। 27 फरवरी 1933 को नाज़ियों ने संसद भवन (Reichstag) को आग लगा दी। अग्निकांड का दोष कम्युनिस्ट पार्टी पर लगाकर उसे कुचल दिया गया। नाज़ियों द्वारा फैलाए गए आतंक के बावजूद उनकी पार्टी को संसद में बहुमत नहीं मिल सका। फिर भी, हिटलर ने 1934 में तानाशाहाना अधिकार प्राप्त कर लिए और राष्ट्रपति भी बन बैठा। मज़दूर संघ कुचल दिए गए। हज़ारों समाजवादियों, कम्युनिस्टों और नाज़ी-विरोधी राजनीतिक नेताओं का सफ़ाया कर दिया गया। नाज़ियों ने बड़े पैमाने पर पुस्तकें जलाने का काम शुरू किया। जर्मनी तथा दूसरे देशों के श्रेष्ठतम लेखकों की कृतियाँ जला दी गईं। समाजवादियों और कम्युनिस्टों के अतिरिक्त यहूदियों को भी अपमान और हिंसा के संगठित अभियानों का शिकार बनाया गया। कुछ ही वर्षों में पूरी तरह उनका अस्तित्व समाप्त कर देने का विचार था। साथ ही सैन्यीकरण का एक विशाल कार्यक्रम शुरू किया गया और युद्ध की तैयारियाँ होने लगीं। नाज़ीवाद की विजय जर्मन जनता के लिए ही नहीं बल्कि संसार के अनेक दूसरे भागों के लिए भी विनाशकारी सिद्ध हुई। उसी ने दूसरे विश्वयुद्ध का आरंभ किया।

इटली और जर्मनी की फ़ासीवादी सरकारों की नीतियों और कार्यवाहियों का, जिनका परिणाम द्वितीय विश्वयुद्ध था, एक अन्य अनुच्छेद में वर्णन किया गया है।

ब्रिटेन और फ़्रांस की घटनाएँ

यूरोप के दो प्रमुख देश – ब्रिटेन और फ़्रांस – फ़ासीवादी आंदोलनों के सामने नहीं झुके, हालाँकि उस समय इन दोनों देशों को गंभीर आर्थिक कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा था। 1921 में ब्रिटेन में 20 लाख लोग बेरोज़गार थे। मज़दूर आंदोलन मज़बूत हो चुका था। उसने काफ़ी प्रगति

मुफ़्त रोटी के लिए नवंबर 1931 में पेरिस में बेरोज़गारों की लंबी कतार

की थी। 1924 में पहली बार लेबर पार्टी की सरकार बनी, हालाँकि वह बहुत दिनों तक टिक नहीं सकी। 1926 में ब्रिटेन के इतिहास की सबसे बड़ी हड़ताल हुई। इसमें 60 लाख मज़दूर शामिल हुए परंतु हड़ताल अंततः असफल हो गई। कुछेक वर्षों के बाद ब्रिटेन विश्वव्यापी आर्थिक संकट से बुरी तरह प्रभावित हुआ। लगभग 30 लाख लोग बेरोज़गार हो गए।

1931 में राष्ट्रीय सरकार बनी जिसमें कंज़र्वेटिव, लिबरल और लेबर पार्टियाँ शामिल हुईं। गंभीर आर्थिक समस्याओं से निबटने के लिए कुछ कदम इस सरकार ने उठाए, पर बेरोज़गारी की समस्या विकट ही बनी रही। जर्मनी में फ़ासीवाद की विजय के बाद ब्रिटेन में भी एक फ़ासीवाद आंदोलन शुरू हुआ पर वह कोई ख़ास सफलता हासिल न कर सका। ब्रिटेन लोकतांत्रिक देश बना रहा।

फ़्रांस की सरकार पर अनेक वर्षों तक बड़े बैंकरों और उद्योगपतियों का दबदबा बना रहा। सरकार को आशा थी कि प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अपने नियंत्रण में आए जर्मन क्षेत्रों के संसाधनों का उपयोग करके वह फ़्रांस को आर्थिक दृष्टि से मज़बूत बना सकेगी पर ये आशाएँ पूरी नहीं हुईं। फ़्रांस में राजनीतिक स्थिरता भी नहीं आ सकी। कई सरकारें सत्ता में आईं और गईं। आर्थिक संकट के कारण राजनीतिक अस्थिरता बढ़ गई और देश में भ्रष्टाचार का बोलबाला हो गया। फ़ासीवादी आंदोलन ने सर उठाया, सड़कों पर हिंसा की घटनाएँ होने लगीं। अंततः फ़ासीवादी तथा दूसरी लोकतंत्र-विरोधी शक्तियों द्वारा प्रस्तुत ख़तरे का सामना करने के लिए 1936 में समाजवादी, रैडिकल सोशलिस्ट और कम्युनिस्ट पार्टियों की मिली-जुली सरकार बनी। पापुलर फ्रंट (जन मोर्चा) नाम से जानी जाने वाली यह सरकार लगभग दो वर्षों तक चली। इस काल में फ़्रांस में अनेक महत्वपूर्ण आर्थिक सुधार किए गए।

इस तरह गंभीर समस्याओं के बावजूद ब्रिटेन और फ़्रांस लोकतंत्र को बचाये रखने में सफल रहे। फिर भी, जैसा कि आप आगे चलकर देखेंगे, इन देशों की विदेश नीति यूरोप के दूसरे भागों में जनतंत्र को बनाए रखने और युद्ध को रोकने में सहायक नहीं हो सकी।

सबसे बड़ी शक्ति के रूप में संयुक्त राज्य का उदय

दुनिया पर यूरोप के दबदबे में कमी और संयुक्त राज्य अमरीका का बढ़ता हुआ महत्व प्रथम विश्वयुद्ध के बाद के काल की प्रमुख विशेषता थी। वास्तव में प्रथम विश्वयुद्ध के समाप्त होने के समय तक वह दुनिया का सबसे धनी और ताकतवर देश बन चुका था। शांति-संधियों के प्रारूप तैयार करने में उसने जो महत्वपूर्ण भूमिका अदा की, उसी

से यह बात स्पष्ट है। युद्ध ने यूरोपीय देशों की अर्थव्यवस्थाओं को भारी नुकसान पहुँचाया, पर इस काल में संयुक्त राज्य की अर्थव्यवस्था और भी मज़बूत हुई। उसने अपार औद्योगिक प्रगति की और यूरोप में भारी मात्रा में पूँजी लगाने लगा। इस प्रगति के बावजूद संयुक्त राज्य अक्सर गंभीर आर्थिक समस्याओं से घिरा रहा। ये समस्याएँ पूँजीवादी व्यवस्था का परिणाम थीं जिनके बारे में आप पहले ही पढ़ चुके हैं।

1929 में आरंभ होने वाले विश्वव्यापी आर्थिक संकट का उल्लेख पहले किया जा चुका है। इस संकट का जन्म संयुक्त राज्य अमरीका में हुआ। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद के वर्षों में संयुक्त राज्य में वस्तुओं के उत्पादन में व्यापक वृद्धि हुई थी। इसके बावजूद आधी से अधिक जनता के पास जीवनयापन के न्यूनतम साधन भी न थे। अक्तूबर 1929 में पूरी अर्थव्यवस्था लड़खड़ाने लगी। न्यू यार्क की स्टाक मार्केट में गिरावट आई। शेयरों के भाव में गिरावट से इतने बड़े पैमाने पर तहलका मचा कि न्यू यार्क के स्टाक एक्सचेंज में एक ही दिन में 160 लाख शेयर बिक गए। कुछ कंपनियों में लोगों के लगे शेयरों का मूल्य एकदम समाप्त हो गया। अगले चार वर्षों में 9000 से अधिक बैंक बंद हो गए और लाखों-लाख लोगों की जीवन भर की बचत पानी में मिल गई। कारखानेदारों और कृषकों को काम में लगाने को धन नहीं मिला और जनता के पास कुछ खरीदने को पैसा न था इसलिए सामान अनबिके रह गए। इससे हज़ारों कारख़ाने बंद हो गए और मज़दूर बेरोज़गार हो गए। इससे जनता की क्रयशक्ति और भी घट गई तथा इस कारण और अधिक कारख़ाने बंद हुए तथा और अधिक लोग बेरोज़गार हुए।

इस स्थिति को आर्थिक मंदी कहते हैं। 1931 में यह मंदी यूरोप के सभी पूँजीवादी देशों तक फैलने लगी। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद रूस को छोड़कर सभी यूरोपीय देशों की अर्थव्यवस्थाएँ संयुक्त राज्य की अर्थव्यवस्था, ख़ासकर अमरीकी बैंकों, से घनिष्ठता से जुड़ चुकी थी, बल्कि उन पर निर्भर ही हो गई थी। यूरोप में मंदी के परिणाम संयुक्त राज्य की तरह ही, या कहें कि उससे भी बदतर रहे। यूरोपीय देशों के उपनिवेशों की अर्थव्यवस्थाएँ भी प्रभावित हुईं।

बड़े पैमाने पर बेरोज़गारी, उत्पादन में कमी, निर्धनता

तबाही के दिन न्यू यार्क सट्टा बाजार क्षेत्र का दृश्य

और भुखमरी इस मंदी के परिणाम थे। यह मंदी सन् 1930 के पूरे दशक में जारी रही, हालाँकि 1933 के बाद प्रभावित देशों की अर्थव्यवस्थाएँ कुछ सँभलने लगी थीं। जब तक यह संकट जारी रहा, यह अत्यंत भयानक रहा तथा दुनिया में बेरोज़गारों की संख्या 5 से 10 करोड़ के बीच घटती-बढ़ती रही। अकेले दुनिया के सबसे धनी देश अमरीका में बेरोज़गारों की संख्या डेढ़ करोड़ से ऊपर थी। हज़ारों कारख़ाने, बैंक, व्यापारिक उद्यम ठप्प पड़ गए। औद्योगिक उत्पादन लगभग 35 प्रतिशत गिरा, बल्कि कुछेक देशों में लगभग आधा रह गया।

यह बात हैरान कर सकती है कि इस संकट का कारण अतिउत्पादन था। आप पढ़ चुके हैं कि पूँजीवाद में कारख़ानों और व्यापारिक उद्यमों के मालिक किस प्रकार अधिक से अधिक वस्तुओं का उत्पादन करके अपने मुनाफ़े को अधिकतम बढ़ाने के प्रयास करते हैं। अगर उत्पादन बढ़े और मज़दूरों की क्रय शक्ति कम बनी रहे तो बिना वस्तुओं के दाम गिराए उन्हें बेचा नहीं जा सकता मगर दाम नहीं गिराए जा सकते, क्योंकि इससे मुनाफ़ों पर असर पड़ता है इसलिए वस्तुएँ अनबिकी रहती हैं और कारख़ाने आगे उत्पादन रोकने के लिए बंद कर दिए जाते हैं। कारख़ाने बंद होने से लोग बेरोज़गार हो जाते हैं इससे स्थिति और बिगड़ती है, क्योंकि उत्पादित हो चुकी वस्तुएँ नहीं बिक पातीं। औद्योगिक क्रांति के फैलने के बाद लगभग हर देश

में ऐसे संकट अक्सर आते रहे हैं। मगर 1929-33 का संकट इतिहास का सबसे बुरा संकट था। इस संकट के दौरान जबकि लाखों लोग भूखों मर रहे थे, कुछ क्षेत्रों में लाखों टन गेहूँ जला दिया गया ताकि गेहूँ के भाव न गिरने पाएँ।

इस आर्थिक संकट के गंभीर राजनीतिक परिणाम हुए। आप पढ़ चुके हैं कि जर्मनी में नाज़ियों ने अपने लोकतंत्र-विरोधी कार्यक्रम को आगे बढ़ाने के लिए जनता के असंतोष का किस प्रकार दुरुपयोग किया। अनेक देशों में भूखों के मार्च आयोजित किए गए और समाजवादी आंदोलन ने आर्थिक प्रणाली में दूरगामी परिवर्तन लाने के लिए ज़ोर दिया ताकि ऐसे संकट फिर से न आएँ। 1929-33 के आर्थिक संकट से प्रभावित न होने वाला अकेला देश सोवियत संघ था।

इस आर्थिक संकट ने संयुक्त राज्य की अर्थव्यवस्था पर सबसे बुरा प्रभाव डाला। इसके कारण डेमोक्रेटिक पार्टी की विजय हुई और 1933 में फ्रैंकलिन डी. रूज़वेल्ट अमरीका के राष्ट्रपति बने। उनके नेतृत्व में अर्थिक पुनर्रचना और सामाजिक कल्याण का एक कार्यक्रम आरंभ हुआ। इस कार्यक्रम को 'नई पेशकश' (न्यू डील) कहा जाता है। मज़दूरों की दशा सुधारने और रोज़गार पैदा करने के उपाय किए गए। 'नई पेशकश' के फलस्वरूप संयुक्त राज्य की अर्थव्यवस्था संकट से उबरी और औद्योगिक उत्पादन फिर से बढ़ चला। फिर भी 1939 में अमरीका में 90 लाख लोग बेरोज़गार पड़े थे।

एक शक्तिशाली देश के रूप में संयुक्त राज्य की स्थिति बनी रही मगर उसकी विदेश नीति ब्रिटेन और फ्रांस की विदेश नीति से बहुत अलग न थी। ब्रिटेन और फ्रांस की तरह उसने भी फ़ासीवादी शक्तियों की आक्रामक गति-विधियों के प्रतिरोध के लिए कड़ा रुख़ तब तक नहीं अपनाया जब तक कि उसे द्वितीय विश्वयुद्ध के आरंभ होने के बाद खुद युद्ध में शामिल नहीं होना पड़ा।

सोवियत संघ का उदय

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद के काल में सोवियत संघ प्रमुख शक्ति के रूप में उभरा और विश्व के मामलों में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करने लगा। ब्रिटेन, फ्रांस, संयुक्त राज्य द्वारा प्रति-क्रांतिकारी शक्तियों की सहायता के लिए रूस में सैनिक हस्तक्षेप का पहले ही ज़िक्र किया जा चुका है। 1920 तक प्रति-क्रांतिकारी शक्तियों की हार हो चुकी थी और विदेशी फौजों को खदेड़ कर बाहर कर दिया गया था।

प्रथम विश्वयुद्ध में रूस की भागीदारी और क्रांति के बाद गृहयुद्ध तथा विदेशी हस्तक्षेप के लंबे काल ने देश की अर्थव्यवस्था को पूरी तरह तहस-नहस कर डाला था। यह जनता के लिए अत्यधिक आर्थिक कष्ट का काल था। भोजन की भयानक कमी थी। औद्योगिक वस्तुओं का उत्पादन युद्ध-पूर्व के स्तर से बहुत नीचे चला गया था। इस भयानक अभाव के दौर में वस्तुओं के वितरण को न्यायोचित बनाने के लिए कुछ कठोर उपाय अपनाए गए। किसानों से उनकी अपनी आवश्यकताओं से अधिक पैदावार ले ली जाती थी। इस अधिक पैदावार को बाज़ार में बेचने की अनुमति उन्हें नहीं थी। वेतन का नकद भुगतान बंद कर दिया गया और इसकी बजाय वेतन खाद्यपदार्थों तथा कारखानों के माल आदि के रूप में दिया जाने लगा। इन उपायों के कारण किसानों तथा समाज के दूसरे वर्गों में असंतोष फैला, पर उन्हें क्रांति की रक्षा के लिए अपरिहार्य मान लिया गया। गृहयुद्ध की समाप्ति के बाद ये उपाय समाप्त कर दिए गए और 1921 में 'नई आर्थिक नीति' की घोषणा की गई। इस नीति के अंतर्गत किसानों को खुले बाज़ार में अपनी पैदावार को बेचने की छूट दी गई, वेतन का नकद भुगतान फिर से आरंभ हुआ और निजी नियंत्रण वाले कुछ उद्योगों को वस्तुओं के उत्पादन और विक्रय की अनुमति दी गई। कुछ वर्षों बाद 1929 में सोवियत संघ ने जब अपनी पहली पंचवर्षीय योजना का आरंभ किया तो आर्थिक पुनर्रचना और औद्योगीकरण का एक ज़ोरदार कार्यक्रम आरंभ हुआ। कुछेक वर्षों में ही सोवियत संघ प्रमुख औद्योगिक शक्ति के रूप में उभरा। सोवियत संघ ने जो व्यापक आर्थिक प्रगति की, वह भारी कठिनाइयों के बीच हुई। हालाँकि विदेशी हस्तक्षेप समाप्त हो चुका था, फिर भी यूरोप के अनेक देश और संयुक्त राज्य क्रांति को नष्ट करने के लिए आर्थिक बहिष्कार की नीति अपना रहे थे तो भी सोवियत संघ न केवल सही-सलामत रहा, बल्कि तेज़ गति से आर्थिक प्रगति भी करता रहा। जैसा कि कहा जा चुका है, वह 1929-33 के आर्थिक संकट से अप्रभावित अकेला देश था। उल्टे, जबकि पश्चिम में लाखों लोग बेरोज़गार थे और हजारों कारख़ाने

ठप्प पड़े थे, सोवियत संघ का औद्योगिक विकास पहले की तरह जारी रहा।

कृषि में महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। क्रांति के बाद ज़मींदारों, चर्च और कुलीन वर्ग की जागीरें ज़ब्त करके किसानों में बाँट दी गई थीं। कुल लगभग ढाई करोड़ जोतें थीं, जिनमें से अधिकांश बहुत छोटी थीं। ये छोटी जोतें बहुत उत्पादक नहीं समझी जाती थीं। उत्पादन बढ़ाने के लिए ट्रैक्टरों और दूसरी खेती की मशीनों का उपयोग आवश्यक समझा गया। यह माना गया कि यह तभी संभव होगा जब जोतों का आकार बड़ा हो, इसके लिए सरकार ने अपने फार्म खोले। इसके अलावा उसने किसानों की छोटी जोतें मिलाकर सामूहिक फार्मों को प्रोत्साहन देने की नीति अपनाई। इन फार्मों में किसानों का व्यक्तिगत स्वामित्व नहीं रहता था और किसान एक साथ मिलकर इन 'सामूहिक फार्मों' पर काम करते थे। सरकार ने सामूहिक खेती की नीति ज़ोर-शोर से चलाई और 1937 तक जोतने योग्य लगभग सारी जमीन सामूहिक फार्मों में बदल चुकी थी। आरंभ में किसानों को सामूहिक फार्मों में शामिल होने या न होने का फैसला करने की स्वतंत्रता थी। बाद में उन्हें इनमें शामिल होने के लिए मजबूर किया गया। धनी किसानों ने सामूहिक खेती का विरोध किया। उनके साथ सख़्ती से पेश आया गया। खेती को सामूहिक रूप देने की इस प्रक्रिया में बहुत अत्याचार हुए। अनुमान के अनुसार इस काल में लाखों लोग मारे गए। इस तरह जहाँ ज़मींदारों का दमन समाप्त किया गया, वहीं खेती के नये रूप का समावेश भी गंभीर समस्याओं और दमन से ख़ाली नहीं था। उद्योगों में भी जहाँ पूँजीपतियों के मुनाफ़े के लिए वस्तुओं का उत्पादन बंद हो गया और देश का तेज़ गति से औद्योगीकरण हुआ, वहीं रोज़मर्रा की आवश्यकता की वस्तुओं के उत्पादन को अनदेखा किया गया।

1917 में क्रांति के प्रमुख केंद्र रूस में थे। बाद के वर्षों में पुराने रूसी साम्राज्य के अनेक दूसरे भागों में भी क्रांति का प्रसार हुआ और ग़ैर-रूसी जातियों वाले क्षेत्रों में भी बोल्शेविक पार्टी और उसके समर्थकों की सरकारें बनीं। 1922 में इन सभी क्षेत्रों को औपचारिक रूप से एकीकृत करके सोवियत समाजवादी गणतंत्र संघ (संक्षेप में सोवियत संघ) का गठन किया गया जो अनेक गणराज्यों का एक संघ था। 1922 में सोवियत संघ में शामिल गणराज्यों की संख्या पाँच थी। 1936 में एक नया संविधान लागू किए जाने के समय उनकी संख्या ग्यारह थी। बाद में सोवियत संघ में सोवियत समाजवादी गणराज्यों की संख्या 15 हो गई।

1924 में लेनिन की मृत्यु के बाद अपनाई जाने वाली नीतियों को लेकर शासक कम्युनिस्ट पार्टी में अनेक गंभीर मतभेद उभरे जो अस्तित्व में रहने वाली अकेली राजनीतिक पार्टी थी। विभिन्न समूहों और अलग-अलग नेताओं के बीच सत्ता के लिए गंभीर संघर्ष भी चल रहे थे। इस संघर्ष में स्तालिन की विजय हुई। 1927 में त्रात्स्की को, जिसने क्रांति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी और लाल सेना का संगठन किया था, कम्युनिस्ट पार्टी से निकाल दिया गया। 1929 में उसे निर्वासित कर दिया गया। 1930 के दशक में लगभग वे सभी नेता ख़त्म कर दिए गए, जिन्होंने क्रांति में और उसके बाद के वर्षों में महत्वपूर्ण भूमिकाएँ निभाई थीं। उनके ख़िलाफ़ झूठे आरोप लगाए गए और दिखावटी मुकद्दमों के बाद उन्हें फाँसी दे दी गई। राजनीतिक लोकतंत्र तथा भाषण और प्रेस की स्वतंत्रता नष्ट हो गई। पार्टी के अंदर भी मतभेदों की अभिव्यक्ति को बर्दाश्त नहीं किया जाता था। स्तालिन, कम्युनिस्ट पार्टी का महासचिव था, उसने तानाशाही अधिकार प्राप्त कर लिए और 1953 में अपनी मृत्यु तक तानाशाही व्यवहार करता रहा। इन घटनाओं का सोवियत संघ में समाजवाद के निर्माण पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ा और इसमें ऐसी विशेषताएँ उभरीं जो मार्क्सवाद और क्रांति के मानवतावादी आदर्शों के विपरीत थीं। स्वतंत्रता के सीमित हो जाने के कारण कला और साहित्य के विकास पर भी विपरीत प्रभाव पड़ा।

अधिकांश यूरोपीय शक्तियों और संयुक्त राज्य ने लंबे समय तक सोवियत संघ को मान्यता नहीं दी। आप पहले पढ़ चुके हैं कि प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति पर आयोजित शांति सम्मेलन में या लीग ऑफ नेशन्स (राष्ट्रसंघ) में उसे प्रतिनिधित्व नहीं दिया गया था। वह अपने से खुली दुश्मनी रखने वाले देशों से घिरा रहा फिर भी उसकी बढ़ती शक्ति के कारण उसे अनदेखा नहीं किया जा सका और एक के बाद दूसरे देश ने उसे धीरे-धीरे मान्यता दे दी। ब्रिटेन

ने 1933 में सोवियत संघ के साथ राजनयिक संबंध स्थापित किए। 1934 में वह राष्ट्रसंघ का भी सदस्य बना। लेकिन सोवियत संघ का अलगाव समाप्त होने के बावजूद उसके प्रति दुश्मनी जारी रही। सोवियत संघ स्वाधीनता आंदोलनों के समर्थन की नीति पर चल रहा था। इस संदर्भ में चीन को दी गई सहायता उल्लेखनीय है। जब फ़ासीवादी देशों ने आक्रामक गतिविधियाँ आरंभ कीं तो सोवियत संघ ने उनके खिलाफ़ कार्रवाई करने पर जोर दिया। मगर पश्चिमी देशों ने सोवियत प्रस्ताव को नहीं माना। वे सोवियत संघ को अपने लिए खतरा मानते रहे और आशा करते रहे कि फासीवादी देश उसे नष्ट कर देंगे। सोवियत संघ के प्रति अपनी शत्रुता के कारण उन्होंने फ़ासीवादी शक्तियों के तुष्टीकरण की नीति अपनाई और इस प्रकार द्वितीय विश्वयुद्ध का मार्ग प्रशस्त किया।

एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रवादी आंदोलन

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद के दौर में एशिया और अफ्रीका की जनता के स्वतंत्रता-आंदोलन मज़बूत हुए। जैसाकि कहा जा चुका है, एशिया और अफ्रीका के स्वतंत्रता-आंदोलनों के अनेक नेताओं ने मित्र राष्ट्रों के युद्ध प्रयासों में इस आशा से सहयोग दिया था कि युद्ध समाप्त होने के बाद उनके देश को स्वतंत्रता मिलेगी, या कम-से-कम उन्हें अधिक अधिकार मिलेंगे। उनकी आशाएँ धूल में मिल गईं। साम्राज्यवादी नेताओं ने स्पष्ट कर दिया कि युद्ध के काल में स्वतंत्रता और लोकतंत्र के जो नारे उन्होंने दिए थे, वे उपनिवेशों के लिए नहीं थे। मगर युद्ध ने साम्राज्यवादी देशों को कमज़ोर किया था तथा औपनिवेशिक जनता के जागरण में योगदान दिया था। युद्ध के बाद उनके स्वतंत्रता-संघर्षों का एक नया चरण आरंभ हुआ। सोवियत संघ के समर्थन ने उनके स्वतंत्रता आंदोलनों को और भी मज़बूत बनाया था। एशिया और अफ्रीका के अधिकांश देश हालाँकि द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ही स्वतंत्र राष्ट्र बन सके, परंतु साम्राज्यवाद प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद ही काफी कमजोर पड़ गया था।

भारत में यह वह काल था जब स्वतंत्रता आंदोलन महात्मा गाँधी के नेतृत्व में जन-आंदोलन बन गया। आप इसके बारे में विस्तार से आगे पढ़ेंगे। एशिया के अनेक देशों ने स्वतंत्रता-प्राप्ति की दिशा में महत्वपूर्ण प्रगति की। आप पढ़ चुके हैं कि प्रथम विश्वयुद्ध से पहले ईरान को रूसी और ब्रिटिश प्रभाव-क्षेत्रों में बाँट दिया गया था। 1917 की क्रांति के बाद सोवियत सरकार ने अपने प्रभाव-क्षेत्र का नियंत्रण छोड़ दिया और अपनी पूरी सेना वहाँ से हटा ली। मगर अंग्रेजों ने पूरे देश को अपने प्रभाव में लाने की कोशिश की। इसके विरुद्ध वहाँ एक व्यापक विद्रोह हुआ। 1921 में रजा खान ने सत्ता छीन ली और वह 1925 में सम्राट बन गया। ब्रिटिश फौजों ने ईरान छोड़ दिया और ईरान का आधुनिकीकरण आरंभ हुआ।

ब्रिटिश सरकार ने उन्नीसवीं सदी में अफ़ग़ानिस्तान के ख़िलाफ़ अनेक लड़ाइयाँ लड़ी थीं। इन लड़ाइयों के फलस्वरूप अफ़ग़ानिस्तान की स्वतंत्रता में कटौती हो गई थी। अफ़ग़ानिस्तान के विदेशों से संबंधों का नियत्रंण अंग्रेजों के हाथ में चला गया था। 1919 में अफ़ग़ानिस्तान के राजा की हत्या हो गई और उसका बेटा अमानुल्लाह राजा बना। अमानुल्लाह ने अफ़ग़ानिस्तान की स्वतंत्रता की घोषणा की। सोवियत संघ ने अफ़ग़ानिस्तान की स्वतंत्रता को तत्काल मान्यता दी। भारत की ब्रिटिश सरकार ने नई अफ़ग़ान सरकार के ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ दिया, पर अंत में ब्रिटेन को अफ़ग़ानिस्तान की स्वतंत्रता को मान्यता देनी पड़ी। अमानुल्लाह की सरकार ने अफ़ग़ानिस्तान के आधुनिकीकरण की ज़ोरदार कोशिशें कीं।

अरब देशों में ब्रिटेन और फ्रांस के खिलाफ़ उभार जारी था। प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान मित्र राष्ट्रों ने अरब जनगण को उस्मानी (तुर्की) शासकों से लड़ने के लिए कहा था। मगर युद्ध की समाप्ति के बाद अरब देशों को स्वतंत्रता नहीं मिली। इन देशों में तेल का विशाल भंडार है, यह पता चलने के बाद इनका महत्व और भी बढ़ गया। ब्रिटेन और फ्रांस ने इन देशों को संरक्षित राज्य (प्रोटेक्टरेट) बनाकर या उनके लिए शासनादेश (मैंडेट) प्राप्त करके उन पर अपना नियंत्रण कायम कर लिया था। मिस्र में ब्रिटेन के खिलाफ़ विद्रोह हुए और ब्रिटेन 1922 में मिस्र को स्वतंत्रता देने के लिए बाध्य हो गया हालाँकि वहाँ ब्रिटिश फ़ौजें बनी रहीं।

युद्ध के बाद सीरिया फ्रांस को दे दिया गया। मगर आरंभ से ही फ्रांस को वहाँ कड़े विरोध का सामना करना पड़ा।

1925 में एक खुला विद्रोह फूट पड़ा और फ्रांसीसी सरकार ने आतंक-राज का सहारा लिया। विद्रोह के केंद्र दमिश्क शहर को फ्रांसीसी सेनाओं ने बमबारी करके या तोपों के गोले बरसाकर खंडहर बना दिया। दमिश्क की बमबारी और गोला-बारी में लगभग 25,000 लोग मारे गए मगर इस भयानक नरसंहार के बावजूद फ्रांसीसी शासन के ख़िलाफ़ प्रतिरोध जारी रहा।

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जनगणों में जो जागृति आई थी उसके संदर्भ में एक महत्वपूर्ण घटना तुर्की की क्रांति थी। आप पढ़ चुके हैं कि उस्मानी साम्राज्य का 19 वीं सदी में विघटन आरंभ हुआ और प्रथम विश्वयुद्ध में तुर्की की हार के बाद यह विघटन पूरा हो गया। इस बीच उस्मानी साम्राज्य के अधीन रहने वाले अनेक राष्ट्र स्वतंत्र हो गए। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद अरब साम्राज्य के क्षेत्र ब्रिटेन और फ्रांस को शासनादेश के द्वारा दे दिए गए। ये दोनों तुर्की पर ही कब्ज़ा करके उसके कुछ हिस्से यूनान और इटली को देना चाहते थे। मित्रराष्ट्रों ने तुर्की के साथ जो व्यवहार किया उसके कारण भारत में ब्रिटेन के ख़िलाफ़ गुस्से की एक लहर दौड़ पड़ी। इसे ही ख़िलाफ़त आंदोलन कहा जाता है। यह आंदोलन भारत के राष्ट्रवादी आंदोलन का अंग बन गया।

तुर्की में राष्ट्रवादी आंदोलन मित्रराष्ट्रों को देश के कुछ भागों पर कब्ज़ा करने तथा उसके हिस्से यूनान और इटली को देने के फैसले के ख़िलाफ़ चलाया गया था। तुर्की का सुल्तान मित्रराष्ट्रों द्वारा रखी हुई शर्तों को मान चुका था। पर सुल्तान संधि पर हस्ताक्षर कर सकें, इससे पहले ही मुस्तफ़ा कमाल के नेतृत्व में एक राष्ट्रीय सरकार बन गई जिसका मुख्यालय अंकारा में था। इस सरकार ने सोवियत संघ के साथ एक मैत्री संधि पर हस्ताक्षर किए , जिसके अनुसार उसे राष्ट्रवादी उद्देश्यों के लिए सोवियत संघ से राजनीतिक समर्थन और हथियार मिले। सुल्तान के साथ संधि के बाद यूनान ने तुर्की पर हमला कर दिया। कमाल के नेतृत्व में तुर्की की जनता हमले को नाकाम करने में कामयाब रही। मित्रराष्ट्र पहले की संधि को रद्द करने के लिए मजबूर हो गए। तुर्की की धरती से मित्रराष्ट्रों की सेनाएँ वापस बुला ली गईं और यूरोपीय देश जिन क्षेत्रों को हड़पना चाहते थे, वे तुर्की के पास ही रहे। इस तरह तुर्की पूर्ण स्वतंत्रता प्राप्त करने में सफल रहा।

पूर्ण रूप से स्वतंत्र होने के बाद तुर्की में आधुनिकीकरण का तथा प्रतिक्रियावादी-सामंती तत्वों के प्रभाव समाप्त करने का एक कार्यक्रम आरंभ किया गया। तुर्की को गणराज्य घोषित किया गया। तुर्की के सुल्तान की पदवी ख़लीफ़ा भी थी। नई सरकार ने ख़लीफ़ा का पद समाप्त कर दिया। धार्मिक नेताओं के हाथों से शिक्षा का कार्य ले लिया गया। धर्म को राज्य से अलग कर दिया गया।

तुर्की की क्रांति एशिया के स्वतंत्रता-आंदोलनों के लिए प्रेरणा का स्रोत बन गई। उसने समाज सुधार तथा आधुनिकीकरण के विचारों को बढ़ावा देने में सहायता पहुँचाई।

एशिया के हरेक भाग में स्वतंत्रता आंदोलन मज़बूत हुए। उदाहरण के लिए, इंडोनेशिया में डच शासन के विरुद्ध विद्रोह हुए। वहाँ स्वतंत्रता प्राप्ति के उद्देश्य से 1927 में नेशनल पार्टी का गठन किया गया। कोरिया में जापान से स्वतंत्रता के लिए आंदोलन चल रहा था। हिंदचीन, बर्मा (अब म्यामार) और दूसरे देशों में स्वतंत्रता आंदोलन मज़बूत हुए।

इस काल के सबसे शक्तिशाली आंदोलनों में से एक का आरंभ चीन में हुआ। आप चीन पर साम्राज्यवादी प्रभुत्व के बारे में पढ़ चुके हैं। चीन में 1911 में एक क्रांति हुई। फलस्वरूप वहाँ गणतंत्र की स्थापना हुई परंतु सत्ता अधिपति (वारलार्ड) कहलाने वाले भ्रष्ट शासकों के हाथों में चली गई। चीन के राष्ट्रीय आंदोलन का उद्देश्य था – विदेशी प्रभुत्व की समाप्ति और अधिपतियों के शासन को समाप्त करके चीन का एकीकरण। चीन के राष्ट्रीय आंदोलन के संस्थापक डा. सुन यात-सेन थे। उन्होंने 1911 की क्रांति में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई और 1917 में दक्षिणी चीन में स्थित कैंटन शहर में सरकार की स्थापना की। उनके द्वारा स्थापित कोमिनतांग नामक पार्टी ने वर्षों तक चीन के राष्ट्रीय संघर्ष का नेतृत्व किया।

चीन पर रूस की क्रांति का गहरा असर पड़ा। रूस की नई सरकार ने वे सभी असमानतापूर्ण संधियाँ रद्द कर दीं जो उस पर रूसी सम्राटों ने लादी थीं। इसके अलावा उसने
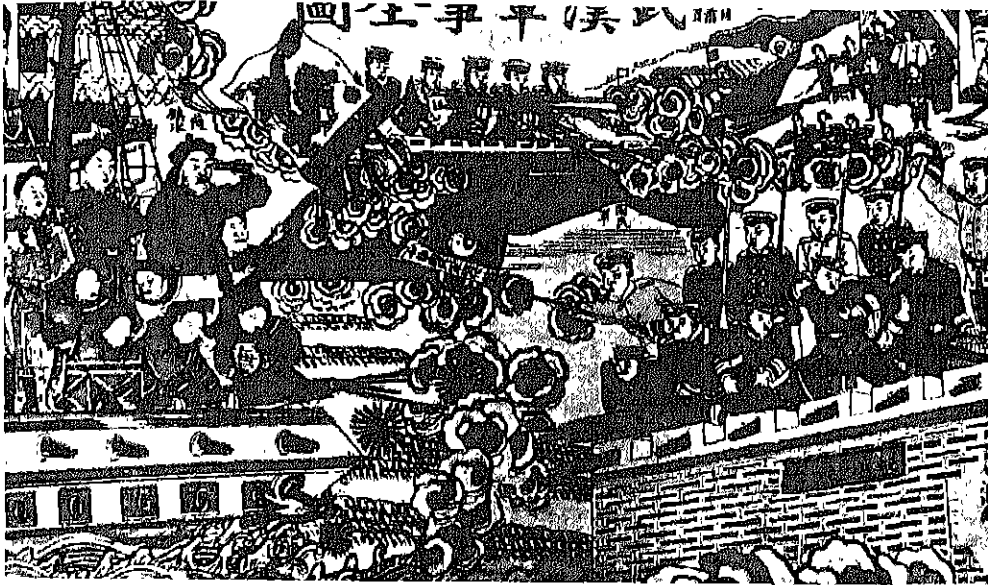
1911 की क्रांति के दौरान सैनिकों के विद्रोह का काष्ठचित्र। इस क्रांति से मांचू शासन का अंत हो गया था।

चीन के राष्ट्रीय संघर्ष को पूर्ण समर्थन देने का वादा किया। 1921 में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी की स्थापना हुई। 1924 में कोमिनतांग और कम्युनिस्ट पार्टी ने मिलकर काम करने का फ़ैसला किया। सोवियत सरकार ने तरह-तरह की सहायताएँ दीं जिनमें एक क्रांतिकारी सेना का प्रशिक्षण भी शामिल था।

अनेक सोवियत राजनीतिक और सैनिक सलाहकारों ने चीन के मुक्ति आंदोलन के लिए साथ मिलकर काम किया। 1925 में सुन यात-सेन की मृत्यु के बाद कोमिनतांग और कम्युनिस्ट पार्टी की एकता भंग हो गई और गृहयुद्ध आरंभ हो गया। 1930 के दशक में पूरे चीन पर कब्ज़ा करने के उद्देश्य से जापानियों ने उस पर हमला किया। तब जापानी हमले का सामना करने के लिए दोनों पार्टियों ने साथ काम करने का फैसला किया। जापानी हमले के ख़िलाफ़ इस प्रतिरोध-युद्ध में कम्युनिस्ट पार्टी ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। वह देश में अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने में सफल रही। द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के कुछ ही वर्षों के अंदर वह गृहयुद्ध में विजयी बनकर निकली।

इस काल में अफ्रीका में भी राजनीतिक और राष्ट्रीय चेतना का उदय हुआ। अफ्रीका में राष्ट्रीय स्वतंत्रता के लिए संघर्ष में तेज़ी द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ही आई, परंतु 1920 और 1930 के दशकों में आरंभिक राजनीतिक संगठनों की बुनियाद पड़ चुकी थी। अनेक अखिल-अफ्रीकी (पैन-एफ्रीकन) कांग्रेसों ने अफ्रीका में राजनीतिक चेतना के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। अखिल-अफ्रीकी (पैन-अफ्रीकन) आंदोलन ने अफ्रीकी जनता की अस्मिता और एकता तथा अफ्रीका की स्वतंत्रता पर ज़ोर दिया। दक्षिण अफ्रीका में अफ्रीका के दूसरे भागों की अपेक्षा राष्ट्रीय आंदोलन का उदय पहले हुआ। 1912 में अफ्रीकी राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई और वह दक्षिण अफ्रीकी जनता का प्रमुख संगठन बन गई। 1935-36 में इथियोपिया की जनता ने इतालवी हमले का जमकर मुकाबला किया और उनका प्रतिरोध अफ्रीका के दूसरे जनगणों के लिए प्रेरणा का स्रोत बन गया।

एशिया और अफ्रीका के जनगणों का राष्ट्रीय जागरण और उनके स्वतंत्रता संघर्षों की बढ़ती शक्ति आधुनिक विश्व के निर्माण में बहुत महत्वपूर्ण तत्व है। दीर्घकाल से उत्पीड़ित

इन दोनों महाद्वीपों के जनगण स्वतंत्रता के अपने अधिकार पर ज़ोर देने लगे थे पर इसी समय यूरोप में एक और युद्ध की तैयारियाँ चल रही थीं।

फ़ासीवादी आक्रमण का आरंभ

1930 के दशक में फ़ासीवादी शक्तियों ने अपने विजय-युद्ध आरंभ किए। इटली और जर्मनी प्रमुख फ़ासीवादी देश थे। जापान में जो सैन्यवादी सरकार सत्ता में आई वह भी उनकी सहयोगी बन गई। इटली और जर्मनी में फ़ासीवाद की विजय का वर्णन पहले किया जा चुका है। आप जापानी साम्राज्यवाद के उदय, चीन और रूस से उसके युद्धों, कोरिया पर उसकी विजय तथा प्रथम विश्वयुद्ध के बाद चीन में जर्मनी के प्रभाव-क्षेत्रों के जापान के हाथों आने के बारे में पहले ही पढ़ चुके हैं। जापान की सरकार धीरे-धीरे सैन्यवादियों के हाथों में आ गई। इन तीन देशों ने यूरोप, एशिया और अफ्रीका में एक के बाद एक हमले शुरू किए। ये सभी शक्तियाँ कम्युनिज़्म से लड़ने के दावे करती थीं और उन्होंने 1937 में कोमिंटर्न-विरोधी एक गठजोड़ कायम कर लिया। जैसाकि पहले कहा जा चुका है, कोमिन्टर्न कम्युनिस्ट इंटरनेशनल का संक्षिप्त रूप है जिसकी स्थापना रूसी क्रांति के बाद हुई थी और जिससे विभिन्न देशों की कम्युनिस्ट पार्टियाँ संबद्ध थीं। जर्मनी, इटली और जापान को धुरी-शक्तियों के नाम से जाना गया।

जब आक्रामक कार्यवाहियाँ आरंभ हुई तब आक्रमण के शिकार देशों, सोवियत संघ तथा दुनिया के विभिन्न देशों के अनेक नेताओं ने आक्रमण को असफल बनाने के लिए सामूहिक कार्यवाहियों की माँग की। 1935 में कम्युनिस्ट इंटरनेशलन ने यह विचार सामने रखा कि फ़ासीवाद और युद्ध के ख़तरों का मुकाबला करने के लिए कम्युनिस्टों, समाजवादियों और दूसरे फ़ासीवाद-विरोधियों को साथ लेकर जन मोर्चे बनाए जाएँ। यह ध्यान देने योग्य बात है कि जर्मनी में हिटलर सत्ता में इसी कारण आ सका था कि जर्मनी की कम्युनिस्ट और सोशल डेमोक्रेटिक पार्टियाँ नाज़ियों के ख़िलाफ़ एकजुट नहीं हो सकी थीं। फ़ासीवाद-विरोधी शक्तियों को एकजुट करने को कोमिंटर्न की वकालत के बाद अनेक देशों में जन मोर्चों की स्थापना हुई। फ्रांस में सत्ता पर फ़ासीवादियों का कब्ज़ा रोकने

हिटलर और मुसोलिनी

में लोकप्रिय जनमोर्चा सफल रहा। जन मोर्चे की इस नीति का उपनिवेशों में भी विभिन्न साम्राज्यवाद-विरोधी शक्तियों की एकता पर महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ा। उसने फ़ासीवाद द्वारा प्रस्तुत ख़तरे के ख़िलाफ़ विश्वव्यापी चेतना जगाई और फ़ासीवादी आक्रमण के शिकार देशों के लिए समर्थन जुटाने में सहायता की। इस समय कोमिंटर्न के नेता बुल्गारी कम्युनिस्ट ज्यार्जी दिमित्रोव थे। वे 1933 में संसद को आग लगाए जाने की घटना के बाद नाज़ियों द्वारा जर्मन कम्युनिस्टों के साथ गिरफ़्तार किए गए थे। मुकदमे के दौरान उनके साहसिक भाषणों ने उन्हें विश्वव्यापी प्रशंसा दिलाई और बाद में वे छोड़ दिए गए।

आप पहले पढ़ चुके हैं कि राष्ट्रसंघ (लीग आफ नेशंस) की प्रसंविदा (कोवेनेंट) में आक्रमण के विरुद्ध आर्थिक और सैनिक प्रतिबंधों और सामूहिक कार्रवाई की व्यवस्था थी। मगर आक्रामकों का सामना करने की बजाय पश्चिमी देशों की सरकारों ने आक्रामक शक्तियों के प्रति तुष्टीकरण की नीति अपनाई। तुष्टीकरण का अर्थ है किसी आक्रामक शक्ति
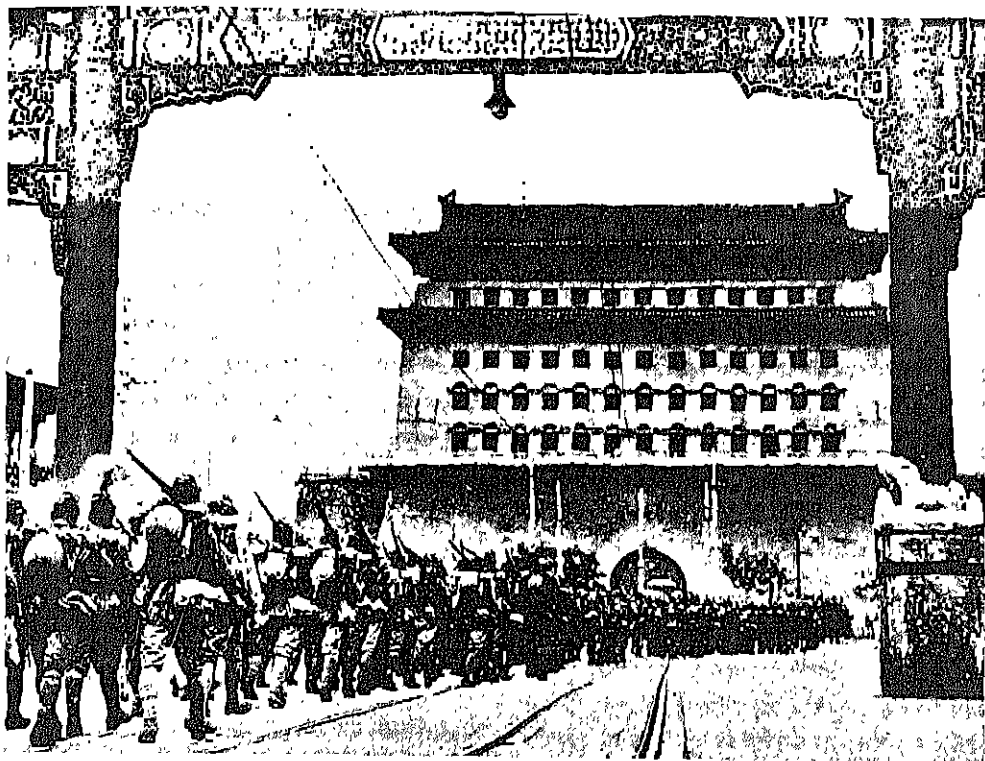
जुलाई 1937 में जापानी सैनिक टुकड़ियों द्वारा बीजिंग पर कब्ज़ा

को मनाने के लिए किसी और देश की बलि दे देना। पश्चिमी देशों की तुष्टीकरण की इस नीति के बिना फ़ासीवाद इतने लंबे समय तक जीवित नहीं रह पाता और न ही द्वितीय विश्वयुद्ध आरंभ कर पाता।

1930 के दशक में जर्मनी, इटली और जापान ने हमलों का एक सिलसिला शुरू किया। उनका दावा था कि वे कम्युनिज्म से लड़ रहे हैं। हिटलर ने बार-बार घोषणा की कि उसका इरादा सोवियत संघ के अपार संसाधनों और क्षेत्रों को जीतने का है। इन देशों में सभी समाजवादी और कम्युनिस्ट आंदोलन कुचले जा चुके थे। रूसी क्रांति की सफलता के बाद से ही पश्चिमी देश कम्युनिज़्म के ख़तरे से डरे हुए थे। उन्हें आशा थी कि फ़ासीवादी देश उन्हें इस ख़तरे से मुक्ति दिलाएँगे। फ़ासीवादी आक्रमणों के प्रति पश्चिमी देशों के इस दृष्टिकोण को एक इतिहासकार ने संक्षेप में इस प्रकार सामने रखा है: "नि:संदेह नाज़ियों ने संसार को यह विश्वास दिलाने के लिए यथाशक्ति प्रयास किया था कि वे बोल्शेविकवाद के विनाश और सोवियत संघ पर विजय के लिए कमर कस चुके हैं। हिटलर का यह कथन इस प्रचार का एक विशिष्ट उदाहरण है कि अगर उसे यूराल पर्वत मिल जाए तो सारे जर्मन विशाल समृद्धि के सागर में गोते लगाएँगे। पश्चिमी विश्व के अभिजात वर्ग (एलीट) ने इसका विश्वास करने में कोई हिचक नहीं दिखाई। बड़े ज़मींदार, अभिजात वर्ग, उद्योगपति, बैंकर, चर्च के बड़े पदाधिकारी, यूरोप के हर तरह के प्रभावशाली व्यक्ति और मध्यवर्गीय तत्व इस भय से कभी मुक्त नहीं हो सके थे कि उनके अपने मज़दूर और किसान सामाजिक क्रांति की माँग

कर सकते हैं और संभव है कि क्रांति का नेतृत्व तथा संगठन कम्युनिस्ट करें। फासीवाद भले ही डाकुओं का संगठन हो, परंतु कम्युनिज़्म को पराजित कर सकने वाली तथा निहित स्वार्थों का नियंत्रण बनाए रखने वाली एक शक्ति के रूप में, फ़ासीवाद का इन लोगों द्वारा समर्थन स्वाभाविक और निष्कपट था। इसमें नाममात्र को भी संदेह नहीं हैं कि ब्रिटेन और फ्रांस के अनेक शक्तिशाली लोगों ने धुरी शक्तियों को मज़बूत बनाने तथा आगे बढ़ाने के लिए काम किया था ताकि वे सोवियत संघ पर आक्रमण करें।'' तुष्टीकरण की इस नीति ने फ़ासीवादी शक्तियों को मज़बूत बनाया और दुनिया को द्वितीय विश्वयुद्ध की ओर ले गई।

चीन पर जापान का आक्रमण

चीन पर 1931 में जापान का हमला प्रथम विश्वयुद्ध के बाद की प्रमुख आक्रामक कार्यवाहियों में से एक था। यह हमला एक छोटी सी घटना का बहाना लेकर किया गया। यह घटना चीन के उत्तर-पूर्वी प्रांत मंचूरिया की एक रेल-लाइन से संबंधित थी जिस पर जापानियों का अधिकार था। चीन राष्ट्रसंघ का सदस्य था। उसने राष्ट्रसंघ से अनुरोध किया कि वह जापानी आक्रमण को रोकने के लिए उसके ख़िलाफ़ प्रतिबंध लगाए पर राष्ट्रसंघ के प्रमुख देश, फ्रांस और ब्रिटेन, इस अनुरोध के प्रति उदासीन रहे और उन्होंने एक तरह से इस आक्रमण को अपनी सहमति दे दी। जापान ने मंचूरिया पर कब्ज़ा करके वहाँ एक कठपुतली सरकार बिठा दी फिर वह दूसरे इलाके जीतने के लिए बढ़ा। संयुक्त राज्य अमरीका ने भी इस हमले को रोकने के लिए कुछ नहीं किया। जापान 1933 में राष्ट्रसंघ से अलग हो गया। उसने चीन में स्थित ब्रिटिश और अमरीकी संपत्ति पर भी कब्ज़ा करना आरंभ कर दिया फिर भी जापान के प्रति तुष्टीकरण की नीति जारी रही क्योंकि पश्चिमी देशों का ख़्याल था कि चीन और सोवियत संघ को कमज़ोर करने के लिए जापान का इस्तेमाल किया जा सकता है। ब्रिटेन के पास ऐसा सोचने का एक और कारण भी था। वह जापान से झगड़ा करके अपने एशियाई अधिकार क्षेत्रों के लिए ख़तरा उत्पन्न नहीं करना चाहता था।

जर्मन सैन्यीकरण

राष्ट्रसंघ के बनने के कुछ ही समय बाद जर्मनी को उसकी सदस्यता दे दी गई थी परंतु जब हिटलर सत्ता में आया तो वह राष्ट्रसंघ से अलग हो गया और उसने सैन्यीकरण का एक विशाल कार्यक्रम आरंभ कर दिया। वरसई की संधि ने जर्मनी की सैनिक शक्ति पर ज़बर्दस्त प्रतिबंध लगाए थे। जर्मनी ने जब संधि की अवहेलना करके सैन्यीकरण कार्यक्रम आरंभ किया तो अनेक देशों में असुरक्षा की भावना पैदा हो गई। फ्रांस में यह भावना ख़ासतौर पर तेज़ थी। यह स्थिति थी जब सोवियत संघ 1934 में राष्ट्रसंघ का सदस्य बना। जर्मनी का पुन:सैन्यीकरण रोकने के लिए कुछ नहीं किया गया। वरसई की संधि के अनुसार फ्रांस की सीमा से लगे राइनलैंड नामक क्षेत्र को सेनाविहीन बनाया गया था ताकि जर्मनी द्वारा फ्रांस पर आक्रमण कठिन हो जाए। 1936 में संधि का उल्लंघन करते हुए हिटलर की सेनाओं ने राइनलैंड में प्रवेश किया। इससे फ्रांस सशंकित हो गया। तो भी जर्मनी को रोकने के लिए कुछ नहीं किया गया। तब तक जर्मनी ने आठ लाख की सेना तैयार कर ली थी, जबकि आपको याद होगा कि वरसई संधि ने इनके लिए एक लाख की अधिकतम संख्या निर्धारित की थी। उसने ब्रिटेन की सहमति से एक ताकतवर नौसेना बनानी भी शुरू कर दी।

इथियोपिया पर इटली का हमला

1935 में इटली ने इथियोपिया पर हमला किया। इथियोपिया की अपील पर राष्ट्रसंघ ने इटली को आक्रमणकारी बतलाते हुए उसकी निंदा का प्रस्ताव पारित किया। प्रस्ताव में इटली के ख़िलाफ़ आर्थिक प्रतिबंध लगाने की बात भी कही गई थी, जिसमें उसको हथियार बेचने पर प्रतिबंध भी शामिल था पर इटली को दंडित करने की कोई कार्यवाही नहीं की गई। 1936 में इटली ने इथियोपिया को पूरी तरह जीत लिया।

स्पेन का गृह युद्ध

दूसरी घटना, जिसने जर्मनी और इटली की मित्रता की शुरुआत का संकेत किया, स्पेन के गृह युद्ध में उनकी संयुक्त कार्रवाई थी। स्पेन 1931 में एक गणतंत्र बन गया था। 1936 में वहाँ जन मोर्चा की सरकार बनी, जिसमें समाजवादी, कम्युनिस्ट और दूसरी लोकतांत्रिक और फ़ासीवाद-विरोधी पार्टियाँ शामिल थीं। जनरल फ्रांको के

नेतृत्व में सेना के एक हिस्से ने विद्रोह कर दिया। फ्रांको को जर्मनी और इटली का सशस्त्र समर्थन मिला। इससे देश में गृह युद्ध छिड़ गया। गृह युद्ध में इटली और जर्मनी ने खुलेआम हस्तक्षेप किया। उन्होंने विद्रोहियों की सहायता के लिए सैनिक, टैंक और युद्धपोत भेजे। स्पेन के शहरों और गाँवों पर जर्मन विमानों ने बम बरसाए। स्पेन की गणतांत्रिक सरकार ने फ़ासीवादियों के विरुद्ध सहायता की माँग की परंतु उसकी मदद के लिए केवल सोवियत संघ आया। ब्रिटेन और फ्रांस ने हस्तक्षेप न करने की पैरवी की और स्पेन की सरकार को सहायता देने से इनकार कर दिया फिर भी गणतंत्रवादियों को विश्वव्यापी समर्थन मिला। अनेक फ़ासीवाद-विरोधी जर्मनों समेत कई देशों के हजारों फ़ासीवाद-विरोधी स्वयंसेवकों को अंतर्राष्ट्रीय दस्तों में संगठित किया गया। वे स्पेन गए और वहाँ उन्होंने स्पेनवासियों के साथ कंधे से कंधा मिलाकर फ़ासीवादियों का मुकाबला किया। बीसवीं सदी के कुछ श्रेष्ठ लेखकों और कलाकारों ने भी गणतंत्रवादियों को सक्रिय समर्थन दिया। स्पेन की लड़ाई अंतर्राष्ट्रीय महत्व की हो गई क्योंकि यह अधिकाधिक महसूस किया जाने लगा कि स्पेन में फ़ासीवाद की विजय फ़ासीवादियों के मनोबल बढ़ाएगी और वे और भी हमले करेंगे। स्पेन में हजारों गैर-स्पेनी लोगों द्वारा अपना बलिदान देना अंतर्राष्ट्रवाद का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। स्पेन का यह गृह युद्ध तीन वर्ष तक चला। उसमें लगभग दस लाख लोग मारे गए। अंततः फ्रांको के नेतृत्व में फ़ासीवादी शक्तियाँ 1939 में गणतंत्र को नष्ट करने में सफल हो गईं। अधिकांश पश्चिमी शक्तियों ने फ़ौरन ही नई सरकार को मान्यता दे दी।

भारत के राष्ट्रीय आंदोलन ने जो फ़ासीवाद के ख़तरे के प्रति सजग था, गणतंत्रवादियों के पक्ष का समर्थन किया। इस दौरान जवाहर लाल नेहरू गणतंत्रवादियों के साथ भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन की एकता प्रकट करने के लिए स्पेन गए।

फ़ासीवाद की विजय का कारण उसके प्रति पश्चिमी देशों की तुष्टीकरण की नीति थी जिसके फलस्वरूप फ़ासीवादी देश अधिकाधिक आक्रामक होते गए। जर्मनी ने स्पेन के गृहयुद्ध में अनेक नए हथियारों का परीक्षण उनकी प्रभावकारिता को जाँचने के लिए किया। द्वितीय विश्वयुद्ध में इन हथियारों का उसने इस्तेमाल किया।

म्यूनिख समझौता

मार्च 1938 में जबकि स्पेन का गृह युद्ध अभी जारी था, हिटलर की सेनाओं ने आस्ट्रिया में घुसकर उस पर कब्ज़ा कर लिया। यह प्रथम विश्वयुद्ध के बाद हुई संधियों का उल्लंघन था, परंतु पश्चिमी शक्तियों ने कोई आपत्ति न की।

फ़ासीवाद के तुष्टीकरण का आख़िरी प्रयास म्यूनिख़ का समझौता था। जर्मनी की आँखें चेकोस्लोवाकिया पर गड़ी थीं जो अपने उद्योगों के कारण महत्वपूर्ण था। पूर्व में सोवियत संघ की ओर विस्तार की दृष्टि से भी चेकोस्लोवाकिया का सामरिक महत्व था। हिटलर ने चेकोस्लावाकिया के एक भाग, सुदेतेनलैंड पर दावा किया जहाँ काफ़ी जर्मन जनसंख्या थी। वह क्षेत्रफल में चेकोस्लोवाकिया का पाँचवा भाग था और वहाँ दुनिया का एक बहुत बड़ा शस्त्र-निमार्ण कारख़ाना था। जर्मनी द्वारा उत्पन्न ख़तरे के मुकाबले के लिए ब्रिटेन और फ्रांस के प्रधानमंत्री 29-30 सितंबर 1938 को म्यूनिख में हिटलर और मुसोलिनी से मिले। चेकोस्लोवाकिया की सहमति लिए बिना ही उन्होंने जर्मनी की शर्तें मान लीं। फ़ौरन ही जर्मन सैनिकों ने सुदेतेनलैंड पर कब्ज़ा कर लिया। कुछ माह बाद, मार्च 1939 में जर्मनी ने पूरे चेकोस्लोवाकिया को हथिया लिया।

म्यूनिख़ समझौता पश्चिमी देशों की तुष्टीकरण संबंधी अंतिम कार्यवाही थी। इससे प्रोत्साहन पाकर जर्मनी ने और भी शर्तें रखी। फ़ासीवादी हमले का विरोध और विश्वयुद्ध को रोकने का एक ही रास्ता था- सोवियत संघ के साथ पश्चिमी देशों का गठबंधन। सोवियत संघ ऐसे गठबंधन की माँग करता आ रहा था परंतु पश्चिमी देशों की तुष्टीकरण की नीति ने सोवियत संघ को विश्वास दिला दिया कि उनकी मुख्य रुचि जर्मन विस्तार की दिशा को सोवियत संघ की ओर मोड़ने में है। सोवियत संघ के लिए म्यूनिख़ समझौता इस बात का एक और सबूत था कि पश्चिमी शक्तियाँ जर्मनी को तुष्ट करने की कोशिश में लगी हैं ताकि उसके हमलों को पूर्व की ओर यानी सोवियत संघ के ख़िलाफ़ मोड़ा जा सके। तब सोवियत संघ ने जर्मनी के साथ एक अनाक्रमण समझौता (नान-एग्रेशन पैक्ट) अगस्त 1939 में किया। इस बीच ब्रिटेन और फ्रांस ने पोलैंड, यूनान, रोमानिया और तुर्की को वचन दिया कि उनकी

29 सितंबर 1938 में म्यूनिख में हिटलर तथा मुसोलिनी के साथ ब्रिटिश प्रधान मंत्री नेविले चेम्बरलेन (बाएँ से प्रथम) तथा फ्रांसीसी प्रधान मंत्री एडोर्ड देलेदिआर (बाएँ से दूसरे)

स्वतंत्रता के लिए अगर ख़तरा उत्पन्न हुआ तो वे उनकी सहायता करेंगे।

द्वितीय विश्वयुद्ध

द्वितीय विश्वयुद्ध भी प्रथम विश्वयुद्ध की ही तरह यूरोप में शुरू हुआ और आगे चलकर विश्वयुद्ध बन गया। मंचूरिया पर हमले से लेकर चेकोस्लोवाकिया के हथियाए जाने तक जापान, इटली और जर्मनी के सभी हमलों को पश्चिमी देशों ने अपनी मौन सहमति दी थी, परंतु फ़ासीवादी शक्तियों की महत्वाकांक्षाएँ संतुष्ट नहीं हुई थीं। ये देश विश्व के नए सिरे से बँटवारे की योजना बना रहे थे और इसलिए स्थापित साम्राज्यवादी शक्तियों से उनका टकराव होना लाज़मी था। तुष्टीकरण की नीति ने फ़ासीवादी शक्तियों के मजबूत बनने में सहायता दी थी। सोवियत-जर्मन अनाक्रमण संधि पर हस्ताक्षर के कारण इन देशों के आक्रमण को सोवियत संघ की ओर मोड़ने की पश्चिमी देशों की नीति नाकाम हो गई थी।

इस कारण यूरोप में युद्ध फ़ासीवादी शक्तियों और पश्चिमी यूरोप की दो प्रमुख शक्तियों - ब्रिटेन और फ्रांस के बीच आरंभ हुआ। कुछ ही महीनों में नए-नए क्षेत्रों तक फैलकर और अंततः दुनिया के लगभग हरेक देश को अपनी लपेट में लेकर यह विश्वयुद्ध बन गया।

पोलैंड पर आक्रमण

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद पूर्वी प्रशिया को शेष जर्मनी से अलग कर दिया गया था। पूर्वी प्रशिया को शेष जर्मनी से अलग करने वाले देन्ज़िग नगर को जर्मन-नियंत्रण से मुक्त, स्वतंत्र नगर बना दिया गया था। हिटलर ने माँग की कि देन्ज़िग नगर जर्मनी को लौटा दिया जाए, पर ब्रिटेन ने उसकी माँग मानने से इनकार कर दिया।

1 सितंबर 1939 को जर्मन सेनाएँ पोलैंड में घुस गईं। 3 सितंबर को ब्रिटेन और फ्रांस ने जर्मनी के ख़िलाफ़ युद्ध की घोषणा की। इस तरह पोलैंड पर हमले के साथ द्वितीय विश्वयुद्ध का आरंभ हो गया। चूँकि पोलैंड को कोई सहायता नहीं मिली, इसलिए तीन सप्ताह से भी कम समय में जर्मन सेनाओं ने पूरी तरह पोलैंड को जीत लिया। युद्ध की घोषणा के बावजूद अनेक महीनों तक कोई भी वास्तविक लड़ाई नहीं हुई। इसलिए सितंबर 1939 से अप्रैल 1940 तक (जर्मनी द्वारा नार्वे और डेनमार्क पर हमले के समय तक) के युद्ध को 'नकली युद्ध' (फ़ोनी वार) कहा जाता है।

पोलैंड पर जर्मन हमले के कुछ ही समय बाद सोवियत संघ ने पूर्वी पोलैंड पर हमला किया और उन क्षेत्रों पर कब्ज़ा कर लिया जो पहले रूसी साम्राज्य के थे मगर प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जिन पर पोलैंड ने कब्ज़ा कर लिया था, ऐसा विश्वास किया जाता है कि यह कब्ज़ा सोवियत-जर्मन अनाक्रमण संधि की गुप्त व्यवस्थाओं का एक भाग था। 1940 में तीन बाल्टिक राज्य- लिथुआनिया, लात्विया और एस्तोनिया, जो प्रथम विश्वयुद्ध के बाद स्वतंत्र हो गए थे, सोवियत संघ में शामिल हो गए। एक गणराज्य के रूप में मोल्दाविया भी सोवियत संघ में शामिल हो गया। नवंबर 1939 में सोवियत संघ का फ़िनलैंड से भी युद्ध हुआ।

नार्वे, डेनमार्क, हालैंड, बेल्जियम और फ्रांस पर विजय

9 अप्रैल 1940 को जर्मनी ने नार्वे और डेनमार्क पर हमला किया और तीन हफ्तों के अंदर दोनों को पूरी तरह जीत लिया। नार्वे में जर्मन आक्रामकों की सहायता, वहाँ की फ़ासीवादी पार्टी के नेता क्विज़लिंग ने की जिसने जर्मन कब्ज़े के बाद एक कठपुतली सरकार बनाई। यही कारण है कि आज 'क्विज़लिंग' नाम का प्रयोग ही अपने देश पर हमला करने वाले के साथ सहयोग करने वाले देशद्रोहियों के लिए किया जाता है। मई के आरंभ में बेल्जियम और हालैंड पर हमला हुआ और मई के समाप्त होने से पहले इन पर कब्ज़ा भी हो गया। जल्द ही, जर्मन सेनाओं ने फ्रांस पर हमला किया और बिना किसी ख़ास युद्ध के 14 जून 1940 को पेरिस शहर जर्मनों के हाथों में आ गया। इस बीच इटली भी अपने सहयोगी जर्मनी की ओर से युद्ध में उतर चुका था। 22 जून 1940 को फ्रांस की सरकार ने आत्मसमर्पण कर दिया। उसने जर्मनी के साथ शांति-संधि पर समझौता करके लगभग आधा फ्रांस जर्मनी के कब्ज़े में दे दिया। शेष भाग फ्रांस सरकार के नियंत्रण में रहा।
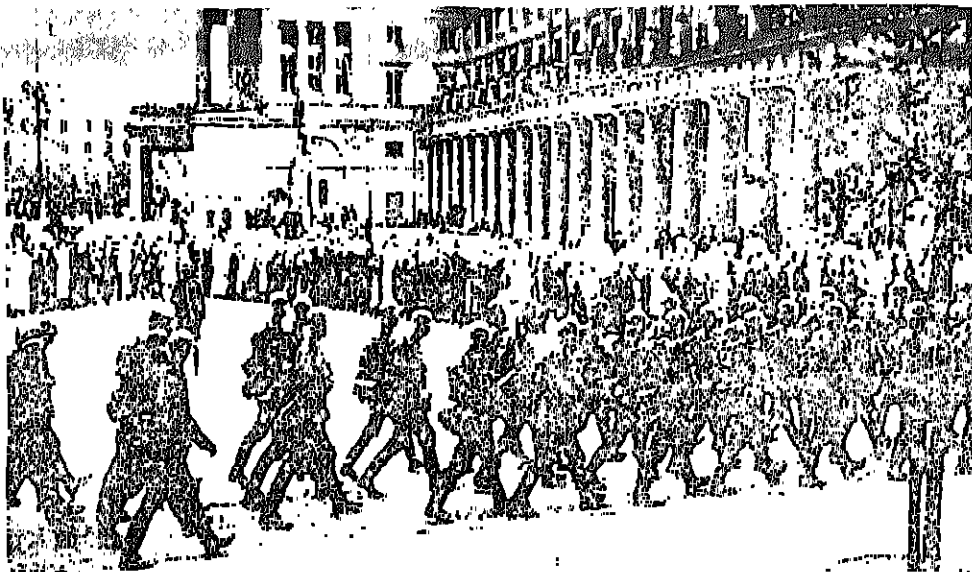
वारसा में जर्मन फौजें, पोलैंड, अक्तूबर 1939

उससे अपनी सेना को भंग करने तथा फ्रांस में जर्मन सेनाओं के रख-रखाव का खर्च उठाने को कहा गया। जर्मनी के आगे आत्मसमर्पण करने के बाद फ्रांस की सरकार विशी नगर से शासन चला रही थी। फ्रांस की हार के बाद जर्मनी यूरोपीय महाद्वीप की सबसे बड़ी शक्ति बन बैठा। जर्मनी द्वारा तीव्र गति से और पूरी शक्ति से चलाए गए इस युद्ध को 'ब्लिट्ज़क्रीग' अर्थात तड़ित-युद्ध कहा जाता है।

ब्रिटेन की लड़ाई

फ्रांस के पतन के बाद यूरोप में ब्रिटेन एकमात्र प्रमुख शक्ति के रूप में बचा रह गया। जर्मनी का सोचना यह था कि चूँकि ब्रिटेन के पास यूरोप में कोई सहयोगी नहीं बचा है, इसलिए वह जल्द ही आत्मसमर्पण कर देगा। जर्मन वायुसेना ने अगस्त 1940 में ब्रिटेन पर हवाई हमले शुरू कर दिए ताकि उसे डरा-धमकाकर आत्मसमर्पण कराया जा सके। इस लड़ाई को ब्रिटेन की लड़ाई कहते हैं। हवाई हमलों से बचाव के लिए ब्रिटेन की रायल एयर फोर्स ने बहादुराना भूमिका निभाई और बदले में जर्मन क्षेत्रों पर भी हवाई हमले किए। युद्ध के वर्षों में ब्रिटेन के प्रधानमंत्री विंस्टन चर्चिल थे। उनके नेतृत्व में ब्रिटेन की जनता ने साहस और दृढ़ता के साथ जर्मन हमलों का सफलतापूर्वक सामना किया।

इस बीच इटली ने उत्तरी अफ्रीका में सैनिक कार्यवाहियाँ आरंभ कर दी थी। उसने यूनान पर भी हमला किया मगर इन दोनों क्षेत्रों पर इटली के हमलों को नाकाम कर दिया गया। मगर जर्मनी बाल्कान प्रायद्वीप के देशों (यूनान, यूगोस्लाविया, बुलगारिया) तथा उत्तरी अफ्रीका के एक बड़े भाग पर कब्ज़ा करने में सफल रहा।

सोवियत संघ पर जर्मनी का हमला

ब्रिटेन को छोड़ लगभग पूरे यूरोप को जीतने के बाद जर्मनी ने 22 जून 1941 को अनाक्रमण संधि के बावजूद सोवियत संघ पर हमला कर दिया। जैसा कि कहा जा चुका है, सोवियत संघ के विशाल क्षेत्र और संसाधनों पर हिटलर की निगाहें हमेशा से गड़ी थीं। उसने सोचा कि आठ सप्ताह में सोवियत संघ का वह विनाश कर देगा। सोवियत संघ के साथ इस युद्ध के आरंभिक दौर में जर्मनी को महत्वपूर्ण सफलताएं मिलीं। जर्मनों ने सोवियत संघ का काफी बड़ा भाग तबाह कर डाला, लेनिनग्राद पर घेरा डाल दिया गया और जर्मन
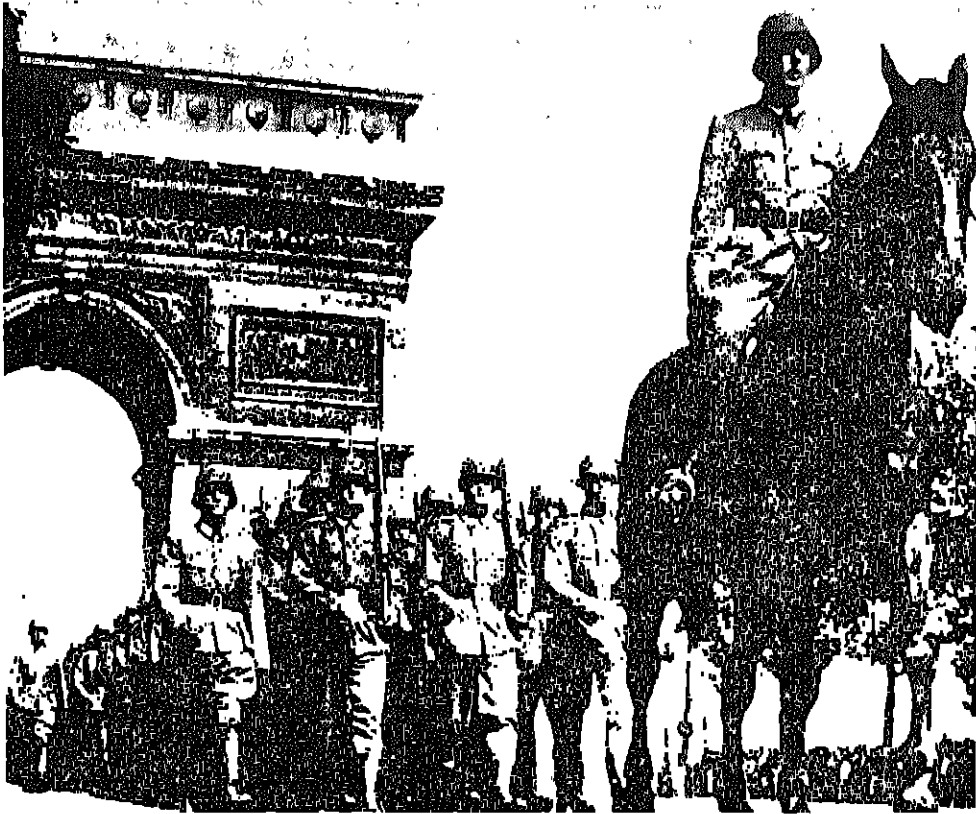
पेरिस पर कब्ज़ा करती जर्मन फौज़ें, जून 1940

सेनाएँ मास्को की ओर बढ़ने लगीं परंतु जर्मनी की आरंभिक सफलताओं के बाद उसके आक्रमण को रोक दिया गया। सोवियत संघ तब तक पर्याप्त औद्योगिक और सैनिक शक्ति प्राप्त कर चुका था। उसने जर्मन हमले का बहादुरी से सामना किया और जर्मनी की शीघ्र विजय पाने की आशा पर पानी फिर गया।

सोवियत संघ पर जर्मन हमले ने युद्ध के क्षेत्र को काफी विस्तृत बना दिया। लड़ाई का एक नया मोर्चा खुल गया। इसके बाद एक महत्वपूर्ण घटना यह हुई कि हमले के मुकाबले के लिए ब्रिटेन, सोवियत संघ और अमरीका एक हो गए। सोवियत संघ पर हमले के फौरन बाद चर्चिल और रूज़वेल्ट ने उसे क्रमश: ब्रिटेन और अमरीका के समर्थन की घोषणा की और उसे सहायता देने का वादा भी किया। इसके बाद सोवियत संघ और ब्रिटेन के बीच तथा सोवियत संघ और संयुक्त राज्य अमरीका के बीच समझौते हुए। यही वह एकता थी, जिसके कारण जर्मनी, इटली और जापान को आख़िरकार हराया जा सका।

युद्ध का विस्तार

आप 1931 में चीन पर हुए जापानी हमले के बारे में पढ़ चुके हैं। 1937 में जापानियों ने चीन पर एक और हमला किया। जर्मनी और इटली के साथ जापान भी कोमिंटर्न-विरोधी-गठजोड़ का एक सदस्य था। सितंबर 1940 में इन तीनों ने एक और समझौते पर हस्ताक्षर किए जिसने उनकी

एकता को और भी ठोस बना दिया। जापान ने "यूरोप में एक नई व्यवस्था के निर्माण के लिए जर्मनी और इटली के नेतृत्व" को मान्यता दी और एशिया में एक नई व्यवस्था के निर्माण के लिए जापान के नेतृत्व को मान्यता दी गई। इस समझौते का उद्देश्य विश्व का पुनर्विभाजन था। 7 दिसंबर 1941 को जापान ने युद्ध की घोषणा किए बिना हवाई स्थित पर्ल हार्बर के अमरीकी नौसैनिक अड्डे पर ज़बर्दस्त हमला कर दिया। वहाँ मौजूद अमरीका का प्रशांत बेड़ा तहस-नहस हो गया। अमरीका को 20 जंगी जहाजों और लगभग 250 हवाई जहाजों से हाथ धोना पड़ा, लगभग 3000 लोग मारे गए । अमरीकी भौचक्के रह गए। जापान और अमरीका की सरकारों के बीच एशिया और प्रशांत क्षेत्र से संबंधित अपने मतभेदों को दूर करने के लिए काफी दिनों से बातचीत चल रही थी। चीन पर जापानी हमले के बाद अमरीका की सरकार अनेक ज़रूरी वस्तुएँ जापान भेजे जाने की अनुमति दे रही थी। बातचीत जारी रहते हुए भी पर्ल हार्बर पर हुए जापानी हमले ने दिखा दिया कि जापान एशिया और प्रशांत क्षेत्र की विजय के लिए दृढ़ प्रतिज्ञ है। इसके बाद द्वितीय विश्वयुद्ध सही अर्थों में विश्वव्यापी हो गया। 8 दिसंबर 1941 को अमरीका ने जापान के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। तुरंत बाद जर्मनी और इटली ने भी संयुक्त राज्य के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। युद्ध में संयुक्त राज्य अमरीका के शामिल होने के बाद अमरीकी महाद्वीप के बहुत सारे देश जर्मनी, इटली और जापान के विरुद्ध युद्ध में उतर आए। एशिया की लड़ाई में जापान को महत्वपूर्ण सफलताएँ मिलीं। पर्ल हार्बर पर हमले के छह माह के भीतर जापानियों ने मलाया, बर्मा, इंडोनेशिया, फिलिपीन्स, सिंगापुर, थाईलैंड, हांग-कांग और दूसरे अनेक क्षेत्रों को जीत लिया था।

1942 के मध्य तक फ़ासीवादी ताकतें अपने प्रभुत्व के शिखर तक पहुँच चुकी थीं। इसके बाद उनका पतन आरंभ हुआ।

स्तालिनग्राद की लड़ाई

फ़ासीवादी ताकतों के ख़िलाफ़ लड़ने वाले देशों की एकता जनवरी 1942 में मज़बूत हुई। ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ समेत 26 राष्ट्रों के प्रतिनिधियों ने एक घोषणापत्र पर हस्ताक्षर किए जो संयुक्त राष्ट्र घोषणापत्र के नाम से मशहूर हुआ। इस घोषणापत्र पर हस्ताक्षर करने वालों ने यह निश्चय किया कि विजय होने तक वे अपने सभी संसाधनों का उपयोग युद्ध के लिए करेंगे और अपने समान दुश्मन के ख़िलाफ़ एक दूसरे से सहयोग करेंगे। उन्होंने कोई पृथक शांति-संधि न करने का वचन दिया।

7 दिसम्बर 1941 को जापानी फौज के आक्रमण के बाद पर्ल हार्बर

स्तालिनग्राद (आज का वोलगोग्राद) की लड़ाई के बाद युद्ध में एक महत्वपूर्ण मोड़ आया। नवम्बर-दिसम्बर 1941 में मास्को की ओर जर्मनों के अभियान को कड़े प्रतिरोध का सामना करना पड़ा और उनका हमला नाकाम कर दिया गया तब जर्मनी ने दक्षिणी रूस में आक्रामक कार्रवाई शुरू की। अगस्त 1942 में जर्मन सेनाएँ स्तालिनग्राद के बाहर तक पहुँच गईं। पाँच माह से अधिक समय तक वहाँ लड़ाई चली। इसमें लगभग बीस लाख लोगों, 2000 टैंकों और 2000 हवाई जहाजों ने भाग लिया। स्तालिनग्राद के नागरिकों ने नगर की रक्षा में सैनिकों का साथ दिया। फ़रवरी 1943 में लगभग 90,000 जर्मन अफसरों और सैनिकों ने आत्मसमर्पण कर दिया। इस लड़ाई में जर्मनी ने लगभग तीन लाख लोग खो दिए। इस लड़ाई ने युद्ध का रुख़ ही मोड़ दिया।

सन् 1942 का यूरोप
अटलांटिक महासागर
सोवियत संघ
फिनलैंड
स्वीडन
नार्वे
लेनिनग्राद
एस्तोनिया
लेत्विया
लिथुआनिया
मास्को
आयरलैंड
उत्तरी सागर
डेनमार्क
बाल्टिक सागर
ग्रेट ब्रिटेन
लंदन
हालैंड
बर्लिन
डेनज़िंग
वार्सा
स्तालिनग्राद
बेल्जियम
जर्मनी
पोलैंड
पेरिस
फ्रांस
चेकोस्लोवाकिया
आस्ट्रिया
स्विटज़रलैंड
हंगरी
रोमानिया
वाइशी
काला सागर
यूगोस्लाविया
इटली
स्पेन
रोम
अल्बानिया
बल्गारिया
तुर्की
भूमध्य सागर
सीरिया
सऊदी अरब
लाल सागर
एक्सिस देश
एक्सिस देशों द्वारा अधिग्रहण किये गए क्षेत्र
तटस्थ देश
मित्र राष्ट्रों के अंतर्गत के क्षेत्र

समुद्र में भारत का जल प्रदेश, उपयुक्त आधार रेखा से मापे गये बारह समुद्री मील की दूरी तक है।
मानचित्रों के आंतरिक विवरणों को सही दर्शाने का दायित्व प्रकाशक का है।

स्तालिनग्राद की लड़ाई में जर्मन सेना की पराजय, फरवरी 1943

दूसरा मोर्चा

फ़ासीवादी देशों को दूसरे क्षेत्रों में भी नुकसान होने लगे। जापान आस्ट्रेलिया और हवाई पर कब्ज़ा नहीं कर सका। 1943 के आरंभ तक उत्तरी अफ्रीका में जर्मन और इतालवी सेनाओं का सफाया हो गया। उत्तरी अफ्रीका में फ़ासीवादी सेना के विनाश से भी युद्ध में एक नया मोड़ आया। जुलाई 1943 मे ब्रिटिश और अमरीकी सेनाओं ने सिसली पर कब्ज़ा कर लिया। इटली की जनता के अनेक वर्ग मुसोलिनी के ख़िलाफ़ हो गए थे। उसे गिरफ्तार कर लिया गया और एक नई सरकार की स्थापना हुई। यह सरकार जर्मनी के ख़िलाफ़ युद्ध में शामिल हो गई। मगर जर्मन सेनाओं ने उत्तरी इटली पर हमला किया। वहाँ जर्मनी की मदद से भाग निकलने वाले मुसोलिनी ने अपने नेतृत्व में एक जर्मन समर्थक सरकार बनाई। इस बीच ब्रिटिश और अमरीकी सेनाएँ इटली में घुस आईं। जर्मनों को इटली से निकाल बाहर करने के लिए एक लंबी लड़ाई की शुरुआत हो गई। उस समय सोवियत संघ जर्मनी के खिलाफ़ महत्वपूर्ण जीतें हासिल कर रहा था और वह चेकोस्लोवाकिया और रोमानिया में प्रवेश कर चुका था जो अब तक जर्मनी के कब्ज़े में थे।

6 जून 1944 को एक लाख से भी अधिक ब्रिटिश और अमरीकी सैनिक फ्रांस मे नारमंडी के समुद्रतट पर उतरे। सितंबर तक उनकी संख्या बढ़कर बीस लाख हो गई। जर्मनी की पराजय ने इस मोर्चे को एक महत्वपूर्ण भूमिका दी। इसी को 'दूसरा मोर्चा' कहा जाता है। जर्मनी और सोवियत संघ के बीच यूरोप में 1942 के बाद बड़ी घमासान लड़ाइयाँ हुईं। सोवियत संघ लंबे समय से दूसरा मोर्चा खोलने की मांग करता आ रहा था, क्योंकि इससे जर्मनी को दूसरे मोर्चो पर भी लड़ने के लिए मज़बूर होना पड़ता और इस प्रकार उसकी पराजय और भी जल्दी हो जाती। "दूसरा मोर्चा" खुल जाने के बाद हर जगह जर्मन सेनाओं के पाँव उखड़ने लगे।

यूरोप में युद्ध का अंत

6 जून 1944 के बाद जर्मन सेनाओं को तीन दिशाओं से बढ़ रही मित्र राष्ट्रों की सेनाओं का सामना करना पड़ा। इटली में ब्रिटिश और अमरीकी सेनाएँ आगे बढ़ रही थीं। उत्तरी और पश्चिमी फ्रांस तथा पेरिस नगर मुक्त कराए
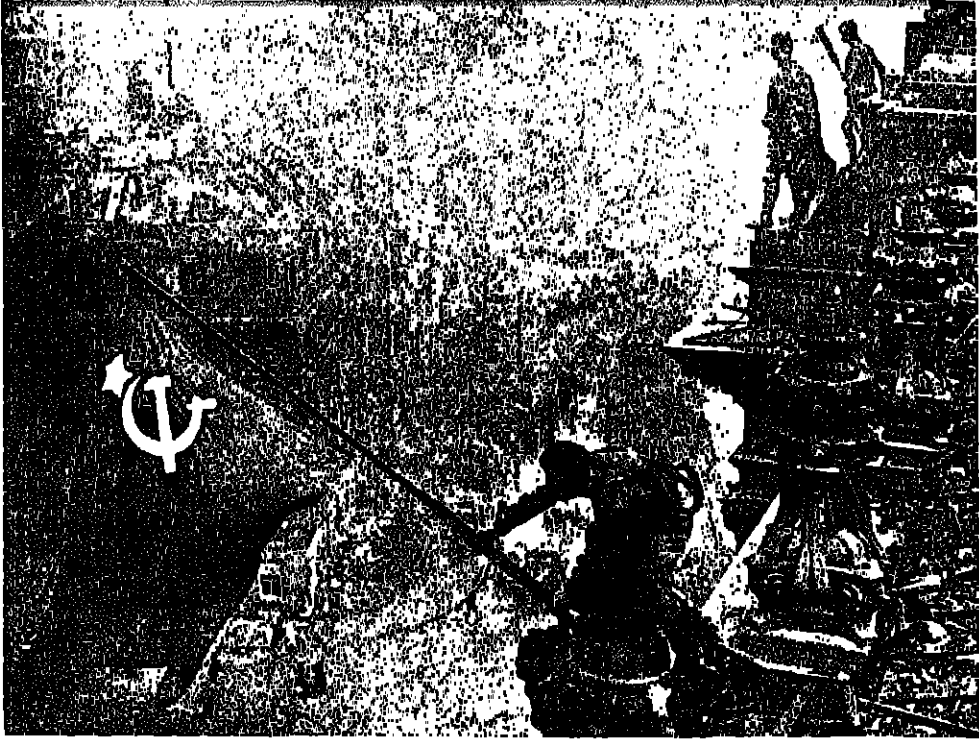
2 मई 1945 को सोवियत सेना ने बर्लिन में प्रवेश किया। इस चित्र में एक सोवियत सैनिक को हाथ में झंडा लिए प्रदर्शित किया गया है जो विजय का प्रतीक है।

जा चुके थे और अब मित्र राष्ट्रों की सेनाएँ बेल्जियम और हालैंड की ओर बढ़ रही थीं। पूर्वी मोर्चे पर भी जर्मनी का दम उखड़ रहा था। पूर्व से सोवियत सेना और पश्चिम से अन्य मित्र राष्ट्रों की सेनाएँ जर्मनी को घेर रही थी। 2 मई 1945 को सोवियत सेनाओं ने बर्लिन में प्रवेश किया। उसी दिन सुबह के समय हिटलर ने आत्महत्या कर ली थी। 7 मई 1945 को जर्मनी ने बिना शर्त समर्पण कर दिया। 9 मई 1945 को बारह बजे दोपहर से यूरोप में जंग समाप्त हो गई।

जापान का आत्मसमर्पण

जर्मनी की हार के बाद एशिया मे लड़ाई तीन माह तक और जारी रही। प्रशांत क्षेत्र, फिलिपीन्स और बर्मा में संयुक्त राज्य और ब्रिटेन जापान के खिलाफ सफल कार्यवाहियाँ कर रहे थे। परंतु काफी धक्कों के बावजूद भी जापानी चीन के एक बड़े भाग पर अभी भी कब्ज़ा किए हुए थे। 6 अगस्त 1945 को जापान के हिरोशिमा नगर पर एक परमाणु बम गिराया गया जो युद्ध के दौरान विकसित एक घातक अस्त्र था। यह पहला मौका था जब परमाणु बम का उपयोग किया गया था। इस एक बम ने ही हिरोशिमा नगर को नष्ट कर दिया। एक और परमाणु बम 9 अगस्त 1945 को नागासाकी नगर पर गिराया गया और वह नगर नष्ट हो गया। इस बीच सोवियत संघ जापान के खिलाफ युद्ध की घोषणा करके मंचूरिया और कोरिया में जापानी सेनाओं के खिलाफ सैनिक कार्रवाइयाँ आरंभ कर चुका था। 14 अगस्त को जापान ने संदेश भेजा कि वह मित्रराष्ट्रों द्वारा अपने समर्पण की माँग मानता है, हालाँकि वास्तविक समर्पण-कार्य 2 सितंबर 1945 को ही हुआ। जापान के समर्पण के साथ द्वितीय विश्वयुद्ध समाप्त हो गया।
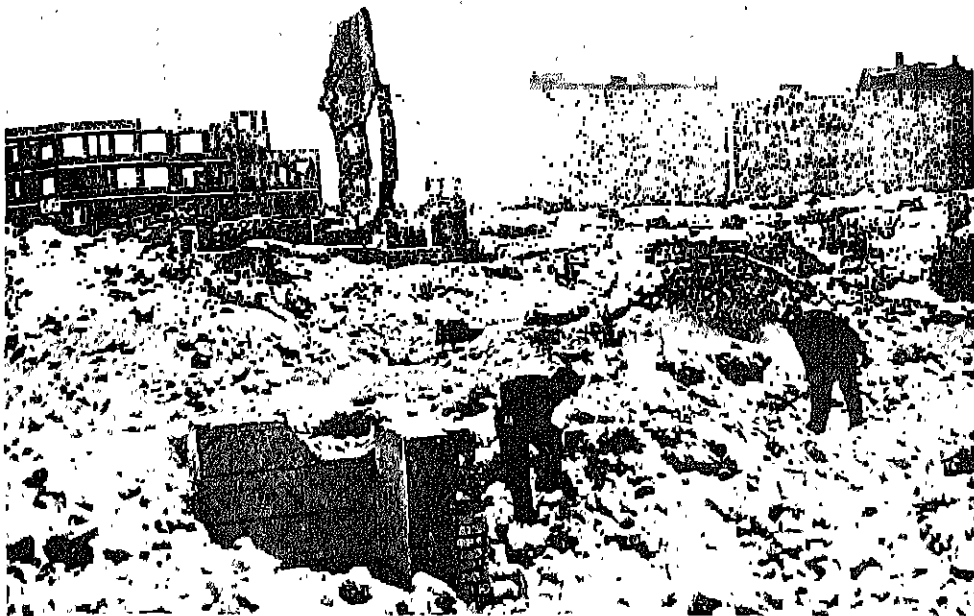
युद्ध के बाद ध्वस्त हालत में बर्लिन

प्रतिरोध आंदोलन

फ़ासीवादी देशों के हमले के शिकार सभी यूरोपीय देशों में वहाँ की जनता ने प्रतिरोध आंदोलन संगठित किए थे। अनेक देशों में वहाँ की सरकारों ने बिना किसी ख़ास लड़ाई के हमलावरों के आगे आत्मसमर्पण कर दिया था, पर वहाँ की जनता फ़ासीवादी शासन का प्रतिरोध करती रही। उदाहरण के लिए, जब फ़्रांस की सरकार ने समर्पण कर दिया तब फ़्रांस की जनता ने जर्मन कब्ज़े के ख़िलाफ़ एक लोकप्रिय प्रतिरोध आंदोलन का आरंभ किया था। फ़्रांस के बाहर जनरल द गाल के नेतृत्व में एक फ़्रांसीसी सेना भी गठित की गई जिसने युद्ध मे सक्रिय भाग लिया। दूसरे देशों में भी ऐसी ही सेनाएँ गठित की गईं। अधिकार में लिए गए देशों में प्रतिरोध आंदोलनों ने छापामार फ़ौजों का निर्माण किया। यूगोस्लाविया और यूनान जैसे अनेक देशों में बड़े पैमाने पर छापामार गतिविधियाँ चलाई गईं, अनेक देशों में बड़े पैमाने पर विद्रोह हुए। वारसा में पोलैंड की जनता का बहादुराना विद्रोह प्रतिरोध आंदोलनों के इतिहास का एक शानदार अध्याय है। फ़ासीवादी देशों के अंदर भी प्रतिरोध आंदोलन चलाए गए। इटली और जर्मनी की फ़ासीवादी सरकारों ने लाखों फ़ासीवादी-विरोधी लोगों की हत्याएँ की थीं मगर फिर भी इन देशों के अनेक फ़ासीवाद-विरोधी लोग अपने देशों के अन्दर और बाहर फ़ासीवाद के ख़िलाफ़ लड़ते रहे। इटली में फ़ासीवाद-विरोधी ताकतें बहुत ही शक्तिशाली थीं और मुसोलिनी के ख़िलाफ़ युद्ध में तथा इटली में जर्मन सेनाओं के ख़िलाफ़ लड़ाई में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका रही। फ़्रांस में, यूनान में तथा मार्शल टीटो के नेतृत्व यूगोस्लाविया में जनता ने फ़ासीवादी आक्रमणों का बहादुरी से सामना किया। इन प्रतिरोध आंदोलनों में समाजवादियों, कम्युनिस्टों और दूसरे फ़ासीवाद-विरोधियों की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका रही। लाखों-लाख फ़ासीवाद-विरोधी नागरिक योद्धा इस युद्ध मे खेत रहे।

हरेक ऐसे क्षेत्र में जहाँ युद्ध फैला, हमलों के शिकार देशों की जनता ने बहादुरी के साथ लड़ाई लड़ी। एशिया

प्रतिरोध करने वाले यूगोस्लाव नेताओं के साथ जोसिप ब्रोज टीटो (एकदम दाएं), 1944
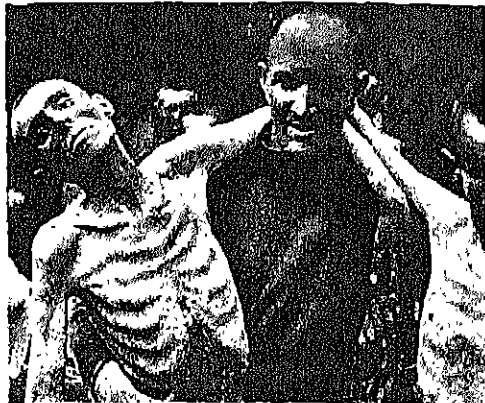
एक जर्मन यातना शिविर से जीवित बचे लोग

में चीन की जनता 1930 के फौरन बाद के वर्षों से ही जापानी हमले झेलती आई थी। 1920 के दर्शक के अंतिम वर्षों में चीन में कम्युनिस्टों और कोमिनतांग के बीच जो गृह युद्ध भड़का था, वह समाप्त हो गया और अब उसकी जगह जापानी हमले के विरोध में चलने वाले एक व्यापक राष्ट्रीय प्रतिरोध ने ले ली। जापान द्वारा विजित एशिया के अन्य भागों में भी, जैसे-हिंदचीन, कोरिया, इंडोनेशिया, फिलिपीन्स और बर्मा में, जनता ने शक्तिशाली प्रतिरोध आंदोलन छेड़े। ब्रिटिश और फ्रांसीसी साम्राज्यवाद के खिलाफ लड़ रहे जनगणों ने इस फासीवाद-विरोधी युद्ध का समर्थन किया। फासीवाद सुसंगठित बर्बरता का दूसरा नाम था और उसे अपनी स्वाधीनता के लिए लड़ रहे जनगण अपना सहयोगी नहीं मानते थे। उदाहरण के लिए, ब्रिटिश शासन से मुक्ति के लिए लड़ते हुए भी भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस ने फासीवाद का विरोध किया।

युद्ध में हुई बर्बादी

द्वितीय विश्वयुद्ध इतिहास का सबसे विनाशकारी युद्ध था। फासीवादियों ने यूरोप के एक बड़े भाग को एक बहुत बड़ा कब्रिस्तान और दासों का शिविर बना रखा था। यहूदियों के प्रति नाज़ियों की घृणा का पहले ही वर्णन किया जा चुका है। जर्मनी में और जर्मन कब्ज़े में आए यूरोपीय भागों में, युद्ध से पहले और उसके दौरान यहूदियों को पकड़ लिया जाता था। इनमें से साठ लाख यहूदी मार डाले गए। जर्मनी द्वारा आधिपत्य में लिए गए देशों की जनता के श्रम का उपयोग किया जाता था और उसके लिए अत्यंत भयानक श्रम शिविर खोले गये थे। लाखों लोग यंत्रणा-शिविरों में भेजकर मार डाले गए। ऐसे अनेक शिविर (जैसे बुख़ेनवाल्ड, आस्चविज़ और दख़ाओ के शिविर) वास्तव में मृत्यु-शिविर थे जहाँ लोगों को मारने के लिए नए-नए तरीकों का इस्तेमाल किया जाता था। लोग गैस-चैंबरों में डालकर मार दिए जाते। बड़े पैमाने पर नरसंहार किए गए। कैदियों से सामूहिक क़ब्रें खुदवाई जातीं, फिर उनको गोली मारकर उन्हीं कब्रों में डाल दिया जाता। यंत्रणा-शिविरों के करीब कुछ ख़ास तरह के कारख़ाने बनाए गए जहाँ इंसानी खाल और हड्डी से वस्तुएँ बनाई जाती थीं। फासीवादियों, खासकर जर्मन नाज़ियों ने जिस तरह की यंत्रणाओं और दरिंदगी का सहारा लिया, वह इतिहास में अभूतपूर्व था और जिस बड़े पैमाने पर यह सब किया गया वह भी अभूतपूर्व था। ऐसी दरिंदगी के अनेक उदाहरण तब सामने आए जब जर्मनी युद्ध में हार गया, सामूहिक हत्याओं के स्थानों का पता चला और यंत्रणा-शिविरों में बचे हुए लोगों के बयान लिए गए। जापानियों द्वारा अपने कब्ज़े में किए गए अत्याचार भी कुछ कम हैवानी नहीं थे। तथा-कथित जापानी 'डाक्टरों' और 'वैज्ञानिकों' ने मनुष्यों पर चिकित्सा संबंधी अमानवीय प्रयोग किए।

इस युद्ध में जितने लोग काल कवलित हुए उसका

इतिहास में कोई उदाहरण नहीं मिलता। द्वितीय विश्वयुद्ध में पाँच करोड़ से अधिक लोग मृत्यु के घाट उतार दिए गए। इनमें लगभग 2.2 करोड़ सैनिक और 2.8 करोड़ से अधिक नागरिक शामिल थे। लगभग 1.2 करोड़ लोग यंत्रणा-शिविरों में या फ़ासीवादियों के आतंक के कारण मारे गए। कुछ देशों को जनसंख्या के एक बड़े भाग से हाथ धोना पड़ा। उदाहरण के लिए, पोलैंड के 60 लाख लोग मारे गए जो कुल जनसंख्या का लगभग 20 प्रतिशत थे। इनमें लगभग 50 लाख लोग असैनिक नागरिक थे। सबसे भयानक नुकसान सोवियत संघ का हुआ। उसके दो करोड़ लोग मारे गए जो आबादी का दसवाँ हिस्सा थे। जर्मनी के साठ लाख से अधिक लोग मारे गए जो आबादी का लगभग दसवाँ भाग थे। मानवीय हानि के अलावा अनेक देशों के आर्थिक और भौतिक संसाधन बुरी तरह क्षतिग्रस्त हुए। अनेक प्राचीन नगर लगभग पूरी तरह नष्ट हो गए। द्वितीय विश्वयुद्ध की कुल लागत बहुत ऊँची थी। अनुमान है कि यह लागत 13 खरब 84 अरब 90 करोड़ डालर थी।

द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान तबाही के नए-नए हथियारों का विकास और उपयोग किया गया। इनमें सबसे भयानक था – परमाणु बम। परमाणु बम का विकास सबसे पहले संयुक्त राज्य अमरीका ने द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान किया। इसके विकास में अनेक देशों के वैज्ञानिकों ने सहायता की थी। इनमें वे वैज्ञानिक भी शामिल थे जो यूरोप में फ़ासीवादी अत्याचारों से बचने के लिए भागकर अमरीका चले आए थे। इस बम के विकास की परियोजना तब आरंभ हुई जब अनेक वैज्ञानिकों ने अमरीकी सरकार से संपर्क इस शंका से ग्रस्त होकर किया कि नाज़ी जर्मनी परमाणु बम का विकास कर रहा था। उन्हें भय था कि अगर नाज़ियों ने इस बम का विकास कर लिया तो वे इसका डर दिखाकर पूरी दुनिया को गुलाम बना लेंगे। परमाणु बम का पहला परीक्षण जुलाई 1945 में किया गया। जर्मनी तब तक आत्मसमर्पण कर चुका था। इसके विकास में सहायता देने वाले अनेक लोगों ने अमरीकी सरकार से प्रार्थना की कि वह इसका प्रयोग जापान के ख़िलाफ़ न करे, जिसके ख़िलाफ़ युद्ध अभी भी चल रहा था। उन्होंने यह भी चेतावनी दी कि अगर जापान के ख़िलाफ़ परमाणु बम का उपयोग किया गया तो परमाणु अस्त्रों के उत्पादन की दौड़ आरंभ होने का ख़तरा हो सकता है। मगर, जैसाकि पहले कहा जा चुका है, संयुक्त राज्य की सरकार ने दो जापानी नगरों, हिरोशिमा और नागासाकी पर बम गिराए। इन दो बमों से कुल मिलाकर 320,000 लोग तत्काल मारे गए और दोनों नगरों के बड़े भाग पूरी तरह नष्ट हो गए। जो लोग जीवित बच गए थे उनकी संतानों के स्वास्थ्य पर इन बमों के दुष्प्रभाव अभी भी जारी हैं। अमरीका की सरकार ने परमाणु बमों के प्रयोग को इस आधार पर उचित ठहराया कि इससे द्वितीय विश्वयुद्ध तत्काल समाप्त हो गया और इस तरह उन लाखों लोगों की जानें बच गईं जो युद्ध के जारी रहने पर चली जातीं। बम बनाने में सहायता देने वाले अनेक वैज्ञानिकों समेत अनेक दूसरे लोगों ने परमाणु बम के प्रयोग की निंदा की। जर्मनी की हार और यूरोप में युद्ध की समाप्ति के बाद जापान युद्ध को जारी रखने की स्थिति में न था और उसका समर्पण कुछ ही दिनों की बात थी। कुछ विद्वानों का विचार है कि परमाणु बम के प्रयोग का मुख्य उद्देश्य युद्ध के बाद की दुनिया में संयुक्त राज्य अमरीका की श्रेष्ठता स्थापित करना था, क्योंकि तब केवल उसी के पास परमाणु अस्त्र थे। कुछ भी हो, वैज्ञानिकों की यह भविष्यवाणी कि परमाणु बम के उपयोग से परमाणु अस्त्रों के निर्माण की दौड़ आरंभ हो जाएगी, सही सिद्ध हुई। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद कुछेक वर्षों के भीतर कुछ और देशों ने भी परमाणु अस्त्रों का विकास कर लिया। इसके अलावा दूसरे नाभिकीय अस्त्रों का भी विकास हुआ। ये अस्त्र जापान पर गिराए गए बमों से हज़ारों गुना अधिक शक्तिशाली हैं और अगर इनका उपयोग किया गया तो धरती पर मानव-जीवन पूरी तरह नष्ट हो जाएगा।

अभ्यास

जानकारी के लिए

1. फ़ासीवादी और नाज़ी आंदोलनों की प्रमुख विशेषताएँ क्या थीं ?
2. 1929-33 के आर्थिक संकट के परिणामों की व्याख्या कीजिए।
3. 'धुरी शक्तियों' से क्या अभिप्राय है ?
4. इटली और जर्मनी में फ़ासीवाद की विजय के परिणामों का वर्णन कीजिए।
5. इटली और जर्मनी की विदेश नीतियों के प्रमुख उद्देश्य क्या थे ? जापान की विदेश नीति के प्रमुख उद्देश्य क्या थे ?
6. 1936 से 1939 तक की उन प्रमुख घटनाओं का वर्णन कीजिए, जिन्होंने एक और विश्वयुद्ध की परिस्थितियों को जन्म दिया।
7. 1931 से 1938 के बीच पश्चिमी शक्तियों ने जापान, इटली और जर्मनी की हमलावर कार्यवाहियों को रोकने के लिए क्या कदम उठाए ?
8. प्रथम विश्वयुद्ध के बाद एशिया में राष्ट्रीय आंदोलनों के विकास का वर्णन कीजिए। 1919 और 1939 के बीच स्वतंत्रता प्राप्त करने वाले एशियाई देशों के नाम बतलाइए।
9. निम्नलिखित शब्दों की व्याख्या कीजिए : नकली युद्ध, दूसरा मोर्चा, ब्रिटेन की लड़ाई।

करने के लिए

1. यूरोप के मानचित्र पर उन देशों को दर्शाइए जिन पर जर्मनी ने 1936 और अगस्त 1939 के बीच कब्ज़ा किया।
2. एशिया के मानचित्र पर उन क्षेत्रों को दर्शाइए जो द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जापान के कब्ज़े में थे।
3. भारत के स्वतंत्रता आंदोलन पर लिखी गई पुस्तकों से जवाहरलाल नेहरू और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के फ़ासीवाद पर विचार एकत्र करने के प्रयास कीजिए।
4. द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विकसित किए गए नए अस्त्रों के बारे में अध्ययन कीजिए। इन अस्त्रों की विनाशकारी शक्ति की उन अस्त्रों की विनाशकारी शक्ति से तुलना कीजिए जो द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान प्रयोग किए गए थे।

विचार और वाद-विवाद के लिए

1. क्या आप मानते हैं कि फ़ासीवादी शक्तियों के तुष्टीकरण की पश्चिमी देशों की नीति ने दूसरे विश्वयुद्ध को जन्म दिया ? अपने उत्तर के समर्थन में दलीलें दीजिए।
2. तुष्टीकरण की नीति का मूल कारण क्या था ?
3. क्या आप मानते हैं कि जापान के ख़िलाफ़ संयुक्त राज्य द्वारा परमाणु बम का उपयोग उचित था ? अपने उत्तर की व्याख्या कीजिए।

अध्याय 5.

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की दुनिया

दूसरा विश्वयुद्ध 1945 में समाप्त हो गया। उसके बाद से दुनिया का पूरी तरह कायाकल्प हो गया है। इसका राजनीतिक नक्शा भी बदल चुका है। विश्वयुद्ध के पहले कुछ मुट्ठी-भर यूरोपीय साम्राज्यवादी देशों का जो प्रभाव और प्रभुत्व था, वह अतीत की कहानी बन चुका है। पहले काफी बड़ी संख्या में एशियाई और अफ्रीकी देश उपनिवेशवादी शासन के अधीन थे, इन देशों का अब स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में उदय हुआ है। विश्व की गतिविधियों के संदर्भ में अब जो भी विचार-विमर्श चलता है, उसमें इन देशों की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। सबसे बड़ी शक्ति के रूप में संयुक्त राज्य अमरीका का उदय हुआ और युद्ध में भयानक तबाही झेलने के बाद भी सोवियत संघ बड़ी ताकत के रूप में सामने आया। एक अन्य बात भी देखने में आई कि युद्ध के पहले अकेले सोवियत संघ समाजवाद का प्रवक्ता था लेकिन युद्ध के बाद सोवियत संघ के अलावा अनेक देशों ने इसको स्वीकार कर लिया।

दो विश्वयुद्धों के बीच कुल तीस वर्ष का अंतराल है। इसको अल्प-अवधि ही माना जाएगा। इनमें काफी बड़ी संख्या में लोगों को अपने प्राण गँवाने पड़े थे। इसके बाद एक नए विश्वयुद्ध का खतरा पैदा हो गया जिसमें पृथ्वी से मानव-जीवन के समूल विनाश का अंदेशा था । इसके चलते लोगों में जागरूकता आई और स्थाई शांति की ज़रूरत महसूस की गई। इसलिए विभिन्न राष्ट्रों में पारस्परिक मित्रता और सहयोग पर आधारित संबंधों के विकास की दिशा में प्रयास शुरू हुए। इस काम के लिए कई नई संस्थाएँ और एजेंसियाँ स्थापित की गईं। बहरहाल, इन कोशिशों के बावजूद दूसरे विश्वयुद्ध के बाद का समय दबावों और तनावों से भरपूर रहा है। इस दौर में अनेक टकराव और युद्ध हुए, जिनमें बहुत बड़ी संख्या में लोग मारे गए यद्यपि विश्व किसी बहुत बड़े विध्वंस की आग में जलने से बचा रहा।

इस सदी के नवें दशक के आखिरी सालों से दुनिया के कुछ हिस्सों में कुछ दूसरी तरह के परिवर्तन हुए। पिछले तकरीबन पाँच सालों के दौरान हुई कुछ घटनाओं ने दूसरे विश्वयुद्ध के, यहाँ तक कि पहले युद्ध के कारण हुए कुछ परिवर्तनों को भी पलट दिया। इस अवधि में विश्व के राजनीतिक मंच पर जो मुद्दे प्रमुख हो गए थे और जिन शक्तियों और कारकों ने दुनिया की शक्ल को बदला था, उनमें से कुछ अब बेमानी हो चुके हैं। रूसी क्रांति के बाद अनेक देशों की नीति-निर्धारण में साम्यवाद का खौफ़ प्रमुख कारक रहा है और दूसरे युद्ध के बाद की अवधि में देखें तो यह बात और भी सच है लेकिन आज की परिस्थिति के हिसाब से देखें तो अब साम्यवाद का भय कोई मुद्दा नहीं रह गया है। सोवियत संघ तथा पूर्वी यूरोप के अन्य देशों में अब साम्यवादी शासन समाप्त हो चुका है। अब सोवियत संघ 15 स्वतंत्र राज्यों में बँट चुका है। समूची दुनिया में कई तरह के और परिवर्तन भी हुए हैं और हम अब शायद यह भी कह सकते हैं कि इस सदी के नौवें दशक के अंतिम वर्षों से दूसरे विश्वयुद्ध के बाद की दुनिया के इतिहास में सर्वथा नए चरण की शुरुआत होती है।

दूसरे विश्वयुद्ध के तात्कालिक नतीजे

विश्वयुद्ध के दौरान प्रमुख मित्र-राष्ट्रों ने अनेक सम्मेलन आयोजित किए तथा अनेक घोषणा-पत्र जारी किए जिनके आधार पर आगे चलकर शांति कायम की जानी थी। इस

आशय का पहला घोषणा-पत्र 1941 में ब्रिटेन और अमरीका की तरफ़ से जारी किया गया। इसमें कहा गया था कि अमरीका तथा ब्रिटेन किसी भू-भाग की माँग नहीं करेंगे। इस घोषणा-पत्र में इस बात का समर्थन किया गया था कि हर राष्ट्र को यह पूरा हक़ है कि वह अपनी इच्छा के मुताबिक अपनी सरकार का ढाँचा चुने। जैसा पहले बताया गया है, 1942 के आरंभ में संयुक्त राष्ट्र संघ का घोषणा-पत्र जारी हुआ था। इस घोषणा-पत्र में ब्रिटेन तथा अमरीका द्वारा जारी किए गए उपर्युक्त घोषणा-पत्र का समर्थन किया गया था। एक अन्य घोषणा-पत्र में कहा गया था कि जापान ने चीन का जो भी भू-भाग अपने कब्ज़े में कर रखा है, उसे चीन को वापस कर दिया जाएगा। 1943 में ब्रिटिश नेता चर्चिल, अमरीकी नेता रूज़वेल्ट तथा रूसी नेता जोसेफ़ स्तालिन तेहरान में मिले। उन्होंने अपने इस संकल्प की घोषणा की कि " युद्ध की विभीषिका और आतंक को हमेशा के लिए समाप्त किया जाएगा'' और ऐसे विश्व की रचना की जाएगी जिसमें सब राष्ट्र 'आतंक और अत्याचार से मुक्त अपनी-अपनी इच्छा और मन के अनुसार स्वतंत्र जीवन-यापन कर सकेंगे"।

1945 के आरंभ में जब जर्मनी की हार निश्चित हो चुकी थी, तीनों बड़े राष्ट्रों के नेता सोवियत संघ स्थित याल्टा में मिले। यहाँ उन्होंने अनेक विषयों पर विचार-विमर्श किया जिसमें जर्मनी के साथ व्यवहार तथा जर्मनी से मुक्त कराए गए ग़ैर-जर्मन क्षेत्रों के विषय शामिल थे।

याल्टा सम्मेलन में राष्ट्र संघ (लीग ऑफ़ नेशंस) की जगह एक और संगठन बनाने का फ़ैसला किया गया। बाद में अमरीका के सान फ़्रांसिस्को नगर में 25 अप्रैल, 1945 से एक सम्मेलन आरंभ हुआ। इस सम्मेलन में 50 राष्ट्रों ने भाग लिया। 26 जून को सम्मेलन में एक संयुक्त राष्ट्र चार्टर स्वीकृत किया गया जिसके अनुसार एक नया विश्व-संगठन बनाया गया। यह संगठन है – संयुक्त राष्ट्र संघ जो " सभी शांति प्रेमी राज्यों की प्रभुतासंपन्न समानता'' के सिद्धांत की बुनियाद पर बनाया गया। इसके उद्देश्य थे, राष्ट्रों के बीच मित्रता के संबंधों का विकास करना और आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक या लोकोपकारी अंतर्राष्ट्रीय समस्याओं के बारे में अंतर्राष्ट्रीय सहयोग विकसित करना।

इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ(आगे इसे केवल संयुक्त राष्ट्र कहा गया है) के छ: प्रमुख संगठन स्थापित किए गए। ये हैं: (1) महासभा–इसमें संयुक्त राष्ट्र के सभी सदस्य देश शामिल होते हैं। (2) सुरक्षा परिषद्–इसके 11 सदस्य होते थे। इनमें पाँच स्थायी सदस्य हैं। ये हैं–संयुक्त राज्य अमरीका, सोवियत संघ (अब रूस), ब्रिटेन, फ़्रांस और चीन। शेष छ: सदस्य अस्थायी थे। इनका चुनाव महासभा दो वर्षों के लिए करती है। सुरक्षा परिषद् की प्रमुख ज़िम्मेदारी शांति और सुरक्षा बनाए रखना है। बाद में अस्थायी सदस्यों की संख्या बढ़ाकर दस कर दी गई। (3) आर्थिक और सामाजिक परिषद्–18 सदस्यों वाले इस संगठन का उद्देश्य "सभी के मानवीय अधिकारों और मूलभूत स्वतंत्रता के प्रति आदर तथा उनके पालन की भावना'' विकसित करना है। (4) न्यासिता परिषद् (ट्रस्टीशिप कौंसिल) (5) अंतर्राष्ट्रीय न्यायालय, और (6) सचिवालय–इसका प्रमुख, महासभा द्वारा निर्वाचित महासचिव होता है।

इनके अलावा अनेक विशेषीकृत संगठनों की स्थापना भी की गई। इनमें से कुछ हैं – संयुक्त राष्ट्र शैक्षणिक, वैज्ञानिक और सांस्कृतिक संगठन (यूनेस्को), विश्व स्वास्थ्य संगठन, खाद्य और कृषि संगठन, अंतर्राष्ट्रीय श्रम संगठन (इसकी स्थापना प्रथम विश्वयुद्ध के बाद हुई थी), आदि। यह महसूस किया गया कि अगर किसी विषय पर सुरक्षा

याल्टा में विंस्टन चर्चिल, फ़्रैंकलिन रूज़वेल्ट और जोसेफ़ स्तालिन, फ़रवरी 1945

परिषद् के सभी पाँच स्थायी सदस्य (जो उस समय के प्रमुख शक्तिशाली देश थे) आपस में सहमत नहीं होते, तो शांति और सुरक्षा के बनाए रखने से संबंधित कोई भी कार्यवाही सफल नहीं हो सकती। इसलिए यह व्यवस्था की गई कि सुरक्षा परिषद् के किसी भी निर्णय के लिए पाँचों स्थायी सदस्यों का समर्थन आवश्यक होगा।

संयुक्त राष्ट्र की स्थापना द्वितीय विश्वयुद्ध के सबसे महत्वपूर्ण परिणामों में से एक थी।

पोट्सडम सम्मेलन

ब्रिटेन, अमरीका और सोवियत संघ के शासनाध्यक्षों का एक और बड़ा सम्मेलन 1945 में 17 जुलाई से 2 अगस्त तक बर्लिन के करीब पोट्सडम में हुआ। इस सम्मेलन के बाद जारी घोषणा में जर्मनी के बारे में मित्र-राष्ट्रों के उद्देश्यों को सामने रखा गया था। जर्मनी तब तक आत्मसमर्पण कर चुका था। उसे चार क्षेत्रों में बाँटा गया था और ब्रिटेन, अमरीका, फ्रांस और सोवियत संघ के नियंत्रण में एक-एक क्षेत्र था। घोषणा-पत्र में कहा गया था कि मित्र राष्ट्रों का उद्देश्य जर्मनी का पूर्ण निरस्त्रीकरण करना, नाज़ी पार्टी को नष्ट करना तथा लोकतांत्रिक जर्मनी के निर्माण के लिए परिस्थितियाँ तैयार करना है। यह भी फैसला किया गया कि जिन लोगों ने मानवता के विरुद्ध अपराध किए हैं उन पर मुकदमा चलाने के लिए एक अंतर्राष्ट्रीय न्यायाधिकरण (ट्रिब्यूनल) बनाया जाएगा। पोलैंड और जर्मनी की सीमा निर्धारित करने तथा पूर्वी प्रशिया के उत्तरी भाग को सोवियत संघ तथा दक्षिणी भाग को पोलैंड के हवाले करने के फैसले भी किए गए।

युद्ध के दौरान तथा उसके बाद हुए इन विभिन्न सम्मेलनों ने युद्ध के बाद की राजनीतिक घटनाओं को प्रभावित किया।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद यूरोप

सोवियत सेनाओं ने यूरोप के अनेक देशों को जर्मन दासता से मुक्त कराया। ये देश थे—पोलैंड, हंगरी, रूमानिया, बुल्गारिया और चेकोस्लोवाकिया।

इन देशों में कम्युनिस्ट पार्टियों और फ़ासीवाद-विरोधी दूसरी पार्टियों ने जर्मन दासता के ख़िलाफ़ संघर्ष में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। 1948 के अंत तक इन सभी देशों की सरकारों पर कम्युनिस्ट पार्टियों का नियंत्रण द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद की महत्वपूर्ण घटना है। द्वितीय विश्वयुद्ध तक दुनिया में और यूरोप में केवल सोवियत संघ ही वह देश था जहाँ कम्युनिस्ट पार्टी का शासन था। अब अनेक यूरोपीय देशों में कम्युनिस्ट पार्टियों का शासन स्थापित हो गया। इन देशों में दूसरी पार्टियाँ बनाने की छूट या तो दी ही नहीं गई या उनका अस्तित्व नाम-मात्र का था। राजनीतिक सत्ता पूरी तरह कम्युनिस्ट पार्टियों के हाथों में थी। इन देशों में सोवियत सेनाओं की मौजूदगी वहाँ सत्ता पर कम्युनिस्ट पार्टियों के एकाधिकार के बने रहने की जमानत थी। कभी-कभी कम्युनिस्ट पार्टियों के वर्चस्व का विरोध करने वाले आंदोलनों को कुचलने के लिए सोवियत सेनाओं का इस्तेमाल भी किया गया। खुद कम्युनिस्ट पार्टियों के अंदर नीतिगत मतभेदों को व्यक्त करने की छूट न थी और पार्टियों के अंदर भी कुछेक लोगों के ही हाथों में शक्ति थी। जैसा कि सोवियत संघ में हुआ कि शासक दल के भीतर भी मतभेद बर्दाश्त नहीं किया जाता था। बहुत से दिग्गज कम्युनिस्ट नेताओं को या तो गोली मार दी गई अथवा उन पर नकली मुकदमे चलाए गए और उसके बाद उनको लंबे समय के लिए जेल में डाल दिया गया। इन देशों को कभी-कभी सोवियत संघ के "उपग्रह" भी कहा जाता था। यूगोस्लाविया की कम्युनिस्ट पार्टी शासन कर रही अकेली कम्युनिस्ट पार्टी थी जिसने सोवियत संघ के वर्चस्व को मानने से इन्कार कर दिया पर साथ ही यूगोस्लाविया की सरकार ने भी दूसरी राजनीतिक पार्टियाँ बनाने की छूट नहीं दी।

द्वितीय विश्वयुद्ध की समाप्ति के चार वर्षों के भीतर-भीतर कुछ ऐसी घटनाएँ हुईं, जिनके कारण जर्मनी का विभाजन हो गया। ब्रिटेन, फ्रांस, अमरीका और सोवियत संघ, ये चार शक्तियाँ जर्मनी के चार हिस्सों पर नियंत्रण बनाए हुए थीं। वे अपने-अपने क्षेत्रों में सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक समस्याओं के प्रति भिन्न-भिन्न नीतियाँ अपना रही थीं। ब्रिटिश, फ्रांसीसी और अमरीकी क्षेत्रों में पूँजीवादी ढर्रे का आर्थिक विकास जारी रहा। इन क्षेत्रों की दो प्रमुख पार्टियाँ – क्रिश्चियन डेमोक्रेटिक पार्टी और सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी थीं। 1948 में ब्रिटेन, फ्रांस और

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद का यूरोप
फिनलैंड
नार्वे
स्वीडन
बाल्टिक सागर
मास्को
सोवियत संघ
उत्तरी सागर
डेनमार्क
आयरलैंड
डबलिन
ग्रेट ब्रिटेन
लंदन
हालैंड
बर्लिन
पूर्वी जर्मनी
वारसा
पोलैंड
बेल्जियम
बॉन
पेरिस
लक्समबर्ग
प्राग
अटलांटिक महासागर
पश्चिमी जर्मनी
चेकोस्लोवाकिया
फ्रांस
स्विटजरलैंड
आस्ट्रिया
बुडापेस्ट
हंगरी
रोमानिया
बुखारेस्ट
बेलग्रेड
युगोस्लाविया
बुल्गारिया
सोफिया
अल्बानिया
काला सागर
पुर्तगाल
मदरिद
स्पेन
इटली
रोम
एथेन्स
ग्रीस
साइप्रस
भूमध्य सागर
समाजवादी देश
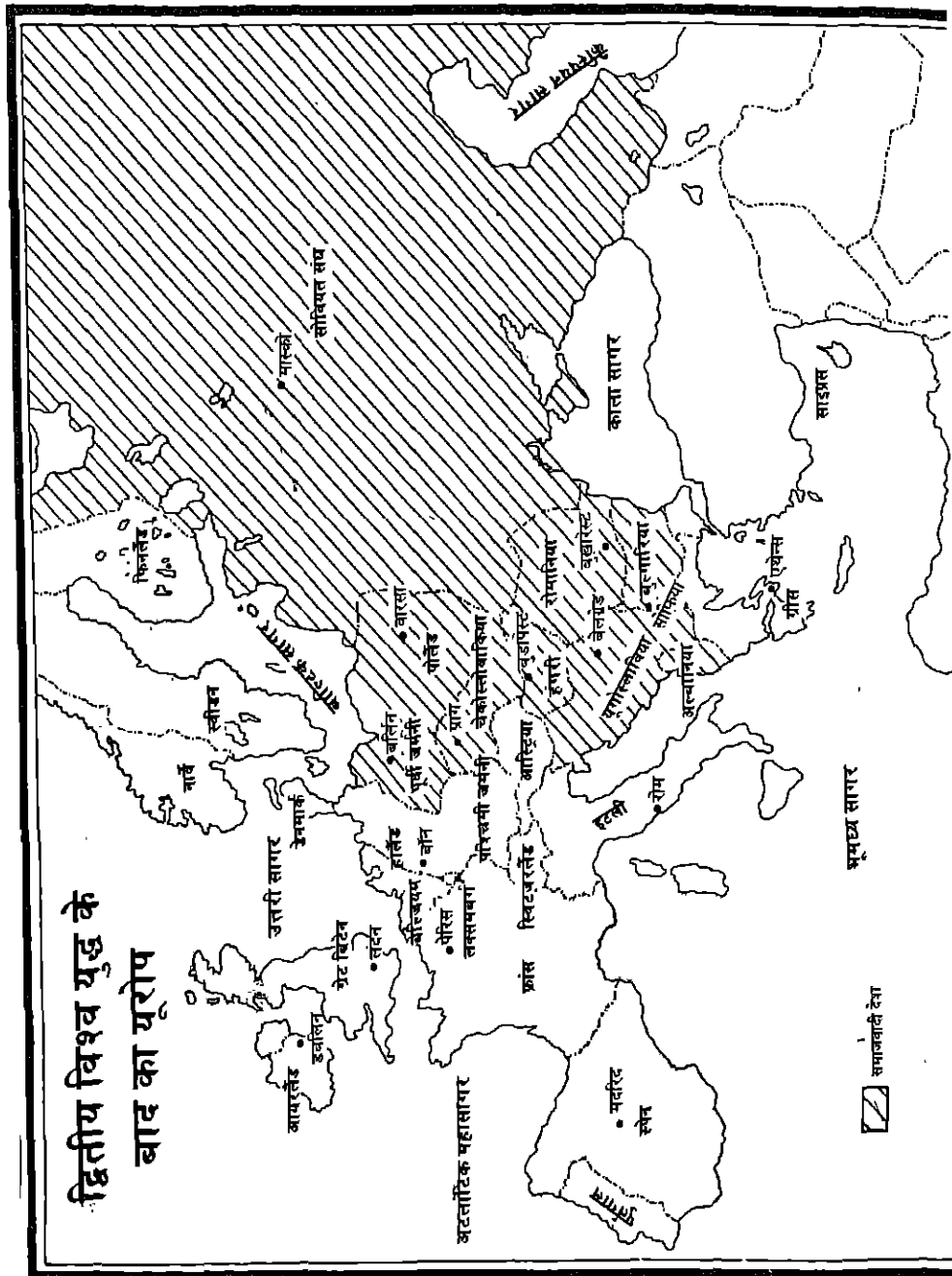
जर्मनी की सोशलिस्ट यूनिटी पार्टी के गठन के उपलक्ष में बर्लिन में आयोजित रैली, अप्रैल 1946

अमरीका ने निर्णय किया कि वे पश्चिमी जर्मनी में स्थित अपने क्षेत्रों को एक में मिलाकर वहाँ एक अलग सरकार बनाएँगे। सितंबर 1949 में इन क्षेत्रों को मिलाकर एक कर दिया गया। इसे ही जर्मन संघीय गणराज्य नाम दिया गया, जिसकी राजधानी बॉन थी। सोवियत नियंत्रण वाले पूर्वी जर्मनी में अपनाई जा रही नीतियाँ पश्चिमी क्षेत्रों में अपनाई जा रहीं नीतियों से भिन्न थीं। यहाँ ज़मीन को किसानों में बाँटा गया था और निजी मालिकों से लेकर प्रमुख उद्योगों को राज्य की संपत्ति बना दिया गया था। 1946 में सोवियत संघ के जर्मन क्षेत्र की कम्युनिस्ट पार्टी और सोशल डेमोक्रेटिक पार्टी एक हो गईं। इस तरह जर्मनी की सोशलिस्ट यूनिटी पार्टी की स्थापना हुई। 1949 में सोवियत नियंत्रण वाला क्षेत्र जर्मन जनवादी गणराज्य के नाम से एक नया राज्य बन गया। सोशलिस्ट यूनिटी पार्टी जर्मन जनवादी गणराज्य की शासक पार्टी हो गई। इस तरह जर्मनी दो राज्यों में बँट गया जिनमें से हरेक का सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक विकास का अपना अलग ढर्रा था। दो स्वतंत्र राज्यों में जर्मनी का विभाजन द्वितीय विश्वयुद्ध का प्रमुख परिणाम था जो लगभग चार दशकों तक चला और उसके बाद जर्मनी का पुनः एकीकरण हो गया।

यूरोप के दूसरे भागों में महत्वपूर्ण राजनीतिक परिवर्तन हुए। फ्रांस और इटली की कम्युनिस्ट पार्टियों ने वहाँ के प्रतिरोध आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई थी। युद्ध के बाद वे बहुत शक्तिशाली पार्टियों के रूप में उभरी थीं। युद्ध के बाद फ्रांस में बनी पहली सरकार में वहाँ की कम्युनिस्ट पार्टी भी शामिल थी मगर आर्थिक नीतियों पर तथा हिंदचीन देशों की स्वतंत्रता के प्रश्न पर मतभेद होने के कारण वह सरकार से अलग हो गई। फ्रांस की सरकार हिंदचीन में फिर से अपना शासन स्थापित करने की कोशिश कर रही थी और कम्युनिस्ट पार्टी इसका विरोध कर रही

थी। इटली की सरकार में कम्युनिस्ट और समाजवादी पार्टियाँ प्रमुख शक्ति थीं। 1946 में राजतंत्र को समाप्त कर दिया गया और इटली एक गणराज्य बन गया। 1947 में क्रिश्चियन डेमोक्रेटिक पार्टी सत्ता में आई और कम्युनिस्ट पार्टी सरकार से अलग हो गई। फिर भी, इन दो देशों में कम्युनिस्ट और समाजवादी पार्टियों के सरकार से बाहर होने के बाद भी वहाँ की राजनीति में वे प्रमुख शक्ति थीं। बाद के कई सालों तक इन दोनों देशों में समाजवादी पार्टियों ने अकेले या दूसरी पार्टियों से मिलकर सरकारें बनाईं। मगर 1948 के बाद के लगभग पूरे दौर में कम्युनिस्ट पार्टियों को सरकार से बाहर रखा गया। हाल के वर्षों में जहाँ इटली की कम्युनिस्ट पार्टी (इसे अब वामपंथी लोकतांत्रिक पार्टी के नाम से जाना जाता है) काफ़ी शक्तिशाली बनी रही, वहीं फ्रांसीसी कम्युनिस्ट पार्टी का प्रभाव कम हुआ।

ब्रिटेन में जुलाई 1945 में चुनाव हुए। कंज़र्वेटिव पार्टी के नेता विंस्टन चर्चिल युद्ध के दौरान प्रधानमंत्री थे। उनकी पार्टी हार गई और लेबर पार्टी सत्ता में आई। भारत भी इस काल में आज़ाद हो गया। लेबर पार्टी के शासन के दौरान देश की अर्थव्यवस्था में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन आए। कोयला-खदानों और रेलों जैसे अनेक महत्वपूर्ण उद्योगों का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। जनता को सामाजिक सुरक्षा देने तथा ब्रिटेन में एक कल्याणकारी राज्य स्थापित करने के कदम उठाए गए। 1951 में कंज़र्वेटिव पार्टी फिर से सत्ता में आई और 1964 में लेबर पार्टी का शासन फिर से स्थापित हुआ। इस तरह ये दोनों पार्टियाँ कभी लंबे समय तक सत्तारूढ़ नहीं रहीं। ये दोनों पार्टियाँ शक्ति में कमोबेश बराबर थीं।

पश्चिमी यूरोप के अधिकांश देशों की राजनीतिक प्रणाली सरकार की संसदीय पद्धति पर आधारित थी। उनकी अर्थव्यवस्था को गहरा धक्का लगा था और इससे उनकी अंतर्राष्ट्रीय स्थिति भी प्रभावित हुई थी। अपने प्रयासों से और भारी-भरकम अमरीकी सहायता के सहारे धीरे -धीरे इन देशों ने अपनी अर्थव्यवस्था का पुनर्निर्माण आरंभ किया फिर भी प्रथम विश्वयुद्ध से पहले तक और कुछ हद तक उसके बाद भी दुनिया पर इन देशों का जो दबदबा था, वह ऐसा कम हुआ कि फिर पलटकर न आ सका। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उनके साम्राज्यों का तेज़ी से पतन हुआ।

शीतयुद्ध

प्रथम विश्वयुद्ध की समाप्ति के बाद संयुक्त राज्य अमरीका सबसे बड़ी शक्ति के रूप में उभरकर सामने आया था। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद उसकी शक्ति उन यूरोपीय देशों के मुकाबले और भी तेज़ी से बढ़ी जिनका सदियों से दुनिया पर प्रभुत्व था। आर्थिक और सैनिक शक्ति, दोनों के बारे में यह बात सच थी। उसके परमाणु बम बना लेने के बाद उसकी शक्ति और भी अधिक हो गई। उस समय अमरीका अकेला देश था जिसके पास परमाणु बम था।

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद सोवियत संघ अमरीका के बाद दूसरी बड़ी ताकत बनकर उभरा। युद्ध में उसे बाकी सभी देशों से अधिक नुकसान उठाना पड़ा था। युद्ध में उसकी दो करोड़ जनता मारी गई थी और उसके सैंकड़ों नगर तथा हज़ारों कारख़ाने पूरी तरह नष्ट हो चुके थे। मगर इन तबाहियों के बावजूद उसकी शक्ति और प्रतिष्ठा बढ़ी। कुछ हद तक इसका कारण जर्मनी को हराने में उसकी भूमिका थी। क्रांति के बाद से ही उसे बहिष्कार तथा दूसरी बड़ी ताकतों की खुली दुश्मनी का सामना करना पड़ रहा था। मगर जैसा कि कहा जा चुका है, युद्ध के बाद अनेक यूरोपीय देशों में कम्युनिस्ट पार्टियों का शासन कायम हुआ। इन देशों की सरकारों पर सोवियत संघ का बहुत अधिक प्रभाव था। इन घटनाक्रमों के कारण सोवियत संघ का अलगाव समाप्त हो गया। इसके अलावा यूरोप और एशिया के अनेक देशों में कम्युनिस्ट पार्टियाँ युद्ध के बाद बहुत शक्तिशाली बनकर उभरी थीं। ये पार्टियाँ आमतौर पर सोवियत संघ की समर्थक थीं। इनमें से कुछ पार्टियाँ अपने-अपने देश में क्रांति का संगठन करने में सक्रिय थीं। उदाहरण के लिए, यूनान (ग्रीस) में जर्मन कब्ज़े के ख़िलाफ़ प्रतिरोध-आंदोलन में कम्युनिस्टों की अग्रणी भूमिका रही थी। यूनान से जर्मन सेनाओं के पीछे हटने के बाद देश का एक बड़ा हिस्सा कम्युनिस्टों के नियंत्रण में आ गया मगर युद्ध की समाप्ति के बाद वहाँ राजतंत्र पुन: स्थापित हुआ और नई सरकार ने कम्युनिस्टों का दमन आरंभ कर दिया। इसके कारण गृहयुद्ध छिड़ गया जो 1949 तक चला। इस गृहयुद्ध में कम्युनिस्टों की हार हुई।

युद्ध के दौरान ब्रिटेन, अमरीका और सोवियत संघ मिलकर फ़ासीवादी देशों से लड़े थे। युद्ध के दौरान जारी अनेक घोषणाओं में कहा गया था कि इन देशों की एकता युद्ध के बाद भी जारी रहेगी और वह स्थायी शांति और अंतर्राष्ट्रीय भाईचारे का आधार होगी। इन घोषणाओं ने पूरी दुनिया में आशा का संचार किया था। युद्ध अभी समाप्त हुआ ही था कि एक तरफ़ ब्रिटेन और अमरीका और दूसरी तरफ़ सोवियत संघ के बीच टकराव और तनाव उभरने लगे। उनके संबंध बिगड़ने लगे। उनके बीच शीत युद्ध (कोल्ड वार) आरंभ हो गया। यह शीत युद्ध धीरे-धीरे और तीखा होता गया और दुनिया दो खेमों में बँट गई। इनमें से एक खेमा अमरीका और पश्चिमी यूरोप के देशों का था और दूसरा खेमा सोवियत संघ तथा पूर्वी यूरोप के समाजवादी देशों का। यह शीत युद्ध कभी-कभी गर्म भी हुआ पर लड़ाई ख़ास-ख़ास क्षेत्रों तक ही सीमित रही।

शीत युद्ध के छिड़ने का सबसे महत्वपूर्ण कारण कम्युनिज्म के प्रति पश्चिमी देशों का भय था। सोवियत संघ की ताक़त बढ़ी थी, पूर्वी और मध्य यूरोप के देशों में कम्युनिस्ट पार्टियों का शासन स्थापित हुआ था और दुनिया के कई भागों में कम्युनिस्ट पार्टियों का असर बढ़ा था। इन सब बातों ने अमरीका, ब्रिटेन और दूसरे पश्चिमी यूरोपीय देशों की सरकारों को डरा दिया। चीन में दो दशकों से जारी गृहयुद्ध में 1949 में कम्युनिस्टों की विजय हुई तो यह डर और भी बढ़ गया। अमरीका ने खुली घोषणा की कि उसका उद्देश्य कम्युनिज़्म के विस्तार को रोकना है। पश्चिमी यूरोप के देशों को अमरीका ने जो भारी आर्थिक सहायता दी उसका एक उद्देश्य कम्युनिज़्म को फैलने से रोकना भी था। अमरीका दुनिया की हरेक घटना को अब इसी दृष्टि से देखने लगा कि इससे कम्युनिज्म फैलेगा या उसे रोकने में मदद मिलेगी। ब्रिटेन और पश्चिमी यूरोप के देश अमरीका के साथ हो गए और वे भी ऐसी नीतियाँ अपनाने लगे जिनका उद्देश्य कम्युनिज़्म के प्रसार को रोकना था। लोकतंत्र पर तथा उपनिवेशों के स्वतंत्रता आंदोलनों पर इसके विपरीत प्रभाव पड़े। लोगों की स्वतंत्रता कम कर दी गई। उदाहरण के लिए अमरीका में इसे राष्ट्रीय सुरक्षा तथा कम्युनिस्ट प्रभाव को कम करने के नाम पर उचित ठहराया गया। जो देश ख़ुद उपनिवेशवादी न थे परंतु औपनिवेशिक शक्तियों के साथ थे, वे अनेक देशों के स्वाधीनता आंदोलनों को विरोध की दृष्टि से देखने लगे। उदाहरण के लिए हिंदचीन के स्वाधीनता आंदोलन को कुचलने के लिए अमरीका ने फ्रांस की सहायता की। जो देश स्वतंत्र नीति अपनाना और सोवियत संघ के साथ अच्छे संबंध बनाना चाहते थे, उनको शंका की दृष्टि से देखा जाने लगा। इन सभी कारणों से अंतर्राष्ट्रीय स्थिति तनावपूर्ण हो गई। इसके कारण कुछ क्षेत्रों में युद्ध भड़के और अनेक दूसरे क्षेत्रों में टकराव लंबे खिंच गए।

सैनिक गुटों की स्थापना के कारण विश्व में बढ़ रहे तनाव और भी भयानक हो गए। सोवियत संघ से रक्षा के लिए 1949 में उत्तरी अटलांटिक संधि संगठन (नाटो) की स्थापना हुई। इस संगठन के सदस्य देश अमरीका, कनाडा, डेनमार्क, नार्वे, आइसलैंड, पुर्तगाल, ब्रिटेन, फ्रांस, बेल्जियम, हालैंड और लक्ज़मबर्ग थे। तुर्की, यूनान संघीय जर्मन गणराज्य और स्पेन बाद में इसके सदस्य बने। एक नाटो सेना का गठन किया गया और यूरोप के अनेक देशों में उसके अड्डे बनाए गए। दुनिया के दूसरे भागों में भी अमरीका और ब्रिटेन ने ऐसे ही सैनिक संगठन बनाए। 1954 में दक्षिण-पूर्वी एशिया संधि संगठन (सिएटो) बनाया गया जिसके सदस्य अमरीका, ब्रिटेन, फ्रांस, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड, थाईलैंड, फिलिपीन्स, पाकिस्तान और ईरान थे। 1955 में बगदाद पैक्ट (समझौता) के नाम से एक संगठन बनाया गया। इसमें टर्की, ब्रिटेन, इराक, पाकिस्तान एवं ईरान शामिल थे। अमरीका ने तथाकथित कम्युनिस्ट आक्रमण के खतरे के मुकाबले के लिए दुनिया भर में अपने सैनिक अड्डे बनाए। इन संगठनों और सैनिक अड्डों की स्थापना ने पहले से ही तनावपूर्ण अंतर्राष्ट्रीय स्थिति को और भी बिगाड़ा। जो देश इन संगठनों के सदस्य न थे, वे इन संगठनों और सैनिक अड्डों को शांति और अपनी स्वाधीनता के लिए खतरा समझने लगे। इन संगठनों के कुछ सदस्य देशों में ये संगठन बहुत ही बदनाम हुए। उदाहरण के लिए जब 1958 में इराक में क्रांति हुई तो वह बगदाद समझौते से अलग हो गया हालांकि समझौते का नाम तब उसी के नाम पर रखा गया था। तब समझौते का नाम बदलकर मध्य संधिय संगठन (सेंटो) कर दिया गया। चूँकि यूरोप के सभी साम्राज्यवादी देश इन संगठनों के सदस्य थे और अपनी

सदस्यता का इस्तेमाल वे स्वाधीनता-आंदोलनों को कुचलने के लिए भी कर रहे थे, इसलिए ये संगठन एशिया और अफ़्रीका के देशों में आमतौर पर बदनाम थे। एशिया और अफ़्रीका के स्वाधीनता प्राप्त कर चुके अधिकांश देशों ने इन संगठनों के सदस्य बनने से इन्कार कर दिया। इन पश्चिमी संगठनों या पश्चिमी देशों द्वारा प्रायोजित संगठनों के मुकाबले सोवियत संघ और यूरोप के समाजवादी देशों – पोलैंड, चेकोस्लोवाकिया, हंगरी, रूमानिया, जर्मन जनवादी गणराज्य और बुल्गारिया – ने वारसा संधि की स्थापना की। इस संधि के अनुसार सोवियत संघ ने इन देशों में अपनी सेनाएँ नियुक्त कीं। मगर सोवियत संघ या वारसा संधि के देशों ने दुनिया के दूसरे भागों में सैनिक अड्डे नहीं बनाए। सोवियत संघ ने चीन के साथ मित्रता और पारस्परिक सहयोग की संधियाँ भी कीं।

सैनिक अड्डों की स्थापना के साथ एक और ख़तरनाक घटना हुई। यह थी – विनाशकारी हथियारों की दौड़। द्वितीय विश्वयुद्ध के अंतिम दिनों में जापान के ख़िलाफ़ दो परमाणु बमों के प्रयोग के बारे में आप पढ़ चुके हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के लगभग चार वर्षों तक अमरीका परमाणु बमों वाला अकेला देश था। 1949 में सोवियत संघ ने अपने पहले परमाणु बम का परीक्षण किया। कुछ ही वर्षों में ऐसे नाभिकीय हथियार विकसित हो गए जो जापान पर गिराए गए बमों से हज़ारों गुना अधिक विनाशकारी थे। ये थे – ताप नाभिकीय अर्थात हाइड्रोजन बम। इन बमों के मात्र परीक्षण से ही जीवन के लिए गंभीर खतरे उत्पन्न हो गए। नाभिकीय हथियारों के परीक्षण और उत्पादन पर प्रतिबंध लगाने के लिए दुनिया के सभी भागों में अनेक आंदोलन उठ खड़े हुए। आइंस्टाइन और लाइनस पालिंग जैसे अधिकांश प्रमुख वैज्ञानिकों ने भी इस माँग का समर्थन किया फिर भी दुनिया में नाभिकीय हथियारों का ज़ख़ीरा बढ़ता ही गया। आज दुनिया में इतने अधिक नाभिकीय बम हैं कि पूरी दुनिया को एक नहीं कई बार नष्ट किया जा सकता है। नाभिकीय बमों तथा दूसरे हथियारों के साथ-साथ नए-नए बमवर्षकों, पनडुब्बियों और प्रक्षेपास्त्रों का भी विकास हुआ है जो इन हथियारों को हज़ारों मील दूर तक ले जा सकते हैं। हथियारों की यह दौड़ जो शीत युद्ध के अंग के रूप में आरंभ हुई, आज स्वयं मानवजाति के अस्तित्व के लिए ख़तरा बन गई है। इन हथियारों के विकास पर बेपनाह धन ख़र्च किया गया है। अगर इन संसाधनों को शांतिमय कार्यों में ख़र्च किया जाए तो पूरी दुनिया में अभाव और ग़रीबी के मारे करोड़ों लोगों का जीवन सुखमय बनाने के लिए बहुत कुछ किया जा सकता था।

जैसा कि कहा जा चुका है, एशिया और अफ़्रीका के कई नवस्वाधीन राष्ट्र और दूसरे महाद्वीपों के भी अनेक राष्ट्र सैनिक गुटों में शामिल नहीं हुए। वे किसी भी सैनिक गुट से निरपेक्ष रहने की नीति पर चलने लगे। इन राष्ट्रों के उदय ने शीत युद्ध की तीव्रता को कम करने में और शांति का वातावरण बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। गुटनिरपेक्षता और शांति की नीति को आगे बढ़ाने में निर्णायक भूमिका भारत ने अपनी स्वाधीनता के बाद निभाई।

एशिया और अफ़्रीका का उदय

एशिया और अफ़्रीका में राष्ट्रवाद के उदय और विकास का संक्षिप्त वर्णन अध्याय 4 में किया गया है। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद के काल में एशिया और अफ़्रीका के अधिकांश देश स्वतंत्र हो गए। इन महाद्वीपों में एक के बाद एक देश स्वतंत्र होता चला गया। उन्होंने औपनिवेशिक शक्तियों के ख़िलाफ़ लंबे और कड़े संघर्ष चलाकर अपनी आज़ादी हासिल की। कुछ देशों को आज़ादी औपनिवेशिक शासन के विरुद्ध लंबे और कड़े संघर्ष के बाद ही मिली। कुछेक में आज़ादी ज़्यादा ख़ून बहाए बिना मिली, परंतु लंबा संघर्ष उनको भी करना पड़ा। औपनिवेशिक शक्तियाँ आमतौर पर उपनिवेशों पर अपना कब्ज़ा छोड़ने को तैयार न थीं और वे वहाँ से तभी हटीं जब उन्होंने देखा कि और आगे वहाँ अपना शासन जारी रख सकना संभव नहीं है। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान अनेक साम्राज्यवादी देश अपने उपनिवेशों से खदेड़ दिए गए, परंतु युद्ध के बाद उन्होंने वहाँ फिर से अपना शासन कायम करने की कोशिशें कीं। कुछ समय तक वे इसमें सफल भी रहे, परंतु अंततः उन्हें अपना बोरिया बिस्तर बाँधकर भागना पड़ा।

उपनिवेशों की स्वतंत्रता मुख्यतः वहाँ की जनता के

संघर्षों की देन थी मगर द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अंतर्राष्ट्रीय वातावरण में हुए परिवर्तनों ने भी औपनिवेशिक जनता को स्वाधीनता पाने में मदद पहुँचाई। युद्ध के फलस्वरूप साम्राज्यवाद बहुत कमजोर हो गया था। अनेक साम्राज्यवादी देशों की अर्थव्यवस्था को धक्का लगा था। खुद साम्राज्यवादी देशों में वे शक्तियाँ जो उपनिवेशों की जनता के स्वाधीनता-संघर्षों से सहानुभूति रखती थीं, बहुत ताकतवर बन गई थीं। स्वाधीनता और लोकतंत्र–यही वे प्रमुख उद्देश्य थे, जिन्हें लेकर मित्र-राष्ट्रों ने फ़ासीवादी देशों का मुकाबला किया था और पूरे विश्व के जनगणों को फ़ासीवाद के ख़िलाफ़ उभारने में इन्हीं उद्देश्यों का उपयोग किया गया था। इन उद्देश्यों का पालन अब केवल यूरोप तक सीमित नहीं रह सकता था, जैसा कि प्रथम विश्व युद्ध के बाद किया गया था। फ़ासीवादी देशों ने अनेक उपनिवेशों से पहले की औपनिवेशिक शक्तियों को खदेड़कर उन पर कब्ज़ा किया था। इन उपनिवेशों में फ़ासीवादी कब्ज़े के ख़िलाफ़ लड़ाई में वहाँ के स्वाधीनता आंदोलनों की प्रमुख भूमिका रही थी। उदाहरण के लिए पूर्वी और दक्षिणी-पूर्वी एशिया के देशों पर कब्ज़ा करने के बाद जापान को वहाँ के स्वाधीनता-संघर्षों के विरोध का सामना करना पड़ा था। इन देशों में पहले की औपनिवेशिक शक्तियों के शासन को फिर से स्थापित करना आसान न था।

साम्राज्यवाद के पतन में तेज़ी लाने वाला एक और महत्वपूर्ण कारण था–एक प्रमुख शक्ति के रूप में सोवियत संघ और अन्य समाजवादी देशों का उदय। ये देश साम्राज्यवाद के शत्रु थे और उपनिवेशों के स्वाधीनता आंदोलनों को अक्सर सहायता और समर्थन देते रहते थे। इस तरह उपनिवेशों समेत पूरी दुनिया में ताकतवर हो चुके समाजवादी आंदोलन भी उपनिवेशों के स्वाधीनता-आंदोलनों का समर्थन करते थे

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद स्वाधीनता-आंदोलनों का पूरा अंतर्राष्ट्रीय संदर्भ ही बदल चुका था। अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर और ख़ासकर संयुक्त राष्ट्र संघ में उपनिवेशों की स्वतंत्रता की माँग ज़ोर पकड़ने लगी। अंतर्राष्ट्रीय जनमत स्पष्ट रूप से साम्राज्यवाद के जारी रहने का विरोधी था। अपना शासन बनाए रखने के लिए साम्राज्यवादी देशों ने अनेक उपायों का सहारा लिया। उन्होंने स्वाधीनता के आंदोलनों में फूट डालने की कोशिशें कीं या आतंक का सहारा लिया। कुछ देशों में उन्होंने ऐसी सरकारें बनाने की कोशिशें की जो कहने को तो स्वतंत्र थीं पर वास्तव में उनकी पिट्ठू थीं। मगर अधिकांश स्वाधीनता-आंदोलन अपने को कमज़ोर बनाने के इन तरीकों को नाकाम बनाने में सफल रहे।

एशियाई और अफ़्रीकी देशों द्वारा स्वाधीनता प्राप्ति में एक महत्वपूर्ण भूमिका उस एकता की रही जो विभिन्न देशों के स्वाधीनता-आंदोलनों के बीच कायम हुई थी। एक देश का स्वाधीनता आंदोलन दूसरे देशों के स्वाधीनता-आंदोलनों का समर्थन करता रहता था। इस संबध में स्वतंत्रता प्राप्त कर चुके देशों की भूमिका का बहुत नाजुक महत्व था। इन देशों ने अभी भी औपनिवेशिक शासन में रह रहे जनगणों के लक्ष्यों का संयुक्त राष्ट्र और दूसरे अंतर्राष्ट्रीय मंचों पर समर्थन ही नहीं किया, बल्कि स्वतंत्रता-आंदोलनों को सक्रिय सहायता भी दी। एशिया और अफ़्रीका में स्वाधीनता के लक्ष्य की प्राप्ति में भारत की केंद्रीय भूमिका रही। उपनिवेशों में स्वाधीनता के आंदोलनों के अलावा एशियाई और अफ़्रीकी देशों में पुरानी पड़ चुकी राजनीतिक प्रणालियों को नष्ट करने, सामाजिक और आर्थिक प्रणालियों का आधुनिकीकरण करने और अपने देश के संसाधनों पर अपना नियंत्रण स्थापित करने के लिए भी आंदोलन चले। ये संसाधन इन देशों की आज़ादी के बाद भी विदेशी नियंत्रण में थे। इन आंदोलनों में एशियाई और अफ़्रीकी जनता की पूर्ण स्वाधीनता पाने और तीव्र सामाजिक-आर्थिक विकास के कार्यक्रम आरंभ करने की आकांक्षा अभिव्यक्त हुई। द्वितीय महायुद्ध की समाप्ति के दो दशकों के अंदर-अंदर एशिया और अफ़्रीका का राजनीतिक मानचित्र पूरी तरह बदल चुका था।

एशिया में स्वतंत्र राष्ट्रों का उदय

द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद कुछेक वर्षों में बड़ी संख्या में एशियाई देश स्वतंत्र हो गए। पहले स्वतंत्रता पाने वालों में एक था - भारत। मगर भारत विभाजित हो गया और भारत के साथ एक और स्वतंत्र राज्य पाकिस्तान नाम से अस्तित्व में आया। 1971 में पाकिस्तान के भी दो टुकड़े हो गए, जब उसका पूर्वी हिस्सा उससे अलग होकर स्वतंत्र राज्य बना

जावा में इंडोनेशिया के स्वतंत्रता समारोह के आयोजन के अवसर पर युवा रैली

जिसे बंगलादेश कहा जाता है। एशिया और अफ़्रीका के स्वाधीनता आंदोलनों के इतिहास में भारत की स्वाधीनता का बहुत अधिक महत्व है। भारत द्वारा अपने पहले प्रधानमंत्री जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में अपनाई गई नीतियों के कारण दूसरे देशों के स्वाधीनता आंदोलन मज़बूत हुए और उनके स्वतंत्रता आंदोलनों की सफलता की गति बढ़ गई।

भारत की स्वतंत्रता के कुछेक महीनों के अंदर बर्मा (हाल में इसका नाम म्यांमार हो गया है) भी ब्रिटेन से स्वतंत्र हो गया। 1944 में बर्मा में फ़ासीवाद-विरोधी जनसंघर्ष लीग की स्थापना हुई थी। इसका लक्ष्य बर्मा पर जापानी हमले का प्रतिरोध करना और बर्मा को स्वतंत्रता दिलाना था। युद्ध के बाद अंग्रेज़ों ने बर्मा में फिर से अपना शासन स्थापित करने की कोशिश की इसके कारण स्वाधीनता का आंदोलन और तेज़ हुआ। संघर्ष के दौरान बर्मा के स्वाधीनता-आंदोलन के अनेक नेताओं को कत्ल कर दिया गया मगर ब्रिटेन को स्वतंत्रता की माँग माननी पड़ी और बर्मा 4 जनवरी, 1948 को आज़ाद हो गया।

पिछले अध्याय में इंडोनेशिया में राष्ट्रवादी आंदोलन के आरंभ का उल्लेख हो चुका है। जापान की हार के बाद सुकर्णो ने जो इंडोनेशिया के स्वधीनता आंदोलन के संस्थापकों में से थे, इंडोनेशिया की स्वतंत्रता की घोषणा कर दी मगर डचों के शासन की पुनर्स्थापना में सहयोग देने के लिए जल्द ही ब्रिटिश सेनाएँ वहाँ भेज दी गईं। सुकर्णो के नेतृत्व में बनी स्वतंत्र इंडोनेशियाई सरकार ने औपनिवेशिक शासन की पुनर्स्थापना के इन प्रयासों का विरोध किया। इंडोनेशिया में डच शासन फिर से लाने के लिए जो युद्ध आरंभ किया गया था, उसे समाप्त करने की माँग अनेक देशों में उठाई गई। एशियाई देशों में तो इसकी बहुत ही कड़ी प्रतिक्रिया हुई। भारतीय स्वाधीनता आंदोलन के नेताओं ने माँग की कि जिन भारतीय सैनिकों को ब्रिटिश सेना के अंग के रूप में इंडोनेशिया भेजा गया था, उन्हें वापस बुला लिया जाए। स्वतंत्र होने के बाद भारत ने इंडोनेशिया की स्वतंत्रता के समर्थन में एशियाई देशों का एक सम्मेलन बुलाया। यह सम्मेलन नई दिल्ली में 1949 में हुआ और इसने इंडोनेशिया की पूर्ण स्वतंत्रता की माँग की।

इंडोनेशिया जनता के संघर्ष और विश्व-जनमत तथा एशियाई देशों के बढ़ते दबाव के आगे झुककर हालैंड को इंडोनेशियाई नेताओं को रिहा करना पड़ा। 2 नवंबर, 1949 को हालैंड ने इंडोनेशिया की स्वतंत्रता को मान्यता दे दी।

भारत की स्वतंत्रता के कुछ महीनों बाद फ़रवरी 1948 में श्रीलंका भी स्वतंत्र हो गया। थाइलैंड पर जापान का कब्ज़ा था और जापान की हार के बाद वह भी आज़ाद हो गया। युद्ध के दौरान जापान ने फिलिपीन्स से अमरीकी फ़ौजों को खदेड़ दिया था। 1946 में अमरीकी सरकार ने फिलिपीन्स स्वतंत्रता की माँग मान ली। मलाया में युद्ध के बाद ब्रिटिश शासन फिर से स्थापित हो गया था। 1957 में मलाया (अब मलेशिया) एक स्वतंत्र राष्ट्र बन गया।

चीन में क्रांति

चीन की पूर्ण स्वतंत्रता और एकीकरण के लिए डा. सुन यात-सेन के नेतृत्व में कोमिनतांग और चीन की कम्युनिस्ट पार्टी के बीच जो एकता स्थापित हुई थी, आप उसके बारे में पढ़ चुके हैं। सुन यात-सेन की मृत्यु के बाद यह एकता टूट गई। च्यांग-काई-शेक के नेतृत्व में कोमिनतांग और माओ ज़ेडांग (माओ-त्से-तुंग) के नेतृत्व वाली कम्युनिस्ट पार्टी के बीच एक गृहयुद्ध छिड़ गया। चीन पर जापानी हमले के बाद दोनों पार्टियों और उनकी सेनाओं ने जापानी हमले के मुकाबले के लिए कुछ समय तक आपस में सहयोग किया मगर इनके टकराव कभी ख़त्म नहीं हुए। च्यांग-काई-शेक के नेतृत्व में कोमिनतांग मुख्यत: पूँजीपतियों और जमींदारों के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाली पार्टी थी। दूसरी तरफ़ कम्युनिस्ट पार्टी मज़दूरों और किसानों की पार्टी थी। कम्युनिस्ट पार्टी के नियंत्रण वाले क्षेत्रों में ज़मींदारों की जागीरें ज़ब्त करके ज़मीन को किसानों के बीच बाँट दिया गया था। अपनी नीतियों के कारण कम्युनिस्ट पार्टी ने धीरे-धीरे करोड़ों चीनी जनता को अपना समर्थक बना लिया था। कम्युनिस्ट पार्टी ने जनमुक्ति सेना नाम से एक बड़ी सेना भी बना ली थी। जापान की हार तथा चीन से जापानी सैनिकों के भागने के बाद गृहयुद्ध फिर से भड़क उठा। अमरीकी सरकार ने च्यांग-काई-शेक को भारी मदद दी, पर उसकी सेनाएँ 1949 तक पूरी तरह नष्ट हो चुकी थीं। अपनी बची खुची सेना को साथ लेकर च्यांग-काई-शेक ताइवान (फ़ारमोसा) चला गया। यह चीन का ही एक द्वीप था जिसे 1895 में जापान ने चीन को हराकर अपने कब्ज़े में ले लिया था। अक्तूबर 1949 को चीनी लोक गणराज्य की स्थापना की घोषणा की गई और माओ ज़ेडांग के नेतृत्व में चीन की कम्युनिस्ट पार्टी सत्ता में आई।

चीन में कम्युनिस्ट क्रांति की विजय दुनिया को हिला देने वाली घटना थी। सबसे अधिक आबादी वाला देश अब कम्युनिस्ट शासन में आ चुका था। यूरोप के समाजवादी देशों के अलावा अब दुनिया की दो प्रमुख शक्तियों—सोवियत संघ और चीन—पर कम्युनिस्ट शासन स्थापित था। चीनी क्रांति के फलस्वरूप एशिया में साम्राज्यवाद और भी कमज़ोर हुआ।

चीनी लोक गणराज्य की स्थापना अमरीका की हार थी। उसने दो दशकों तक चीन की सरकार को मान्यता नहीं दी। अमरीका की राय में ताइवान (फ़ारमोसा) स्थित च्यांग-काई-शेक की सरकार ही चीन की कानूनी सरकार थी। अमरीका के इस रवैये के कारण दुनिया में सबसे अधिक जनसंख्या वाला देश दो दशकों से भी अधिक समय तक संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता नहीं पा सका।

भारत और चीन के बीच अनेक वर्षों तक मित्रतापूर्ण संबंध बने रहे। एशियाई और अफ़्रीकी राष्ट्रों के बीच एकता स्थापित करने में इन दोनों देशों ने साथ मिलकर बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। मगर छठे दशक के अंतिम वर्षों में चीन सरकार की विदेश नीति बदलने लगी। 1962 में चीन ने भारत पर हमला कर दिया जिसने भारत और चीन की मित्रता को ही नहीं बल्कि एशियाई और अफ़्रीकी राष्ट्रों की एकता को भी गहरा धक्का पहुँचाया। सोवियत संघ के साथ चीन के संबंध भी बिगड़ने लगे। बहुत वर्षों तक कई मुद्दों पर उसने भारत के ख़िलाफ़ पाकिस्तान का साथ दिया। 1970 के बाद अमरीका के साथ उसके संबंध सुधरने लगे। उसे संयुक्त राष्ट्र की सदस्यता मिली और अब वह सुरक्षा परिषद् का एक स्थायी सदस्य है।

कोरियाई युद्ध

आप पढ़ चुके हैं कि 1910 में कोरिया जापानी कब्ज़े में आ गया था। द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान की हार के बाद वह

दो भागों में बँट गया। उत्तरी भाग सोवियत नियंत्रण में और दक्षिणी भाग अमरीकी नियंत्रण में था। अमरीकी और सोवियत नियंत्रण का उद्देश्य कोरिया में जापानी सेना से आत्मसमर्पण कराना था और कोरिया को एक स्वतंत्र राष्ट्र बनाना था। मगर यूरोप में जर्मनी में जो कुछ हुआ, उसी तरह कोरिया में भी 1948 में दो अलग-अलग सरकारें बनीं। उत्तरी भाग में कोरियाई कम्युनिस्टों के नेतृत्व में कोरियाई लोक जनवादी गणराज्य की सरकार बनी और दक्षिणी भाग में अनेक पार्टियों की कोरियाई गणराज्य की सरकार बनी जिसका नेतृत्व सिंगमन री कर रहा था। री कम्युनिस्ट-विरोधी था और कम्युनिज़्म के फैलाव को रोकने के लिए च्यांग-काई-शेक के साथ गठबंधन करना चाहता था। दोनों सरकारों ने अपनी-अपनी सेनाएँ बनाईं और उनके बीच अनेकों टकराव हुए। 1948 में सोवियत सेना कोरिया से हट गई। इसके बाद 1949 में अमरीकी सेनाएँ भी हटा ली गईं। कोरिया की दोनों सरकारें देश का एकीकरण चाहती थीं, पर उनकी बातचीत के लिए कोई समान आधार न था।

जून 1950 में उत्तरी और दक्षिणी कोरिया के बीच युद्ध छिड़ गया। तब तक चीन में क्रांति हो चुकी थी और अमरीका को इस क्षेत्र में कम्युनिज़्म के और फैलने का डर था। अमरीका ने युद्ध में दक्षिण कोरिया की सहायता के लिए अपनी सेनाएँ भेजीं। अमरीका से समझौताबद्ध कुछ और देशों ने भी कोरिया के युद्ध में भाग लिया। ये सेनाएँ संयुक्त राष्ट्र की सेनाओं के रूप में लड़ीं क्योंकि संयुक्त राष्ट्र ने एक प्रस्ताव पास करके उत्तरी कोरिया की निंदा की थी और सदस्य-देशों को दक्षिणी कोरिया की सहायता करने को कहा था। मगर अमरीका से समझौताबद्ध कुछ देशों ने ही अपनी सेनाएँ वहाँ भेजीं। अधिकांश विदेशी सेनाएँ अमरीका की थीं। युद्ध में अमरीकी सैनिकों के शामिल हो जाने के बाद चीनी सेनाएँ भी युद्ध में शामिल हो गईं। स्थिति बहुत गंभीर हो गई तथा एक और विश्वयुद्ध के भड़कने का ख़तरा पैदा हो गया, क्योंकि तब तक सोवियत संघ भी परमाणु बम बना चुका था। कोरिया का युद्ध तीन वर्षों तक चला मगर इससे विश्वयुद्ध नहीं भड़का। 1953 में एक शांति-संधि पर हस्ताक्षर किए गए। कोरिया दो अलग-अलग राज्यों में बँटा ही रहा। युद्ध हालाँकि कोरिया तक ही सीमित रहा मगर इसमें लाखों लोग मारे गए जिनमें 1,42,000 अमरीकी भी थे।

कोरियाई युद्ध ने एक नए विश्वयुद्ध का ख़तरा बढ़ा दिया था। इससे दुनिया में मौजूद तनाव और भी बढ़ा और शीत युद्ध में तेज़ी आई।

वियतनाम का संघर्ष

स्वतंत्रता के सबसे बहादुराना संघर्षों में एक संघर्ष वियतनाम की जनता ने चलाया। लाओस और कंबोडिया के साथ वियतनाम हिंदचीन का एक देश है जो फ़्रांस के औपनिवेशिक शासन में था। फ़्रांसीसी सरकार द्वारा जर्मनी के आगे आत्मसमर्पण करने के बाद हिंदचीन के कई भागों पर जापान ने कब्ज़ा कर लिया था। इसके वर्षों पहले ही फ़्रांसीसी शासन से हिंदचीन की स्वतंत्रता के लिए संघर्ष छिड़ चुका था। वियतनामी जनता के सबसे बड़े नेता हो ची-मिन्ह थे। प्रथम विश्वयुद्ध के तत्काल बाद वियतनाम में कम्युनिस्ट और राष्ट्रवादी आंदोलनों के संगठनों में उनकी प्रमुख भूमिका रही थी। हो ची-मिन्ह के नेतृत्व में वियतनामी जनता ने जापानी कब्ज़े का विरोध किया और वियतमिन्ह नाम से एक जनसेना बनाई। द्वितीय विश्वयुद्ध के समाप्त होने तक वियतनाम के बड़े हिस्से पर वियतमिन्ह का नियंत्रण हो चुका था। अगस्त 1945 में लोकतांत्रिक वियतनामी गणराज्य की स्थापना हुई जिसके राष्ट्रपति हो ची-मिन्ह थे। मगर जापानी सेना का आत्मसमर्पण पूरा कराने का बहाना लेकर ब्रिटेन की ओर से च्यांग-काई-शेक की सेनाएँ वियतनाम में घुस आईं। फ़्रांसीसी शासन की पुनर्स्थापना करने के उद्देश्य से फ़्रांसीसी सेना भी अक्तूबर 1945 में वहाँ पहुँच गई। 1946 में फ़्रांसीसी सेना ने वियतमिन्ह के ख़िलाफ़ युद्ध छेड़ दिया। उसने बाओ-दाई के नेतृत्व में एक सरकार वहाँ बिठा दी। यह व्यक्ति जापानी नियंत्रण के दौरान पिट्ठू सरकार का भी प्रमुख रह चुका था। वियतमिन्ह और फ़्रांस का यह युद्ध आठ वर्षों तक चला। 1954 में दिएन बिएन फू के किले के पास वियतमिन्ह के हाथों फ़्रांसीसी सेना की करारी हार हुई। दिएन बिएन फू में फ़्रांसीसियों की यह हार बहुत चर्चित रही क्योंकि बिना आधुनिक अस्त्रों के एक जनसेना ने एक शक्तिशाली साम्राज्यवादी देश की सेना को युद्ध में हराया था। दिएन बिएन फू की हार के बाद फ़्रांस की सरकार वियतनाम प्रजातांत्रिक गणराज्य सरकार के साथ बातचीत करने को

मजबूर हो गई। जुलाई 1954 में जेनेवा में एक अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन आयोजित किया गया। वहाँ वियतनाम को अस्थायी तौर पर दो भागों–उत्तरी और दक्षिणी वियतनाम–में बाँटने का और दो वर्षों के अंदर पूरे वियतनाम में चुनाव कराने का फैसला हुआ, ताकि एक ही सरकार के अंतर्गत देश का एकीकरण किया जा सके। हिंदचीन के शेष दो देशों, कंबोडिया को 1953 में और लाओस को 1954 में स्वतंत्र कर दिया गया था।

वियतनाम के विभाजन के बाद वहाँ स्वतंत्रता आंदोलन का एक नया दौर शुरू हुआ। अमरीका के समर्थन से दक्षिणी वियतनाम में बनी सरकार ने जेनेवा सम्मेलन के चुनाव कराने और वियतनाम के एकीकरण करने के फैसले मानने से इन्कार कर दिया। इसे ऐसी सरकार माना जाने लगा जो अमरीका के नियंत्रण में थी और कम्युनिस्ट पार्टी के नेतृत्व में देश के एकीकरण की विरोधी थी। सातवें दशक के आरंभ में दक्षिणी वियतनाम में सरकार के खिलाफ विद्रोह उठ खड़े हुए। इसके बाद अमरीका ने वियतनाम में बहुत बड़े पैमाने पर सैनिक हस्तक्षेप किया। जन विद्रोह को कुचलने के लिए लाखों अमरीकी सैनिक वहाँ भेजे गए जो कई आधुनिकतम अस्त्रों से लैस थे। राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा के नेतृत्व में दक्षिणी वियतनाम की जनता ने छापामार युद्ध आरंभ कर दिया। उसे उत्तरी वियतनाम का समर्थन प्राप्त था। अमरीकी सेना ने युद्ध को फैलाकर उत्तरी वियतनाम को भी उसमें लपेट लिया। अमरीकी सेनाओं की भारी बम-वर्षा के कारण वियतनाम को अकथनीय हानि हुई। अमरीकी सेनाओं ने कीटाणु युद्ध के अस्त्रों का भी उपयोग किया। वियतनाम का एक बहुत बड़ा भाग तबाह हो गया और लाखों लोग मारे गए। अमरीकी सेनाओं को भी भारी नुकसान उठाना पड़ा।

वियतनाम के साथ युद्ध के सवाल पर अमरीका दुनिया में लगभग पूरी तरह अलग-थलग पड़ चुका था। अमरीका द्वारा छेड़े गए युद्ध का बीसियों सरकारों ने विरोध किया। इसके अलावा अमरीकी सरकार के खिलाफ और वियतनाम की जनता के साथ एकजुटता में विश्वव्यापी विरोध आंदोलन उठ खड़ा हुआ। ऐसे किसी आंदोलन का उदाहरण इससे पहले केवल चौथे दशक के स्पेन के गृहयुद्ध के दौरान देखने को मिला था, जब उस आंदोलन ने स्पेन के गणतंत्रवादियों का समर्थन किया था और स्पेन के फासीवादियों को सक्रिय सहायता देने वाले जर्मनी और इटली का विरोध किया था। खुद अमरीका में युद्ध का विरोध अभूतपूर्व पैमाने पर होने लगा। हज़ारों अमरीकियों ने युद्ध में शामिल होने से इन्कार कर दिया और अनेक अमरीकी सैनिक युद्ध छोड़कर भाग गए। वियतनाम युद्ध ने दुनिया की करोड़ों जनता में जैसी एकता स्थापित की वैसी एकता किसी और सवाल पर नहीं बनी थी। मगर अमरीकी सरकार युद्ध को जारी रखे हुए थी, हालाँकि यह स्पष्ट हो चुका था कि उसकी जीत नहीं होगी।

1975 के आरंभ में युद्ध में एक निर्णायक मोड़ आया। उत्तरी वियतनाम की और दक्षिणी वियतनाम की राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे की सेनाएँ पूरे देश पर छा गईं और उन्होंने दक्षिणी वियतनामी सरकार की अमरीका समर्थित सेनाओं का सफाया कर दिया। जनवरी 1973 में अमरीकी सेनाएँ वियतनाम से हटना शुरू हो गई थीं। वियतनाम युद्ध के दौरान 58,000 अमरीकी सैनिक मारे गए थे। 30 अप्रैल 1975 तक सारी अमरीकी सेना हट गई और दक्षिणी वियतनाम की राजधानी सायगौन को मुक्त करा लिया गया। 1976 में उत्तरी और दक्षिणी वियतनाम औपचारिक रूप से मिलकर एक हो गए। सायगौन शहर का नाम बदलकर वियतनामी जनता के महान नेता के नाम पर हो ची-मिन्ह नगर रख दिया गया, जिनका 1969 में निधन हो चुका था।

एकीकृत और स्वतंत्र राष्ट्र के रूप में वियतनाम का उदय विश्व इतिहास की महत्वपूर्ण घटना है। एक छोटे से देश ने दुनिया की सबसे बड़ी ताकत की सेनाओं का मुकाबला करके पूर्ण स्वाधीनता पाई थी और अपना एकीकरण किया था। समाजवादी देशों द्वारा वियतनाम को दी गई सहायता, बहुत सारे एशियाई और अफ्रीकी देशों का राजनीतिक समर्थन तथा दुनिया के सभी भागों की जनता द्वारा व्यक्त एकजुटता, इन सबने भी वियतनाम की जनता की विजय में मदद पहुँचाई थी।

वियतनाम युद्ध कंबोडिया तक फैल चुका था। 1970 में राजकुमार नरोत्तम सिंहानुक की सरकार का तख्ता पलट दिया गया तथा वहाँ एक कठपुतली सरकार स्थापित

कर दी गई। इस आधार पर अमरीकी और दक्षिण वियतनाम की फौजें इस लड़ाई को कंबोडिया में ले गईं कि वियतनामी फौजों को कंबोडिया के ठिकानों से मदद मिल रही है। 1975 में जब संयुक्त राज्य अमरीका ने इस युद्ध से अपना हाथ खींच लिया, ख़्मेर रूज नामक दल ने कंबोडिया का नियंत्रण अपने हाथ में ले लिया था। इस दल का नेतृत्व पोल पोत कर रहा था। पोल पोत की सरकार ने कंबोडिया में आतंक का शासन कायम किया और अपनी ही जनता के संहार की नीति प्रांरभ की। ख़्मेर रूज ने जिन लोगों की हत्या की उनकी अनुमानित संख्या दस लाख से तीस लाख है। वियतनाम की फौजों की मदद से 1979 में पोल पोत सरकार को उखाड़ फेंका गया। बहरहाल, कंबोडिया में लड़ाई चलती रही क्योंकि अब भी कंबोडिया के भीतर के कुछ इलाकों पर ख़्मेर रूज का नियंत्रण था। यह पार्टी थाईलैंड से लगी सीमा के पार से भी काम कर रही थी। इस बीच वियतनाम समर्थित कंबोडिया सरकार के विरोध में तीन गुट एक जुट होकर सामने आए। इसमें नरोत्तम सिंहानुक का दल और पोल पोत का ख़्मेर रूज भी शामिल थे।

अभी हाल में कंबोडिया में शांति स्थापित की गई है। लड़ने वाले तीनों गुटों को संयुक्त राष्ट्र संघ ने एकत्र किया तथा संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्वाधान में एक समझौते पर हस्ताक्षर किए गए। कंबोडिया से वियतनाम की फौजें वापस चली गईं। 1993 में वहाँ चुनाव कराए गए और चुनाव के बाद वहाँ एक साझी सरकार बनी। ख़्मेर रूज सरकार से बाहर रही और देश के कुछ हिस्सों में इसकी फौजों ने अपना आक्रमण जारी रखा।

पश्चिमी एशिया और उत्तरी अफ़्रीका की घटनाएँ

सीरिया और लेबनान की स्वतंत्रता

द्वितीय विश्वयुद्ध के फौरन बाद एशिया के दूसरे भागों की तरह पश्चिमी एशिया में भी स्वाधीनता के लिए जनता उठ खड़ी हुई। फ़्रांसीसी शासन के ख़िलाफ़ सीरिया की जनता के आंदोलन के बारे में आप पिछले अध्याय में पढ़ चुके हैं। युद्ध के बाद फ़्रांसीसियों ने सीरिया और लेबनान पर अपना शासन फिर से कायम करने की कोशिश की पर इन देशों की जनता के विरोध और विश्व-जनमत के कारण उन्हें हटना पड़ा। सीरिया और लेबनान दोनों ही 1946 के अंत में स्वतंत्र हो गए।

इस समय सभी अरब देशों में जनता का आंदोलन बढ़ रहा था और छठे दशक में वे स्वतंत्र राष्ट्रों के रूप में उभरे। कुछ देश जो नाममात्र को स्वतंत्र थे, वे अपनी स्वाधीनता की अभिव्यक्ति करने लगे। कुछ देशों में पुरानी पड़ चुकी राजनीतिक प्रणालियों को उखाड़ फेंकने के आंदोलन भी चले। इन बातों के कारण अरब देशों और साम्राज्यवादी शक्तियों के बीच टकराव और कभी-कभी लंबे युद्ध भी हुए। इस काल में अरब राष्ट्रवाद और ताकतवर हुआ तथा अरब जनता और सरकारों ने मिल-जुलकर अपनी साझी समस्याओं को सुलझाने के प्रयास भी किए। अरब लीग की स्थापना हुई, जिसमें सभी अरब देश शामिल हैं।

मगर अनेक अरब देशों के स्वतंत्र होने से पहले पश्चिमी एशिया में एक ऐसी घटना हुई, जो तनाव का कारण बन गई और जिसके कारण आने वाले वर्षों में अनेक युद्ध हुए। यह घटना थी–इस्राइल नामक राज्य की स्थापना।

इस्राइल का राज्य

जैसाकि पहले कहा जा चुका है, फ़िलिस्तीन में ब्रिटन को 1919 में शासनादेश (मैन्डेट) मिल गया था। फ़िलिस्तीन में अरब और यहूदी रहते थे। सियोनवादी (Zionist) आंदोलन नाम से एक आंदोलन उठ खड़ा हुआ, जिसका दावा था कि फ़िलिस्तीन सभी यहूदियों का देश है, वे चाहे कहीं भी रह रहे हों और इसलिए फ़िलिस्तीन यहूदियों को दिया जाना चाहिए। यूरोप में यहूदियों पर जो अत्याचार सदियों तक होते आए थे उनकी चरम सीमा नाज़ी जर्मनी द्वारा यहूदियों के विनाश की नीति थी। लाखों यहूदी जर्मनी में और जर्मनी द्वारा अधिकार में किए गए देशों में मारे गए। यूरोप में सदियों तक और ख़ासकर द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान यहूदियों को जिन भयानक दु:खों का सामना करना पड़ा था, उनके कारण दुनिया भर में उन्हें सहानुभूति और समर्थन मिला था।

ब्रिटेन ने फ़िलिस्तीन से बाहर के कुछ यहूदियों को

छूट दे दी थी कि वे वहाँ आकर बस सकें। इस बीच सियोनवादी वहाँ एक अलग राज्य बनाए जाने का अभियान चला रहे थे। इससे फ़िलिस्तीन के स्वाधीनता-आंदोलन में पेचीदगी आ गई, क्योंकि वहाँ के निवासियों में बहुमत अरबों का था। 1947 में संयुक्त राष्ट्र ने एक प्रस्ताव पारित किया जिसके अनुसार फ़िलिस्तीन को एक अरब राज्य और एक यहूदी राज्य में बाँटा जाना था। मगर 1948 में ब्रिटेन ने फ़िलिस्तीन से अपनी सेनाएँ हटा लीं और कुछ ही समय बाद इस्राइल नामक राज्य की स्थापना की घोषणा कर दी गई। इस कारण अरब राज्यों और इस्राइल के बीच युद्ध छिड़ गया। इस युद्ध में अरब राष्ट्रों की हार हुई।

इस्राइल राज्य की स्थापना पश्चिमी एशिया में तनाव का कारण बन गई। अरब राज्यों ने उसे मान्यता देने से इन्कार कर दिया। इस्राइल सरकार की नीतियों ने इस कड़वाहट को और बढ़ाया। लगभग 9 लाख अरब अपना घर और देश छोड़कर भागने पर मजबूर हो गए और बेघर-बार हो गए। उन्हें अरब देशों के विभिन्न शरणार्थी शिविरों में शरण मिली। एशिया और अफ़्रीका के अधिकांश देशों ने फ़िलिस्तीनी अरबों के साथ इस्राइल सरकार के व्यवहार की निंदा की। 1956 में इस्राइल ने ब्रिटेन और फ़्रांस के साथ मिलकर मिस्र पर हमला किया। बाद में इस्राइल और अरब राज्यों के बीच और भी युद्ध हुए, जिनके परिणामस्वरूप इस्राइल ने अरब राज्यों के बड़े-बड़े इलाकों पर कब्ज़ा कर लिया। गाज़ा पट्टी, पश्चिमी किनारा और गोलान की पहाड़ियाँ इसमें शामिल हैं। इस अधिकृत भू-भाग में दस लाख से ज़्यादा फ़िलिस्तीनी रहते हैं। संयुक्त राष्ट्र संघ के संकल्पों के बावजूद इस्राइलों ने अरब भू-भाग खाली करने से मना कर दिया और फ़िलिस्तीनी अरबों को उनके अधिकार भी बहाल नहीं किए गए। इनमें से कई तो अलग-अलग अरब राज्यों में शरणार्थी के रूप में रहते हैं। फ़िलिस्तीनी राज्य की स्थापना के संघर्ष के लिए 1964 में फ़िलिस्तीनी मुक्ति संगठन (पी. एल. ओ.) का गठन किया गया। इस संगठन को गुटनिरपेक्ष आंदोलन में सदस्य राज्य का दर्जा हासिल है। अभी हाल में इस्राइली सरकार और फ़िलिस्तीनी मुक्ति संगठन के मध्य एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए हैं। इस समझौते के तहत फ़िलिस्तीनी मुक्ति संगठन ने इस्राइल राज्य को मान्यता प्रदान की और इसके बदले इस समय जो इलाका इस्राइल के नियंत्रण में है, उसके कुछ भागों में फ़िलिस्तीनियों को स्वायत्तता देने पर इस्राइल सरकार सहमत हुई।

मिस्र में क्रांति

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद मिस्र ब्रिटेन के 'शासनादेश' में आ गया। मगर 1922 में राष्ट्रवादी आंदोलन के दबाव में मिस्र को स्वतंत्र घोषित करना पड़ा, हालाँकि उसके बाद भी ब्रिटिश सेनाएँ वहाँ बनी रहीं। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद ब्रिटिश सेनाओं को हटाने की माँग जोर पकड़ने लगी। मिस्रवासियों और ब्रिटिश सेनाओं के बीच गंभीर टकराव हुए जिनमें हज़ारों मिस्रवासी मारे गए। यह असंतोष मिस्र के राजा के ख़िलाफ़ भी था जिसे अंग्रेज़ों ने गद्दी पर बैठाया था। अंग्रेज़ों और राजा के ख़िलाफ़ इस असंतोष के कारण वहाँ 1952 में एक क्रांति हुई। लेफ्टिनेंट-कर्नल गमाल अब्दुल नासिर और जनरल मुहम्मद नजीब के नेतृत्व में मिस्र की सेना ने राजतंत्र का तख्ता पलटकर मिस्र को एक गणराज्य घोषित कर दिया। नई सरकार ने मिस्र से ब्रिटिश सेनाएँ हटाए जाने की माँग की और वे जून 1956 में हटा ली गईं।

कर्नल नासिर के नेतृत्व में मिस्र की सरकार ने देश का आर्थिक पुनर्निर्माण आरंभ किया। मिस्र ने जब अमरीकी गुट में शामिल होने से इन्कार कर दिया, तब अमरीका ने मिस्र को हथियारों की बिक्री पर रोक लगा दी। मगर मिस्र

मिस्र में सफल क्रांति का नेतृत्व करने के बाद कर्नल नासिर और जनरल नजीब

को सोवियत संघ से सैनिक और आर्थिक सहायता मिलती रही। 1956 में मिस्र ने स्वेज़ नहर के राष्ट्रीयकरण की घोषणा की जो तब ब्रिटेन और फ़्रांस के नियंत्रण में थी। तीन महीने बाद इस्राइल, ब्रिटेन और फ़्रांस ने एक योजना बनाकर मिस्र पर हमला कर दिया। मिस्र पर हुए इस हमले का दुनिया भर में विरोध हुआ। ब्रिटेन में भी ब्रिटिश सरकार के ख़िलाफ़ भारी विरोध-प्रदर्शन हुए। सोवियत संघ ने हमलावर देशों को चेतावनी दी कि अगर वे अपनी फ़ौजें मिस्र से नहीं हटाते तो वह उन्हें कुचलने के लिए कड़ी फ़ौजी कार्यवाही करेगा। अमरीका समेत दुनिया के लगभग हर देश ने संयुक्त राष्ट्र संघ में ब्रिटेन, फ़्रांस और इस्राइल की निंदा की। हमले की इस विश्वव्यापी निंदा के बाद मजबूर होकर ब्रिटेन और फ़्रांस को मिस्र से फ़ौजें हटानी पड़ीं। हमले के इस ख़ात्मे से आमतौर पर एशियाई और अफ़्रीकी देशों और ख़ासकर अरब देशों की एकता और मज़बूत हुई। इससे कुछ ही वर्ष पहले स्वाधीनता पाने वाले देशों की बढ़ती हुई ताक़त का भी अंदाज़ हुआ। स्वेज़-युद्ध से सोवियत संघ की प्रतिष्ठा भी बढ़ी और उसे उन देशों का मित्र समझा जाने लगा जो अपनी स्वाधीनता की सुरक्षित रखने के प्रयास कर रहे थे।

लीबिया की स्वतंत्रता

आप पढ़ चुके हैं कि 1911 में लीबिया में इटली का शासन स्थापित हुआ था। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जर्मन और ब्रिटिश सेनाओं के बीच कुछ भयानक युद्ध लीबिया की धरती पर भी हुए। युद्ध के समाप्त होने पर ब्रिटेन और फ़्रांस ने लीबिया पर कब्ज़ा कर लिया। 1951 में लीबिया स्वतंत्र हुआ और वहाँ राजतंत्रीय सरकार स्थापित हुई। 1960 के बाद लीबिया दुनिया के सबसे अधिक तेल-उत्पादन करने वाले देशों में से एक हो गया। इससे लीबियाई समाज के कुछ वर्ग बहुत धनी हो गए हालाँकि अधिकतर जनता अत्यंत निर्धन ही बनी रही। वहाँ का शासक अपने शासन के ख़िलाफ़ किसी भी विरोध को उभरने नहीं देता था। अमरीका ने लीबियाई क्षेत्र में अपना एक बहुत ही शक्तिशाली हवाई अड्डा बनाया। 1969 में कुछ सैनिक अधिकारियों ने सत्ता पर कब्ज़ा कर लिया। शीघ्र ही राजतंत्र समाप्त कर दिया गया। नई सरकार ने घोषणा की कि वह अरब जनता की एकता और एकजुटता को प्राथमिकता देगी।

अल्जीरिया का स्वाधीनता-संघर्ष

छठे दशक में उत्तरी अफ़्रीका में अनेक स्वतंत्र राष्ट्रों का उदय हुआ। मगर स्वाधीनता पाने से पहले उन साम्राज्यवादी देशों के ख़िलाफ़ वर्षों तक संघर्ष भी होते रहे जो अपने औपनिवेशिक अधिकार-क्षेत्रों को बनाए रखना चाहते थे। हिंदचीन की तरह ट्यूनीशिया, मोरक्को और अल्जीरिया में भी फ़्रांसीसी शासन फिर से स्थापित हुआ। मगर 1956 में ट्यूनीशिया और मोरक्को ने स्वाधीनता पा ली।

उत्तरी अफ़्रीका के जिस देश को स्वाधीनता के लिए सबसे लंबा और सबसे कड़ा संघर्ष करना पड़ा, वह अल्जीरिया था। उसे फ़्रांस ने बहुत पहले 1830 में ही जीत लिया था, हालाँकि वहाँ अपना शासन पूरी तरह स्थापित करने में फ़्रांस को 40 वर्ष और लग गए थे। हिंदचीन की तरह अल्जीरिया में भी फ़्रांसीसी शासन-विरोधी संघर्ष का एक लंबा इतिहास रहा है। 1954 में अल्जीरिया के राष्ट्रवादी संगठन, राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा ने फ़्रांसीसी शासन के ख़िलाफ़ सशस्त्र संघर्ष चलाने के लिए जनता का आह्वान किया। हथियारबंद लड़ाइयाँ हुईं जिनमें दोनों ओर से हज़ारों लोग मारे गए। 1958 तक अल्जीरिया के राष्ट्रवादियों ने अपनी एक बड़ी सेना बना ली थी और अल्जीरिया गणराज्य की सरकार की स्थापना की घोषणा कर दी थी। अल्जीरिया के युद्ध के, फ़्रांस के अंदर भी गंभीर परिणाम हुए। इससे फ़्रांस में राजनीतिक अस्थिरता आ गई। फ़्रांस की कम्युनिस्ट पार्टी और अनेक दूसरे फ़्रांसीसी नेता अल्जीरिया की स्वाधीनता के समर्थक थे। मगर फ़्रांसीसी सेना के कई भागों पर अल्जीरिया में बसे फ़्रांसीसियों का प्रभाव था और ये फ़्रांसीसी स्वाधीनता के प्रश्न पर अल्जीरियाई नेताओं से कोई भी बातचीत चलाने के विरोधी थे। 1958 में जनरल दगाल फ़्रांस के राष्ट्रपति बने। उन्होंने अल्जीरिया की जनता को आत्मनिर्णय का अधिकार देने की बात मान ली और राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चे के नेताओं के साथ बातचीत आरंभ की। इस नीति का अल्जीरिया में तैनात फ़्रांसीसी सेना के कुछ हिस्सों ने विरोध किया। उन्होंने दगाल के ख़िलाफ़ विद्रोह कर दिया और उनकी हत्या की भी कोशिश की मगर विद्रोह को कुचल दिया गया। 1 जुलाई, 1962 को अल्जीरिया में जनमत संग्रह

अल्जीरियाई छापामारों को पूछताछ के लिए ले जाते हुए फ्रांसीसी सैनिक, 1955

कराया गया। वहाँ की जनता ने एक राय से पूर्ण स्वाधीनता के पक्ष में मत दिया। 4 जुलाई, 1962 को अल्जीरिया स्वतंत्र गणराज्य बन गया। अल्जीरिया को यह स्वाधीनता जीतने के लिए 1,40,000 अल्जीरियाई जनता ने अपना जीवन बलिदान दिया।

अफ्रीकी राष्ट्रों द्वारा स्वाधीनता की प्राप्ति

आप अध्याय 1 में पढ़ चुके हैं कि इथियोपिया और लाइबेरिया को छोड़कर लगभग पूरे अफ्रीका पर यूरोप के साम्राज्यवादी देश उन्नीसवीं सदी के अंत तक कब्ज़ा कर चुके थे। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद स्थिति में कुल इतना परिवर्तन आया था कि अफ्रीका में जर्मनी के उपनिवेश विजयी मित्र-राष्ट्रों को दे दिए गए थे। मगर एशिया की तरह अफ्रीका में भी प्रथम विश्वयुद्ध के बाद के वर्षों में राष्ट्रवादी आंदोलनों का उदय हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अफ्रीका में औपनिवेशक शासन छिन्न-भिन्न होने लगा। उत्तरी अफ्रीका के देशों की स्वतंत्रता का वर्णन पहले ही किया जा चुका है। छठे दशक के मध्य से दक्षिणी अफ्रीका के देश भी आज़ाद होने लगे। कुछ ही वर्षों के अंदर दक्षिण अफ्रीका और दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका (नामीबिया) को छोड़कर अफ्रीका का लगभग हर देश आज़ाद हो गया। अब नामीबिया भी स्वतंत्र हो चुका है।

दुनिया के सभी भागों की तरह अफ्रीका में भी स्वतंत्रता-आंदोलनों के उभरने का कारण राष्ट्रवाद का विकास और औपनिवेशिक देशों के शोषण और उत्पीड़न के खिलाफ़ बढ़ता हुआ विरोध था। उस समय की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति के कारण ये आंदोलन और भी मज़बूत हुए। द्वितीय विश्वयुद्ध ने आमतौर पर साम्राज्यवाद को कमजोर कर दिया था। इसने अफ्रीका में शासन कर रही कुछ प्रमुख औपनिवेशिक शक्तियों की अजेयता को तोड़ा क्योंकि इस

अफ्रीका के स्वतन्त्र राष्ट्र
मोरक्को
2 मार्च 1956
अल्जीरिया
5 जुलाई 1901
ट्यूनिशिया
20 मार्च 1056
लिबिया
1 सितम्बर 1889
मिस्र
23 जुलाई 1952
मौरितानिया
28 नवम्बर 1960
माली
22 सितम्बर 1969
नाइजर
3 अगस्त 1960
चाड
11 अगस्त 1960
सूडान
1 जनवरी 1956
सेनेगल
20 अगस्त 1960
गाम्बिया 18 फरवरी 1965
गिनी बिसाउ 24 सितम्बर 1973
गिनी 2 अक्टूबर 1958
बुर्किना फासो
6 अगस्त 1960
नाइजीरिया
1 अक्टूबर 1960
आइवरी कोस्ट 7 अगस्त 1960
घाना 6 मार्च 1957
कैमेरून
1 जनवरी 1960
सेंट्रल अफ्रिकन रिपब्लिक
13 अगस्त 1960
जिबूती
27 जून 1977
इथियोपिया
सोमालिया
1 जुलाई 1900
युगांडा 9 अक्टूबर 1962
कीनिया
12 दिसम्बर 1963
भूमध्य रेखीय गिनी
12 अक्टूबर 1968
कांगो
31 दिसम्बर 1969
गैबोन
17 अगस्त 1960
रुआंडा
1 जुलाई 1062
बुरुन्डी
1 जुलाई 1962
जायरे
30 जून 1900
तन्जानिया
9 दिसम्बर 1961
केप वर्डे
5 जुलाई 1976
अंगोला
11 नवम्बर 1975
जाम्बिया
24 अक्टूबर 1964
मलावी
6 जुलाई 1964
मोजाम्बीक
25 जून 1975
कोमोरोस
6 जुलाई 1975
मेडागास्कर
26 जून 1960
मारीशस
12 मार्च 1968
जिम्बाब्वे
18 अप्रैल 1960
नामीबिया
मार्च 1990
बोट्सवाना
30 सितम्बर 1966
स्वाजीलैंड
6 सितम्बर 1968
लेसोथो
4 अक्टूबर 1966

अल्जीरिया के राष्ट्रीय मुक्ति मोर्चा (नेशनल लिबरेशन फ्रंट) के सिपाही, 1962

युद्ध में फ्रांस और बेल्जियम जैसे यूरोपीय देशों को हार का मुँह देखना पड़ा था। अफ्रीका की स्वाधीनता धीरे-धीरे विश्व का एक महत्वपूर्ण प्रश्न बन गई।

घाना दक्षिणी अफ्रीका में स्वतंत्रता पाने वाला पहला देश था। पश्चिमी अफ्रीका में घाना एक शक्तिशाली राज्य था जो आठवीं से बारहवीं सदी तक अस्तित्व में रहा। इस क्षेत्र में अंग्रेज़ों ने एक उपनिवेश जीता था और उसे गोल्ड कोस्ट का नाम दिया था। गोल्ड कोस्ट की जनता के प्रमुखतम नेता क्वामें न्कूमा थे जिन्होंने 1949 में कन्वेंशन पीपुल्स पार्टी की स्थापना की थी। गोल्ड कोस्ट में एक मज़बूत ट्रेड यूनियन आंदोलन भी उठ खड़ा हुआ। स्वतंत्रता की माँग को लेकर कन्वेंशन पीपुल्स पार्टी और ट्रेड यूनियनों ने आपस में सहयोग कर लिया। मगर अधिकांश नेता गिरफ़्तार कर लिए गए और उनकी स्वतंत्रता की माँग को दबाने के प्रयास किए गए। 1950 के बाद ब्रिटिश सरकार ने कुछ सांविधानिक सुधार लागू करने आरंभ किए। चुनावों में पीपुल्स पार्टी की भारी जीत हुई और उसके दबाव में ब्रिटिश सरकार ने गोल्ड कोस्ट को स्वतंत्रता देने की बात मान ली। इस प्रकार 6 मार्च, 1957 को जिस नए और स्वतंत्र राज्य का उदय हुआ, उसने प्राचीन पश्चिम अफ्रीकी राज्य के नाम पर अपना नाम 'घाना' रखा। टोगोलैंड का जो भाग ब्रिटिश कब्ज़े में था वह भी घाना में शामिल हो गया।

इसके बाद पश्चिमी अफ्रीका में आज़ादी पाने वाला दूसरा देश था—गिनी, जो फ्रांस का उपनिवेश था। 1958 में जब फ्रांस अल्जीरिया के युद्ध में फँसा था, उसने अपने उन उपनिवेशों में जनमत-संग्रह कराया, जिन्हें मिलाकर फ्रांसीसी पश्चिमी अफ्रीका और फ्रांसीसी भूमध्य रेखीय अफ्रीका बनाए गए थे। गिनी की जनता ने पूर्ण स्वतंत्रता के पक्ष में मतदान किया। 2 अक्तूबर, 1958 को गिनी को गणराज्य घोषित कर दिया गया।

घाना और गिनी की आज़ादी से अफ्रीका के दूसरे देशों के स्वाधीनता आंदोलनों को और बल मिला तथा वहाँ स्वतंत्रता प्राप्ति की प्रक्रिया तेज़ हुई। अफ्रीका की स्वतंत्रता

क्वामे न्क्रूमा

की प्रक्रिया को तेज़ करना भारत की विदेश नीति का, उसकी स्वतंत्रता के समय से ही एक प्रमुख लक्ष्य रहा था। भारत का स्वाधीनता संघर्ष अफ़्रीकी राष्ट्रवादियों को प्रेरणा देता था। स्वाधीन होने के बाद भारत ने अफ़्रीकी देशों के स्वाधीनता-आंदोलनों को मज़बूत बनाने में एक प्रमुख भूमिका निभाई।

वर्ष 1960 को आमतौर पर अफ़्रीका का वर्ष कहा जाता है। उस वर्ष अफ़्रीका के 17 देश आज़ाद हुए। इनमें से कुछ थे–फ़्रांसीसी पश्चिम अफ्रीका, फ़्रांसीसी भूमध्य रेखीय अफ़्रीका, नाइजीरिया और बेल्जियन कांगो, जिसे अब ज़ायरे कहते हैं।

1961 और 1964 के बीच पूर्वी और मध्य अफ़्रीका के अनेक देश आज़ाद हुए। ये थे–केनिया, यूगांडा, टांगानिका, ज़ंजीबार, न्यासालैंड, उत्तरी रोडेशिया, रूआंडा और बुरूंडी। सियरा-लियोन, गांबिया, लेसोथो (भूतपूर्व बासुतोलैंड) और बोट्स्वाना (भूतपूर्व बेचुआनालैंड) भी स्वतंत्र हो गए। केनिया में स्वाधीनता आंदोलन का नेतृत्व केनिया अफ़्रीकन यूनियन के नेता जोमो केनियाटा कर रहे थे। 1952 में एक किसान विद्रोह उठ खड़ा हुआ। इसे माउ-माउ विद्रोह कहा जाता है, जिसका लक्ष्य ब्रिटिश उपनिवेशवादी अधिकारियों द्वारा ज़मीनों पर किए जा रहे कब्ज़ों का विरोध करना था। विद्रोह को कुचलने के लिए 15,000

माउ-माउ कैदियों को यंत्रणा शिविरों में ले जाया जा रहा है

जोमो केनियाटा

केनियावासी मार डाले गए और लगभग 80,000 यंत्रणा शिविरों में डाल दिए गए। माउ-माउ विद्रोह के समर्थन के आरोप में जोमो केनियाटा को गिरफ्तार कर लिया गया। स्वतंत्रता आंदोलन को कुचलने के असफल होने पर ब्रिटेन ने हथियार डाल दिए और केनिया 1963 में स्वतंत्र हो गया।

अफ्रीका के अनेक नवस्वतंत्र देशों को स्वतंत्रता के बाद के वर्षों में गंभीर समस्याओं का सामना करना पड़ा। सीधे-सीधे हस्तक्षेप करके और फूट के बीज डालकर साम्राज्यवादी देशों ने अपने पुराने उपनिवेशों पर नियंत्रण बनाए रखने की कोशिशें कीं। उदाहरण के लिए, बेल्जियम ने कुछ देशों की सहायता से और भाड़े के सैनिकों का उपयोग करके कांगो से कटांगा नामक एक समृद्ध प्रांत को अलग करा दिया। कांगो के प्रधानमंत्री पैट्रिस लुमुंबा की अपील पर विदेशी फौजों और भाड़े के सैनिकों को वहाँ से हटाने के लिए संयुक्त राष्ट्र की सेनाएँ भेजी गईं। मगर पैट्रिस लुमुंबा कत्ल कर दिए गए और कांगो में अनेक वर्षों तक अव्यवस्था बनी रही।

अंगोला, मोज़ांबिक और गिनी-बिसाऊ तथा केप-वर्दे द्वीप के पुर्तगाली उपनिवेशों और दक्षिण अफ्रीका, दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका एवं रोडेशिया को छोड़कर लगभग पूरा अफ्रीका सातवें दशक के ख़त्म होने से पहले आज़ाद हो चुका था। पुर्तगाली उपनिवेशों में ताकतवर स्वाधीनता आंदोलन उठ खड़े हुए। उन्होंने अपनी मुक्ति सेनाएँ बनाईं और उनके स्वाधीनता संघर्ष को अनेक देशों का समर्थन मिला। जिस पुर्तगाली सेना के एक बड़े भाग का उपयोग उपनिवेशों के स्वाधीनता संघर्षों को कुचलने के लिए किया जाता था, उसी सेना ने अप्रैल 1974 में जनता के सहयोग से पुर्तगाल की 50 वर्ष पुरानी तानाशाही का तख़्ता पलट दिया। सेना में तथा पुर्तगाल की नई सरकार में कम्युनिस्ट, समाजवादी और दूसरे क्रांतिकारी तत्व अफ्रीका में पुर्तगाली शासन को जारी रखने के विरोधी थे। उन्होंने पुर्तगाली उपनिवेशों के स्वतंत्रता-संघर्षों से समझौते की बात चलाई और 1975 तक पुर्तगाल के सभी अफ्रीकी उपनिवेश स्वतंत्र हो गए। अप्रैल 1980 में ज़िंबाब्वे (भूतपूर्व दक्षिण रोडेशिया) को स्वाधीनता मिली।

अफ्रीका में स्वतंत्र होने वाला आख़िरी देश नामीबिया है। पहले इसका नाम दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका था। प्रथम विश्व युद्ध के पहले यह जर्मन उपनिवेश था। उस लड़ाई में जर्मनी की पराजय के बाद एक अधिकार पत्र के तहत इसे दक्षिण अफ्रीका के हवाले कर दिया गया। दक्षिण अफ्रीका दक्षिण-पश्चिम अफ्रीका (अब नामीबिया) को अपना उपनिवेश समझता था और संयुक्त राष्ट्र संघ के संकल्पों के बाद भी वहाँ से निकलने से इसने मना किया था। यहाँ पर स्वतंत्रता आंदोलन की अगुवाई "साउथ-वेस्ट-अफ्रीका पीपुल्स ऑरगेनाइज़ेशन" (स्वापो) नामक संगठन ने किया। इसकी स्थापना 1960 में हुई थी। देश को स्वतंत्र करने के लिए जब इसकी गुरिल्ला फौज ने युद्ध शुरू किया तब स्वतंत्रता आंदोलन में तेज़ी आई। इसको गुटनिरपेक्ष आंदोलन का सदस्य बनाया गया। नामीबिया के स्वतंत्रता आंदोलन को सफलता की मंज़िल तक पहुंचाने में गुटनिरपेक्ष आंदोलन, अफ्रीकी सरकारों तथा संयुक्त राष्ट्र संघ ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। देश की आज़ादी की संयुक्त राष्ट्र की एक योजना से दक्षिण अफ्रीका जब सहमत हो गया तब 1989 में नामीबिया की लड़ाई ख़त्म हुई। नवंबर
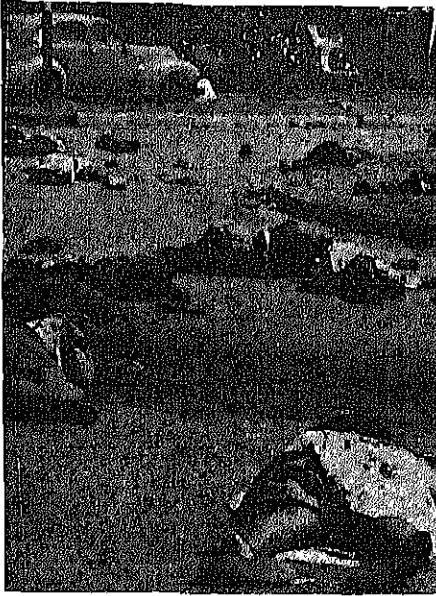
दक्षिण अफ्रीका के शार्पविल में 22 मार्च, 1960 को एपार्थीड (पृथकतावादी) कानून के विरुद्ध प्रदर्शन करने वालों का संहार किया गया

1989 में नामीबिया में चुनाव हुए। इस चुनाव में स्वापो को अधिकांश जगहों पर सफलता हासिल हुई और 21 मार्च, 1990 को नामीबिया स्वतंत्र हो गया।

दक्षिण अफ्रीका (जो 1910 से दक्षिण अफ्रीका संघ और 1961 से दक्षिण अफ्रीका गणतंत्र था) इस अर्थ में स्वतंत्र देश रहा है कि इस पर किसी दूसरे देश का शासन नहीं था। बहरहाल, दक्षिण अफ्रीका की सरकार बीसवीं सदी की विश्व की सर्वाधिक दमनात्मक सरकारों में थी। इस सरकार पर अल्पसंख्यक गोरों का एकाधिकार था जिनका रंगभेदी व्यवहार घृणित सीमा को लांघ चुका था। अफ्रीका में पृथकतावादी (एपार्थीड) व्यवस्था कायम की गई थी। इस व्यवस्था के तहत लोगों को उनकी नस्ल (रंग) के आधार पर वर्गीकृत किया गया था। इसमें हर वर्ग के रहने के लिए पृथक क्षेत्र निर्धारित किया गया था। गोरों, कालों तथा अन्य नस्ल के लोगों के लिए अलग स्कूल और विश्वविद्यालय थे, अलग सिनेमा घर थे, पृथक बाजार और विपणन केंद्र थे और रेलगाड़ियों में यात्रा के लिए अलग डिब्बे थे। नस्ल के आधार पर ही खेल की टीमें बनती थीं। दो अलग-अलग नस्लों में शादी-ब्याह करना दण्डनीय अपराध माना जाता था। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने पर प्रतिबंध लगे हुए थे। देश की अच्छी ज़मीनों पर गोरों का नियंत्रण था और इन्हीं के हाथ में सारी आर्थिक और राजनीतिक शक्ति थी। ग़ैर-गोरे लोगों का देश के शासन के संचालन में कोई दखल नहीं था उनको मतदान का अधिकार भी नहीं था। लगभग 80% जनता के ऊपर गोरे अल्पसंख्यकों के शासन को बनाए रखने के लिए पृथकतावादी व्यवस्था का इस्तेमाल किया जाता था। इन बहुसंख्यक आबादी वाले लोगों में अफ्रीका के काले लोग, अन्य अश्वेत लोग तथा भारतीय मूल के लोग शामिल थे। नस्लों के अलगाव के नाम पर यह व्यवस्था जनसंख्या के बहुसंख्यक लोगों को मानवाधिकारों से वंचित किए हुए थी। यह बात याद होगी कि भारत में स्वतंत्रता आंदोलन के नेता बनने के काफ़ी पहले दक्षिण अफ्रीका में नस्ली भेदभाव के ख़िलाफ़ महात्मा गाँधी ने संघर्ष शुरू किया था।

अल्पमत गोरों के शासन को समाप्त करने तथा ग़ैर-नस्ली दक्षिण अफ्रीकी लोकतंत्रीय सरकार की स्थापना के लिए आंदोलन का नेतृत्व करने वाला संगठन अफ्रीकी नेशनल कांग्रेस था। यही वहाँ की जनता का प्रमुख संगठन था। इसकी स्थापना 1910 में हुई थी। 1950 के दशक में पृथकतावादी घृणित व्यवस्था के ख़िलाफ़ संघर्ष और गहराया। शासन को बनाए रखने के लिए सरकार ने दमन और आतंक का सहारा लिया। शांतिपूर्ण ढंग से प्रदर्शन कर रहे लोगों का कत्लेआम हुआ। 1960 में अफ्रीकी नेशनल कांग्रेस पर प्रतिबंध लगाया गया तथा इसके अधिकांश नेताओं को गिरफ़्तार कर लिया गया। इसके बाद इस नस्लवादी शासन से लड़ने के लिए अफ्रीकी नेशनल कांग्रेस ने अपनी सेना संगठित की।

शेष दुनिया से दक्षिण अफ्रीका को क्रमश: अलग-थलग कर दिया गया। पृथकतावादी शासन व्यवस्था को ध्वस्त करने वाले संघर्ष को समर्थन देने में भारत अग्रिम पंक्ति में शुरू से ही रहा है। यह पहला दुनिया का देश था जिसने

दक्षिण अफ़्रीका के जोहान्सबर्ग नगर में प्रदर्शनकारियों पर आक्रमण करती हुई पुलिस, 1972

दक्षिण अफ़्रीका से अपने संबंध तोड़ लिए थे तथा दक्षिण अफ्रीकी जनता को अपना पूरा समर्थन दिया था। इसके बाद कई अन्य देशों ने भी ऐसा ही किया था। दक्षिण अफ्रीका की नीति की भर्त्सना संयुक्त राष्ट्र संघ ने भी की। जिन थोड़े से पश्चिमी देशों के दक्षिण अफ्रीका के साथ सैनिक और आर्थिक संबंध बरकरार थे, उन्होने भी 1980 के दशक में उसके ख़िलाफ़ प्रतिबन्ध लगा दिए। 1980 के दशक की समाप्ति के समय पूरे विश्व स्तर पर दक्षिण अफ्रीका को शेष दुनिया से अलग-थलग कर दिया गया था।

1980 के दशक की समाप्ति के बाद से पृथकतावादी व्यवस्था की समाप्ति की प्रक्रिया शुरू हो गई। अफ़्रीकी नेशनल कांग्रेस पर से प्रतिबंध हटा लिया गया और उसके नेताओं को रिहा कर दिया गया। रिहा किए गए नेताओं में नेल्सन मंडेला भी थे जो 26 सालों से कैद थे और पृथकतावादी सत्ता के विरुद्ध संघर्ष के प्रतीक बन चुके थे। अनेक पृथकतावादी कानून समाप्त कर दिए गए और नए संविधान की रचना के लिए अफ्रीकी नेशनल कांग्रेस तथा दक्षिण अफ्रीका की सरकार के बीच बातचीत शुरू हुई जिसमें सभी दक्षिण अफ़्रीकी लोगों को मतदान का अधिकार प्राप्त होना था। अप्रैल 1994 में वहाँ आम चुनाव हुए। इन चुनावों में पहली बार देश के हर नागरिक को मत का अधिकार मिला। मई 1994 में वहां पहली लोकतांत्रिक सरकार का गठन हुआ और नेल्सन मंडेला दक्षिण अफ़्रीका के राष्ट्रपति बने।

इस तरह पिछले तीस वर्षों में अफ्रीका का लगभग हर भाग स्वतंत्र हो चुका है। अनेक अफ्रीकी देशों ने अपने नाम बदल लिए हैं। औपनिवेशिक शक्तियों ने उन्हें ऐसे नाम दिए थे, जिनका उनके पुराने इतिहास और संस्कृति से कुछ लेना-देना न था। औपनिवेशिक दुस्साहसवादियों के नाम पर कुछ देशों और नगरों के नाम रखे गए थे जैसे रोडेशिया, लियोपोल्डविले, स्टैनलेविले, आदि। अफ्रीका की जनता औपनिवेशिक शासन के कारण हुई अपनी क्षति को पूरा करने की कोशिश कर रही है। देशों और नगरों के नाम बदलकर उन्हें पुराने नाम देना भी उनके स्वाधीनता और राष्ट्रीय पहचान के दावे का एक अंग है। साझी ज़िम्मेदारियों को पूरा करने तथा साझे उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए एकता की आवश्यकता है और इसलिए समूची अफ्रीकी जनता

की एकता स्थापित हुई है। अपनी स्वतंत्रता की रक्षा करना तथा अभी भी स्वाधीनता के लिए लड़ रहे अफ़्रीकी जनता के मुक्ति-आंदोलनों की सहायता करना इन उद्देश्यों में शामिल है। 1963 में **अफ़्रीकी एकता संगठन** (ओ.ए.यू.) की स्थापना इस दिशा में सबसे महत्वपूर्ण कदम थी।

गुटनिरपेक्ष आंदोलन

स्वतंत्र राष्ट्रों के रूप में अफ़्रीकी और एशियाई देशों के उदय से विश्व-इतिहास में एक नए चरण का आरंभ होता है। ये देश जो सदियों तक दबाकर रखे गए थे, अब अपनी शक्ति को पहचानने लगे हैं और विश्व में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने लगे हैं। ऐसे ही विकासक्रम दक्षिणी अमरीका और कैरीबियन में भी हुए हैं। दुनिया के इस भाग में वे देश जो कभी यूरोपीय औपनिवेशिक शासन के अधीन थे, स्वतंत्र हो चुके हैं। संयुक्त राज्य अमरीका ने इन देशों के आंतरिक मामलों में अनेकों बार हस्तक्षेप किया है, खासकर तब, जब किसी देश में कोई उग्र सरकार कायम हुई और उसने अपनी राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता को वास्तविक बनाने का प्रयास किया। इस क्षेत्र में हुई एक महत्वपूर्ण घटना क्यूबा की क्रांति थी जिसने 31 दिसंबर, 1958 को बतिस्ता की भ्रष्ट तानाशाह सरकार का तख़्ता पलट दिया। 1961 में अमरीका ने भाड़े के सैनिक क्यूबा भेजे मगर यह आक्रमण टाँय-टाँय- फिस्स बोल गया और तीन दिनों में ही इसे कुचल दिया गया।

अपनी साझी समस्याओं और साझी आकांक्षाओं के कारण इन देशों की जनता ने उन्हें जोड़नेवाला कोई संगठन न होने के बावजूद साथ मिलकर काम करना आरंभ किया। दुनिया के मामलों पर और ख़ासकर अभी भी विदेशी दासता में रह रहे राष्ट्रों की स्वाधीनता के प्रश्न पर उनके बीच कुछ सामूहिक समझ विकसित होने लगी। 1955 में एक ऐसी घटना हुई, जिसने एशिया और अफ़्रीका के देशों की एकता को और भी मज़बूत किया। यह घटना थी — अफ़्रो-एशियाई सम्मेलन जो इंडोनेशिया में बांदुंग नामक स्थान पर आयोजित हुआ। इस सम्मेलन में 23 एशियाई और 6 अफ़्रीकी देशों ने भाग लिया। सम्मेलन की कार्रवाई में तीन एशियाई देशों — भारत, चीन और इंडोनेशिया — की महत्वपूर्ण भूमिका रही। अफ़्रो-एशियाई देशों की यह बढ़ती हुई एकता संयुक्त राष्ट्र संघ में भी देखी गई जहाँ अनेक प्रश्नों पर इन देशों ने एक समूह की तरह कार्य किया।

विश्व में गुटनिरपेक्षता का उदय अफ़्रीकी और एशियाई देशों की स्वतंत्रता के बाद होने वाली एक और महत्वपूर्ण घटना थी। आप शीत युद्ध, सैनिक गुटों की स्थापना और दुनिया के अनेक भागों में बढ़ते तनावों के बारे में पढ़ चुके हैं। एशिया और अफ़्रीका के अनेक नवस्वाधीन राष्ट्रों ने शीत युद्ध में शामिल होने से इन्कार कर दिया। इन्होंने सैनिक गुटों की स्थापना को शांति और अपनी स्वाधीनता के लिए एक गंभीर ख़तरा माना। इन देशों के सामने सामाजिक और आर्थिक पुनर्निर्माण की एक भारी ज़िम्मेदारी है और इसे युद्धों और तनावों से मुक्त वातावरण में ही पूरा किया जा सकता है। एशिया के कुछेक देश सैनिक गुटों में शामिल हुए और अपनी धरती पर उन्होंने सैनिक अड्डे बनाए जाने की छूट दे दी। सैनिक गुटों के विस्तार और विदेशी अड्डों की स्थापना को अधिकांश एशियाई देश अपनी स्वाधीनता के लिए ख़तरा और तनाव का कारण मानते थे। इसलिए उन्होंने इन गुटों का विरोध किया। एशिया और अफ़्रीका में साम्राज्यवाद के बने रहने के कारण उनके लिए तथा शांति के लिए पैदा होने वाले ख़तरों के प्रति भी वे सचेत थे। इसलिए एशिया और अफ़्रीका के गुटनिरपेक्ष राष्ट्र उपनिवेशवाद की समाप्ति के संघर्ष में आगे-आगे रहे। गुटनिरपेक्षता मूलतः एक ऐसी नीति है जिसका उद्देश्य स्वाधीनता को ठोस बनाना, उपनिवेशवाद को ख़त्म करना और विश्वशांति को बढ़ाना है। यह केवल सैनिक गुटों में न शामिल होने की नीति ही नहीं है, बल्कि एक बेहतर दुनिया के निर्माण की नीति भी है।

जवाहरलाल नेहरू के प्रधानमंत्रित्व काल में भारत ने गुटनिरपेक्षता को विश्व की एक प्रमुख शक्ति बनाने में अग्रणीय भूमिका निभाई है। गुटनिरपेक्ष आंदोलन में प्रमुख भूमिकाएँ निभाने वाले दूसरे नेता रहे हैं — इंडोनेशिया के राष्ट्रपति सुकर्णो, मिस्र के राष्ट्रपति नासिर और यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति मार्शल टीटो। गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों का पहला शिखर सम्मेलन यूगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेद में सितंबर 1961 में हुआ। इसमें 25 देशों के

राज्याध्यक्षों ने भाग लिया। इनमे यूरोप से यूगोस्लाविया और अमरीकी महाद्वीप से क्यूबा को छोड़कर शेष सभी देश एशिया और अफ्रीका के थे। तीन अन्य देशों ने प्रेक्षकों के रूप में भाग लिया। सम्मेलन के अंत में जारी बयान में गुटनिरपेक्षता के मूलभूत सिद्धांतों की घोषणा की गई थी। ये सिद्धांत हैं — स्थायी शांति, उपनिवेशवाद और साम्राज्यवाद के सभी रूपों का ख़ात्मा, राष्ट्रों के बीच शांतिपूर्ण सहअस्तित्व, नस्ली भेदभाव की निंदा, सैनिक गुटों का विरोध, निरस्त्रीकरण, मानवीय अधिकारों के प्रति सम्मान, राष्ट्रों के बीच समानता के आधार पर शोषण-युक्त आर्थिक संबंधों की स्थापना, आदि।

गुटनिरपेक्ष आंदोलन के सदस्य देशों की संख्या से गुटनिरपेक्षता की नीति की लोकप्रियता का पता चलता है। 1961 के बेलग्रेद सम्मेलन में 25 देशों ने भाग लिया था। मगर आज 109 देश गुटनिरपेक्षता की नीति पर चल रहे हैं। ये देश एशिया, अफ्रीका, यूरोप और अमरीकी महाद्वीपों के हैं। गुटनिरपेक्ष आंदोलन का दसवाँ शिखर सम्मेलन 1992 में जकार्ता (इंडोनेशिया) में हुआ। सातवाँ शिखर सम्मेलन दिल्ली में हुआ था जिसकी अध्यक्षता तत्कालीन भारतीय प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी ने की थी। 1979 में छठवाँ शिखर सम्मेलन हवाना (क्यूबा) में हुआ था। इस सम्मेलन की अध्यक्षता राष्ट्रपति फिदेल कास्त्रो ने की थी। फिलिस्तीनी मुक्ति संगठन (पी.एल.ओ.) तथा दक्षिण अफ्रीका पीपुल्स आरगेनाइज़ेशन — राष्ट्रीय मुक्ति आंदोलन के इन दोनों संगठनों को गुटनिरपेक्ष आंदोलन की पूर्ण सदस्यता प्राप्त थी। जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है कि जिस नामीबिया की मुक्ति संघर्ष का नेतृत्व स्वापो ने किया था, वह अब स्वतंत्र हो चुका है। दक्षिण अफ्रीका 1994 में गुट निरेपक्ष आंदोलन का 109वां सदस्य बना। विश्व की गतिविधियों में और खासतौर से उपनिवेशवाद की समाप्ति और दुनिया में शांति कायम करने में गुटनिरपेक्ष आंदोलन की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। नई अंतर्राष्ट्रीय अर्थव्यवस्था की रचना के लिए गुटनिरपेक्ष देश काम कर रहे है। इस नई व्यवस्था में राष्ट्रों के बीच समानता के आधार पर आर्थिक संबंध बनेंगे। इस नई व्यवस्था में कोई भी दूसरे देश का आर्थिक शोषण नहीं करेगा तथा राष्ट्रों के बीच असमानता की खाई कम होगी।

हाल में हुए बदलाव

अभी हाल के कुछ वर्षों में जो परिवर्तन हुए हैं, जैसे कंबोडिया में, इस्राइल (फिलिस्तीन) में, नामीबिया और दक्षिण अफ्रीका में, उनकी चर्चा इस अध्याय में की जा चुकी है। इन परिवर्तनों के साथ दुनिया में जो और परिवर्तन हुए हैं, वे काफ़ी दूरगामी हैं और कहा जा सकता है कि दूसरे विश्वयुद्ध के बाद विश्व इतिहास में नए चरण की शुरुआत हुई है। इनमें से कुछ परिवर्तन तो इतने एकाएक हुए हैं कि उनके महत्व को पूरी तरह समझने में समय लगेगा। संयुक्त राज्य अमरीका और सोवियत संघ के बीच शत्रुता तथा इनके नेतृत्व वाले सैनिक गुटों के बीच सशस्त्र टकराव, दूसरे विश्वयुद्ध के बाद के चार दशकों के विश्व इतिहास की प्रमुख विशेषता है। यह दौर शीत युद्ध का है। इसी दौर में नरसंहार के लिए नए-नए शस्त्रों को तैयार किया गया और उनका बड़े पैमाने पर उत्पादन किया गया। इससे मानव जाति के अस्तित्व के लिए ही ख़तरा पैदा हुआ। 1970 के दशक और 1980 के दशक के आरंभिक सालों में शीत युद्ध को समाप्त करने की दिशा में कुछ प्रयास किए गए। संयुक्त राज्य अमरीका तथा सोवियत संघ के बीच कुछ विशेष किस्म के प्रक्षेपास्त्रों तथा कुछ विशेष प्रकार के घातक हथियारों की संख्या कम करने पर समझौते हुए जिनको कुछ ख़ास-ख़ास इलाकों में लगाया गया था। लेकिन शीत युद्ध समाप्त करने की प्रक्रिया को आगे बढ़ाने में अनेक बार बाधाएँ खड़ी हुईं। 1979 में सोवियत संघ ने अपनी फौजें अफ़ग़ानिस्तान में उतार दीं। इसके कारण संयुक्त राज्य अमरीका तथा सोवियत संघ के बीच तनाव और बढ़ गया। संयुक्त राज्य अमरीका ने नए तथा और ज्यादा घातक हथियार विकसित करने का कार्यक्रम शुरू किया जिसे आमतौर पर "स्टार वार" नाम से जाना जाता है। इन हथियारों का अर्थ यह था कि युद्ध अब अन्तरिक्ष में लड़ा जाएगा तथा अन्तरिक्ष से ही इन हथियारों का इस्तेमाल होगा। लेकिन 1980 के दशक के मध्य तक इस स्थिति में सुधार होने लगा और इसी दशक के अन्त तक स्पष्ट हो गया (और अधिक निश्चयपूर्वक कहा जा सकता था) कि अब

गुटनिरपेक्षता

"गुटनिरपेक्ष" शब्द की अलग-अलग ढंग से व्याख्या की जा सकती है, परन्तु मूलतः इस शब्द का गठन और प्रयोग विश्व के महान शक्ति गुटों के प्रति निरपेक्ष रहने के संदर्भ में किया गया था। "गुटनिरपेक्ष" का अर्थ नकारात्मक है। लेकिन यदि हम इसे सकारात्मक अर्थ दें तो इसका अर्थ उन राष्ट्रों से है जो युद्ध के प्रयोजन से गुट बनाने, सैनिक गुटों, सैनिक गठबन्धनों या इसी प्रकार के अन्य गुटों के बनाने का विरोध करते हैं। हम ऐसी किसी भी गतिविधि से दूर रहकर अपनी संपूर्ण सामर्थ्य से शांति के पक्ष का समर्थन करते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि जब कभी भी वास्तविक संकट की कोई ऐसी स्थिति उत्पन्न हो जिसमें युद्ध की संभावना नजर आए तो यह तथ्य कि हम किसी भी गुट से संबद्ध नहीं हैं, हमें उस संकट को रोकने के लिए भरसक प्रयत्न करने के लिए प्रेरित करेगा...........

लगभग छह, सात या आठ वर्ष पहले गुटनिरपेक्षता एक दुर्लभ प्रवृत्ति थी। यहाँ वहाँ कुछ देश इसके बारे में पूछा करते थे और बाकी देशों ने इसका परिहास किया और किसी भी सूरत में इस नीति को गंभीरता से नहीं लिया। "गुटनिरपेक्षता ? यह क्या है ? आप या तो इस पक्ष में हैं या उस पक्ष में –" यह उनका तर्क होता था। आज यह तर्क अर्थहीन हो गया है। पिछले कुछ वर्षों का इतिहास यह बताता है कि गुटनिरपेक्षता की अवधारणा के प्रति समर्थन लगातार बढ़ा है। क्यों ? क्योंकि यह विश्व की घटनाओं की धारा के अनुकूल है, बहुत बड़ी संख्या में अवाम की विचारधारा के अनुकूल है, क्योंकि कोई देश चाहे गुटनिरपेक्ष था या नहीं, वहाँ के लोगों में शांति के लिए ज़बरदस्त चाह थी और वे किसी भी गुट द्वारा बड़ी-बड़ी सेना और परमाणु बमों के जमाव को उचित नहीं समझते थे। इसलिए उनका ध्यान उन देशों की ओर आकृष्ट हुआ जिन्होंने किसी भी गुट के साथ मिलने से इन्कार कर दिया.......

आज की दुनिया की सबसे बुनियादी सच्चाई है नई-नई ताकतवर शक्तियों का उदय। हमें इस नई दुनिया के संदर्भ में सोचना है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि साम्राज्यवाद तथा पुरानी शैली के उपनिवेशवाद का अंत हो जाएगा परन्तु ये नवीन शक्तियाँ औरों को और तरीकों से हमारे ऊपर आधिपत्य स्थापित करने में सहायता कर सकती हैं, निश्चित तौर पर अल्पविकसित और पिछड़े हुए देशों पर। इसलिए हमारे लिए पिछड़ा रहना मुमकिन नहीं है........

हमें अपने देशों में ऐसे समाज को निर्मित करना है जिसमें आज़ादी वास्तविक हो। आज़ादी ज़रूरी है क्योंकि यही हमें शक्ति देगी तथा हममें खुशहाल समाज निर्मित करने की सक्षमता पैदा करेगी। हमारी यही बुनियादी समस्याएँ हैं। जब हम इन बुनियादी समस्याओं के संदर्भ में सोचते हैं तो हमें युद्ध का विचार पहले से भी अधिक मूर्खतापूर्ण लगता है। यदि हम युद्ध को रोक नहीं सकते तो हमारी सभी समस्याएँ ज्यों की त्यों बनी रहेंगी और हम उनका समाधान नहीं कर सकेंगे। परन्तु यदि हम युद्ध को रोक सकें तो इन्हीं समस्याओं के समाधान में आगे बढ़ सकते हैं। हम विश्व के उन हिस्सों को आज़ाद कराने में सहायता दे सकते हैं जो अभी भी औपनिवेशिक और साम्राज्यवादी शासन के अधीन हैं और हम अपने-अपने देशों में स्वतंत्र तथा समृद्ध समाज का निर्माण कर सकते हैं। हमें यही सकारात्मक कार्य करना है........

2 सितम्बर, 1961 को बेलग्रेद में हुए गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों के
प्रथम सम्मेलन में जवाहरलाल नेहरू के भाषण से उद्धृत
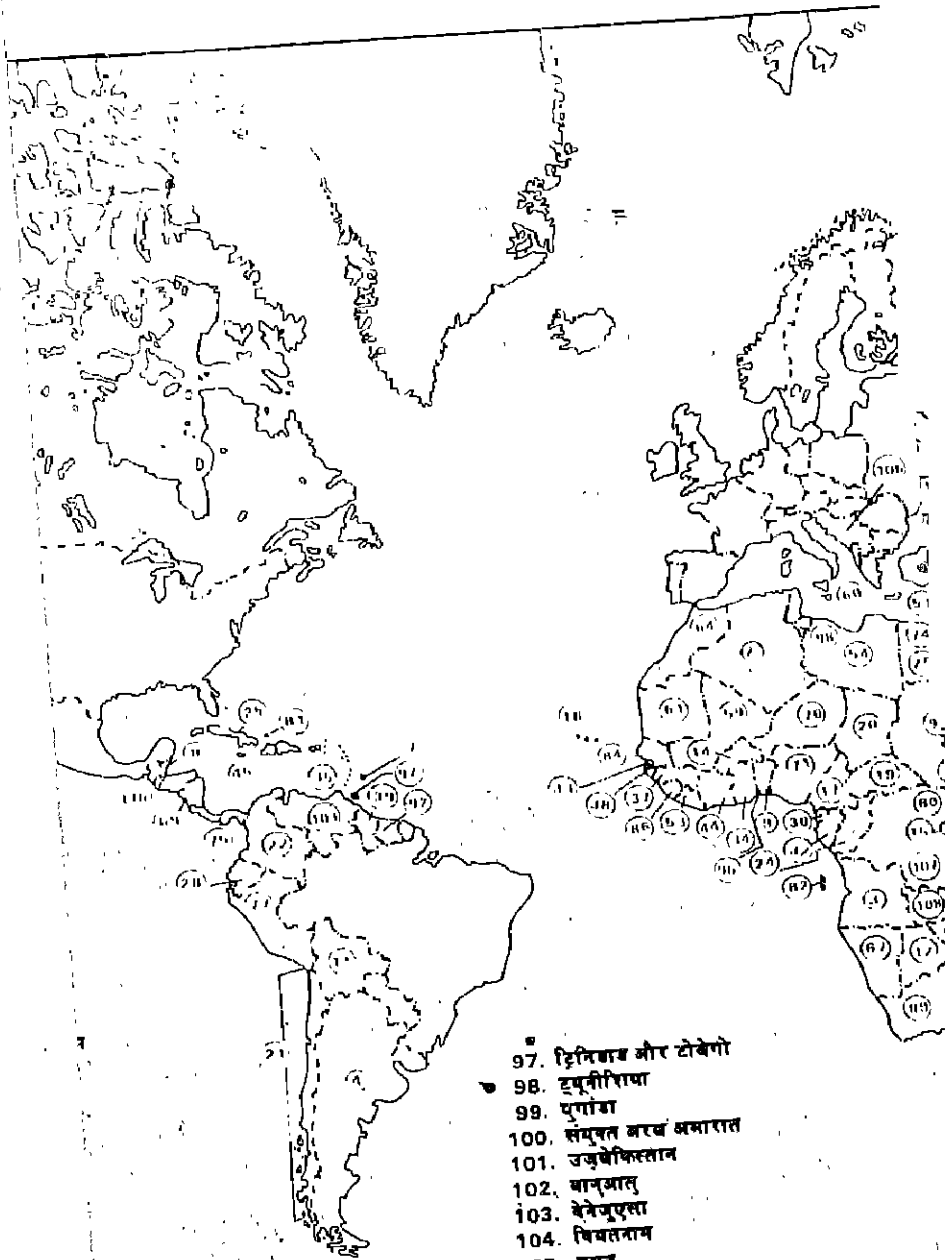
97. ट्रिनिडाड और टोबेगो
98. ट्यूनीशिया
99. युगांडा
100. संयुक्त अरब अमारात
101. उज़्बेकिस्तान
102. वानुआतु
103. वेनेज़ुएला
104. वियतनाम
105. यमन
106. यूगोस्लाविया
107. ज़ायरे
108. ज़ांबिया
109. ज़िम्बाब्वे
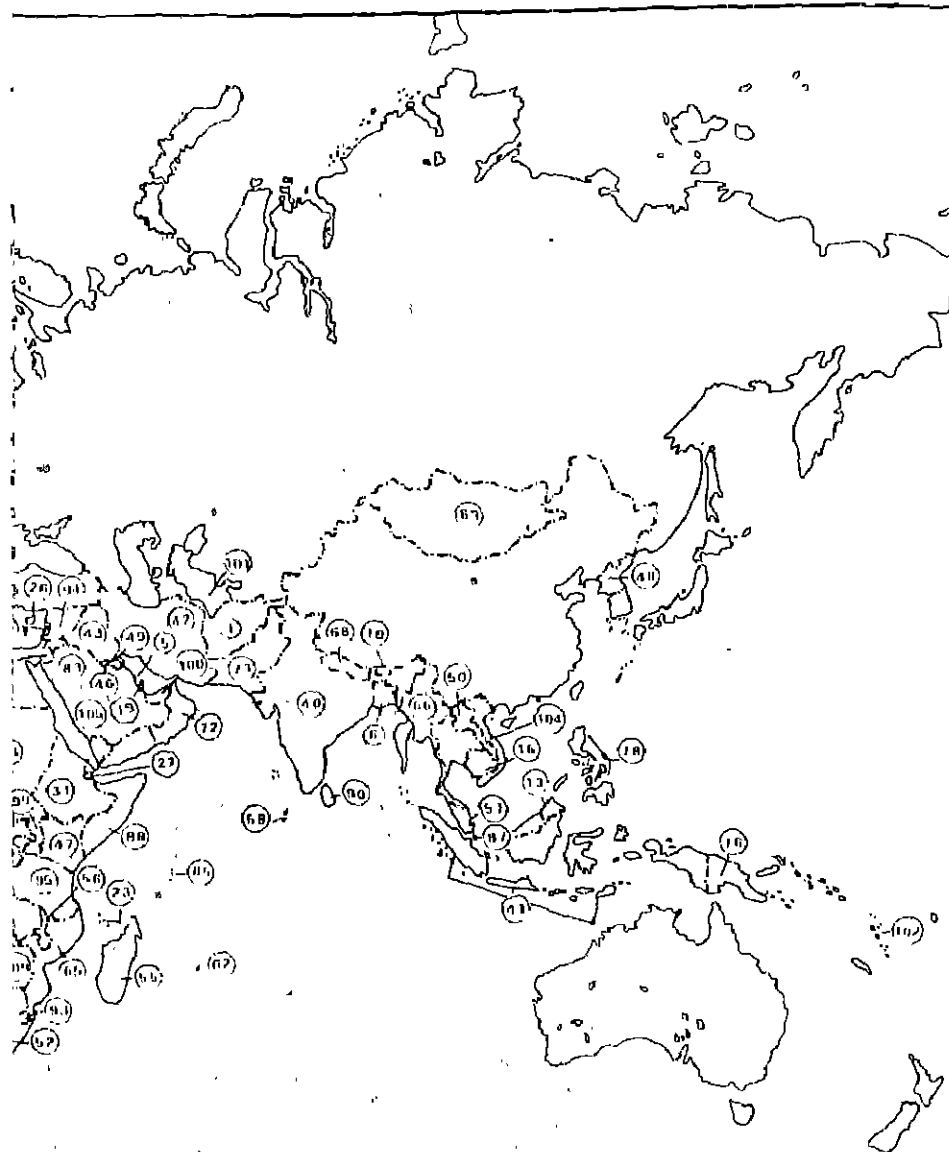
गुट निरपेक्ष देशों का पहला शिखर सम्मेलन बेलग्रेड में 1 से 6 सितम्बर 1961 में हुआ। इस में 26 देशों ने भाग लिया। इन देशों को सूची में ● से दर्शाया गया है। मिस्र और सीरिया उस समय एक राज्य थे जिसे संयुक्त अरब गणराज्य के नाम से जाना जाता था। 1994 में लोकतांत्रिक सरकार बनने के बाद दक्षिण अफ्रीका भी गुट-निरपेक्ष आंदोलन का सदस्य बन गया।

शीत युद्ध के युग का अंत हो गया है। 1989 के शुरुआत में सोवियत फ़ौजें अफ़ग़ानिस्तान से वापस चली गईं। 1980 के दशक के अंतिम समय में और भी कई परिवर्तन हुए और आमतौर पर लोगों में इस पर सहमति है कि अब हम शीत युद्धोत्तर काल में रह रहे हैं। इसे हाल के वर्षों में होने वाले परिवर्तनों में अत्यंत महत्त्वपूर्ण तथा रचनात्मक परिवर्तन माना जा सकता है।

विश्व के दो क्षेत्रों में एतिहासिक महत्व के दूरगामी परिवर्तन हुए हैं। इनमें एक क्षेत्र वह है जो 1991 के लगभग अंत तक सोवियत संघ कहलाता था दूसरा क्षेत्र पुर्वी और मध्य यूरोप के वे देश हैं जहाँ द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद कम्युनिस्ट पार्टी की सरकारें बनी थीं। इनमें सर्वाधिक महत्वपूर्ण परिवर्तन सोविमत संघ का पतन और वहाँ कम्युनिस्ट शासन का ख़ात्मा है। इसी प्रकार पूर्वी यूरोप के देशों में भी कम्युनिस्ट शासन समाप्त हो चुका है। स्तालिन की मौत के तीन साल बाद सोवियत संघ की कम्युनिस्ट पार्टी ने स्तालिन द्वारा की गई ज़्यादतियों की भर्त्सना की। 1985 से सोवियत संघ की राजनीतिक प्रणाली में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तनों का प्रवेश प्रारंभ हुआ। इनका लक्ष्य राजनीतिक लोकतंत्र को बढ़ावा देना था। हर मुद्दे पर स्वतंत्र और खुली बहस होती थी। विचारों और अभिव्यक्ति की आज़ादी पर से बंदिशें हटा दी गईं। जनता की रहन-सहन की हालत सुधारने और अर्थव्यवस्था में शुरू हुए गतिरोध को तोड़ने के लिए अर्थव्यवस्था में सुधार प्रारंभ किए गए। सारी दुनिया में इन सुधारों को मान्यता प्राप्त हुई। रूसी भाषा के दो शब्द "पेरेस्त्रोइका" (पुनर्गठन) और "ग्लास्नोस्त" (खुलापन) से इन सुधारों का वर्णन किया गया था और सारे विश्व में ये शब्द प्रचलित हुए थे। देश के राजनीतिक जीवन पर कम्युनिस्ट पार्टी की पकड़ ढीली हुई तथा अन्य राजनीतिक दलों को भी काम करने की इजाज़त दी गई। इसी दौरान गणराज्यों ने अधिक स्वायत्तता की माँग रखी जिनको मिलाकर सोविमत संघ बना था। कुछ गणराज्य तो पूरी तरह स्वतंत्र होना चाहते थे। अधिक स्वायत्तता करने वाले नए समझौते की रूपरेखा बनाने की कोशिश की गई। इस रूपरेखा में संघ के ढाँचे को सुरक्षित रखने की भी कोशिश थी। बहरहाल, अगस्त 1991 में कुछ कम्युनिस्ट नेताओं ने मिलकर सत्ता का तख़्ता पलटने का प्रयास किया। यद्यपि सत्ता को बदलने की यह कोशिश नाकाम रही, लेकिन इसके फलस्वरूप सोवियत संघ के विघटन की प्रक्रिया और तेज़ हो गई। कई गणराज्यों ने अपने को स्वतंत्र घोषित कर दिया। 25 दिसबंर, 1991 को सोवियत संघ के राष्ट्रपति मिखाइल गोर्बाचोव ने अपने पद से त्याग-पत्र दे दिया। वे इस दौर में सोवियत संघ के राष्ट्रपति थे तथा सुधारों की पहल उन्होंने ही की थी। अब सोवियत संघ का औपचारिक अस्तित्व भी समाप्त हो गया। सोवियत संघ लगभग सात दशकों तक विश्व के ऐतिहासिक विकास को प्रभावित करता रहा था। वह बिखर गया तथा उसके स्थान पर 15 स्वतंत्र गणराज्यों का जन्म हुआ। ये सब पहले सोवियत संघ के ही गणराज्य थे। इन सभी गणराज्यों में कम्युनिस्ट पार्टी का शासन समाप्त हो चुका है, इनमें से कई गणराज्यों को गंभीर राजनीतिक और आर्थिक समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है। इन गणराज्यों को आपस में भी समस्याओं का सामना करना पड़ रहा है, क्योंकि इनमें से बारह ने आपस में मिलकर एक ढीला परिसंघ बनाया है जिसको स्वतंत्र राज्यों का राष्ट्रकुल (कॉमन वेल्थ) कहा जाता है। इन गणराज्यों को इस पुस्तक के अध्याय 3 में दिए गए सोवियत संघ के नक्शे में दर्शाया गया है, यद्यपि इनमें से कुछ गणराज्यों के नाम कुछ बदल गए हैं। नए नाम इस प्रकार हैं : रूसी संघ (पहले यह आर.एस.एफ.एस.आर. था), कज़ाख़िस्तान (पहले कज़ाख सोवियत समाजवादी गणतंत्र), एस्तोनिया (पहले एस्तोनिया सोवियत समाजवादी गणतंत्र), लैत्विया (पहले लैत्वियन सो.स.ग.), लिथुआनिया (पहले लिथुआनियन सो.स.ग.), बेलारूस (पहले बाइलोरूस सो.स.ग.), उक्रेन (पहले युक्रेन सो.स.ग.), मोल्दोवा (पहले मोल्दावियन सो.स.ग.), आर्मेनिया (पहले आर्मेनियन सो.स.ग.), ज़ॉर्ज़िया (पहले ज़ॉर्ज़ियन सो.स.ग.), अज़र बैजान (पहले अज़र बैजान सो.स.ग.) तुर्कमेनिस्तान (पहले तुर्कमेन सो.स.ग.), उज़बेकिस्तान (पहले उज़बेक सो.स.ग.), ताजिकिस्तान (पहले ताजिक सो.स.ग.) तथा किरगिज़स्तान (पहले किरगिज़ सोवियत समाजवादी गणराज्य)।

उन देशों में भी इतने ही महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए हैं

जिनमें पहले कम्युनिस्ट पार्टियों का शासन था। इनमें से कुछ देशों में रूसी नियंत्रण के ख़िलाफ़ आक्रोश था। यह आक्रोश 1950 के दशक से ही सोवियत संघ के नियंत्रण तथा सोवियत समर्थित कम्युनिस्ट पार्टी के शासन के विरुद्ध रहा है। ऐसे भी अवसर आए जब इन देशों में उथल-पुथल को दबाने के लिए सोवियत सेनाओं का उपयोग किया गया। सोवियत संघ में हुए परिवर्तनों का यहाँ सीधा असर हुआ। 1980 के दशक के अंत में इन सारे देशों में बड़े पैमाने पर जनांदोलन उठ खड़े हुए।1989 तक उनके ऊपर से सोवियत नियंत्रण ख़त्म हो गया। इन देशों में कम्युनिस्ट पार्टियों का राजनीतिक सत्ता से एकाधिकार ख़त्म हो गया। स्वतंत्र चुनाव हुए और नई सरकारें गठित हुईं। ध्यान देने की बात यह है कि इनमें से अधिकांश देशों में ये परिवर्तन बिना किसी ख़ूनख़राबे के हुए। कुछ देशों में उन नेताओं पर मुकदमे चलाए गए और उन्हें जेल की सज़ा हुई जिन्होंने अपने पद और अधिकार का निजी लाभ के लिए इस्तेमाल किया था। बहुत-सी कम्युनिस्ट पार्टियों से जो अपने देश में अब शासक पार्टी नहीं रह गई थीं, अपने कुछ भूतपूर्व नेताओं को पार्टी से निकाल दिया, जिनके कारण वहाँ ज्यादतियाँ हुई थीं। रूमानिया में तो कम्युनिस्ट पार्टी के नेता को मृत्युदंड दिया गया जो वहाँ 15 साल से वास्तव में तानाशाह थे। 1991 में वारसा संधि भंग कर दी गई। कम्युनिस्ट शासन वाले देश इसके सदस्य थे। यह एक प्रकार का सैनिक गठजोड़ था और रूस इसका नेता था।

जो परिवर्तन जर्मनी में हुए, वे और दूरगामी थे। दूसरे विश्वयुद्ध के समाप्त होने के कुछ समय बाद ही जर्मनी को दो स्वतंत्र राज्यों में बाँट दिया गया था, इस बात की चर्चा इसी अध्याय में की जा चुकी है। जर्मनी का विभाजन यूरोप में तनाव और शीत युद्ध का मुख्य कारक रहा है। पूर्वी बर्लिन पूर्वी जर्मनी की राजधानी था (इसे जी. डी. आर. या जर्मन जनवादी गणतंत्र भी कहते थे)। पश्चिम बर्लिन पूर्वी जर्मनी के इलाके में स्थित था लेकिन यह पश्चिम जर्मनी का हिस्सा था (इसे जर्मन संघीय गणराज्य या एफ.आर. जी. कहा जाता था)। 1961 में जर्मन जनवादी गणतंत्र के अधिकारियों ने पूर्वी तथा पश्चिमी बर्लिन को अलग करने के लिए एक दीवार बना दी ताकि पूर्वी बर्लिन के लोग पश्चिमी बर्लिन न जा सकें। इस दीवार का बनना यूरोप में तनाव का एक और कारण बन गया। 1989 में जर्मन जनवादी गणतंत्र (जी. डी. आर.) में कम्युनिस्ट शासन की समाप्ति तथा जर्मनी के एकीकरण की प्रक्रिया तब शुरू हुई जब बर्लिन की दीवार को खोल दिया गया तथा कम्युनिस्ट पार्टी के नियंत्रण से बाहर की राजनीतिक पार्टियों को (कम्युनिस्ट पार्टी को सोशलिस्ट यूनिटी पार्टी कहा जाता था) काम करने की इजाज़त दी गई। 1990 के प्रारंभ में चुनाव हुए तथा नई सरकार सत्ता में आई। 3 अक्तूबर, 1990 को जर्मनी का विभाजन समाप्त हो गया तथा पुन: एक संघटित जर्मनी का उदय हुआ।

सोवियत संघ का पतन तथा यूरोप में कम्युनिस्ट शासन का ख़ात्मा शीत युद्ध के अंत के महत्वपूर्ण कारक रहे हैं। इन्हें समाजवाद के पीछे हटने का प्रतीक भी कहा जा सकता है। बहरहाल, कहा जा सकता है कि इन देशों में जिस व्यवस्था की रचना की गई, वह समाजवादी आदर्शों का विकृत संस्करण था और उस आदर्श का जो सारतत्व था, सामाजिक न्याय, वह आज समूची दुनिया में जनता की चेतना का हिस्सा बन चुका है।

भूतपूर्व सोवियत संघ की तरह ही पूर्वी यूरोप तथा मध्य यूरोप में जहाँ परिवर्तन हुए हैं, वे भी समस्याओं से मुक्त नहीं हैं। इन समस्याओं का स्वरूप आर्थिक और राजनीतिक दोनों ही है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद चेकोस्लोवाकिया नए राज्य के रूप में उभरा था। इसका दो स्वतंत्र राज्यों के रूप में विभाजन हो चुका है, पहला राज्य चेक गणराज्य है तथा दूसरा स्लोवाक गणराज्य। एकीकृत जर्मनी में नवनाज़ीवादियों ने आव्रजकों के ख़िलाफ़ हिंसक वारदातें की हैं, इसके कई उदाहरण सामने आए हैं।

हाल के वर्षों में यूगोस्लाविया में जो घटनाएँ हुई हैं, उनका स्वरूप काफ़ी दुखद है। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद जिस यूगोस्लाविया का राज्य के रूप में उदय हुआ, उस पर दूसरे युद्ध के बाद से कम्युनिस्ट पार्टी का शासन था। लगभग आरंभिक समय से ही यूगोस्लाविया की कम्युनिस्ट सरकार ने अपने को सोवियत संघ के प्रभाव से मुक्त रखा। गुटनिरपेक्ष आंदोलन के जन्मदाता देशों में यूगोस्लाविया भी था। छ: गणराज्यों का यह संघ था। यहाँ कम्युनिस्ट पार्टी

का शासन 1990 में ख़त्म हुआ। 1992 तक आते-आते यूगोस्लाविया 5 स्वतंत्र राज्यों में विभाजित हो गया। इसमें से बनने वाले नए राज्यों के नाम इस प्रकार हैं: यूगोस्लाविया का नया राज्य जो सर्बिया तथा मॉनटेनेग्रो को मिलाकर बना है, क्रोशिया, मैकेडोनिया, स्लोवेनिया तथा बोस्निया-हर्ज़ेगोविना। यूगोस्लाविया के टूटने से इसकी समस्याओं का अंत नहीं हुआ। बोस्निया-हर्ज़ेगोविना के निवासी तीन समुदायों के हैं। बोस्निया के सर्ब, बोस्निया के क्रोर और बोस्निया के मुसलमान। तीनों समुदायों में आपस में युद्ध होता रहा है, ख़ासतौर पर सर्बों और मुसलमानों में । इससे वहाँ की जनता को घोर कष्ट झेलना पड़ रहा है।

जबकि यूरोप के एक हिस्से में इस प्रकार की घटनाएँ घट रही हैं, दूसरे पश्चिमी भाग में (इसमें जर्मनी भी शामिल है) यूरोपीय एकता कायम करने का प्रस्ताव है। एक सीमाहीन यूरोप की रचना का विचार भी इसमें शामिल है। इसकी एक मुद्रा होगी, माल-असबाब और लोगों के आने जाने पर कोई प्रतिबंध नहीं होगा और अंत में एक राजनीतिक संघ होगा जिसकी एक संसद होगी। इस दिशा में पहले ही कुछ कदम उठाए जा चुके हैं। बहरहाल, ध्यान रहे कि वर्तमान समय में यूरोपीय एकता की इस अवधारणा में पूर्वी यूरोप तथा कुछ दूसरे देशों को बाहर रखा गया है।

दुनिया के दूसरे हिस्सों में भी महत्वपूर्ण बदलाव हुए हैं। चीन में कम्युनिस्ट शासन की स्थापना के बाद उसके आर्थिक और राजनीतिक जीवन में अनेक उथल-पुथल देखने को मिली। 1975 में माओ ज़ेडांग की मौत के बाद देश की आर्थिक नीतियों में कई परिवर्तन हुए हैं। इनका लक्ष्य अर्थव्यवस्था का आधुनिकीकरण है। इसके लिए विदेशी पूँजी तथा विदेशी कंपनियों को आंमत्रित किया गया है और इनकी भूमिका काफ़ी महत्वपूर्ण है। कई ऐसी बातों को त्याग दिया गया है जिन्हें पहले साम्यवादी अवधारणा का आधार माना जाता था। चीन की विदेश नीति में भी बदलाव आया है। भारत-चीन के आपसी रिश्ते भी सुधरे हैं लेकिन चीन के राजनीतिक जीवन में बहुत कम परिवर्तन हुआ है और आज भी इस पर कम्युनिस्ट पार्टी का एकमात्र नियंत्रण है। कुछ वर्ष पहले जब कुछ छात्रों तथा अन्य लोगों ने लोकतंत्र की माँग की तब उसे दबा दिया गया था।

इसके बावजूद कि हाल के वर्षों में अनेक सकारात्मक परिवर्तन हुए हैं, 1990 के दशक की दुनिया तनावों और टकरावों से मुक्त नहीं हो सकी है। जबकि नाभिकीय हथियार वाले युद्ध का ख़तरा समाप्त हो गया है या कम से कम घट गया है, सामूहिक नरसंहार वाले अस्त्र-शस्त्र का भंडार अभी कम नहीं हुआ है। इनकी मौजूदगी ही मानवजाति के अस्तित्व के लिए ख़तरे का स्रोत है। इसी प्रकार शीत युद्ध के अंत के साथ देखना है कि क्या सचमुच दुनिया शांतियुग की ओर मुड़ी है, उससे बढ़कर यह देखना है और यह महत्वपूर्ण है कि एक दूसरे के बीच सहयोग होता है या नहीं। सोवियत संघ के पराभव के साथ संयुक्त राज्य अमरीका दुनिया की एकमात्र महाशक्ति हो गया है। जहाँ वारसा संधि भंग हो चुकी है संयुक्त राज्य अमरीका की अगुआई वाला नाटो नामक सैनिक गुट अपना अस्तित्व अभी भी कायम रखे हुए है। इस प्रकार आशंकाएँ प्रगट की जा रहीं हैं कि वर्तमान समय ऐसी परिस्थिति को संभव बना सकता है जिसमें संयुक्त राज्य अमरीका अपनी महाशक्ति के आधार पर दूसरों पर अपना आदेश लादे।

1990 के दशक की दुनिया, अपनी पूर्ववर्ती दुनिया से, सारी समस्याओं के बावजूद एकदम भिन्न है। सारी दुनिया में अपने भाग्य के निर्धारण में जनता की भागीदारी पहले की अपेक्षा कहीं ज़्यादा है। इतिहास में पहली बार एक विश्व की रचना की संभावना दिखाई पड़ रही है जिसमें सारा जनगण एक दूसरे से सहयोग करेगा और अपना तथा शेष संपूर्ण मानवता के जीवन को संपन्न बनाने में अपना योगदान करेगा।

अभ्यास

जानकारी के लिए

1. यूरोप के लिए द्वितीय विश्वयुद्ध के क्या तात्कालिक परिणाम हुए ? युद्ध के बाद यूरोप का राजनीतिक मानचित्र युद्ध से पहले की तुलना में कैसे भिन्न था ?
2. शीत युद्ध से क्या तात्पर्य है ? इसे जन्म देने वाले कारक कौन-कौन से थे ?
3. एशियाई देशों में स्वाधीनता-आंदोलनों के विकास की रूपरेखा दीजिए।
4. संयुक्त राज्य अमरीका की विदेश नीति के प्रमुख उद्देश्य क्या थे ? वियतनाम में संयुक्त राज्य अमरीका के सैनिक नीति हस्तक्षेप का क्या कारण था ? इसके क्या परिणाम हुए ?
5. 1974 की पुर्तगाली क्रांति का पुर्तगाल के अफ्रीकी उपनिवेशों पर क्या प्रभाव पड़ा ?
6. अफ्रीका के वे देश कौन-कौन से हैं जहाँ 1985 के बाद भी मुक्ति संघर्ष चल रहा था ?
7. गुटनिरपेक्षता से क्या तात्पर्य है ? अधिकांश नवस्वाधीन देशों ने इस नीति का अनुसरण क्यों किया ?
8. अफ्रीका में स्वाधीनता-आंदोलनों के विकास की रूपरेखा दीजिए।
9. दक्षिण अफ्रीका में 1989 के बाद क्या तब्दीलियाँ हुई हैं ?
10. उन घटनाओं का वर्णन कीजिए जिनके कारण सोवियत संघ का पतन हो गया।
11. 1989 के बाद जर्मनी और पूर्वी यूरोप में हुई मुख्य घटनाओं का वर्णन कीजिए।

करने के लिए

1. यूरोप के मानचित्र पर उन देशों को दर्शाइए जहाँ द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद कम्युनिस्ट सरकारें कायम हुई थीं।
2. 1960 के बाद स्वाधीनता पाने वाले अफ्रीकी देशों के बारे में जानकारी प्राप्त कीजिए। इन देशों को एक मानचित्र पर दर्शाइए।
3. 1992 में जकार्ता में हुए गुटनिरपेक्ष देशों के शिखर सम्मेलन द्वारा जारी घोषणा की एक प्रति प्राप्त करने का प्रयास कीजिए और इसका अध्ययन कीजिए।
4. जिन देशों में गुटनिरपेक्ष आंदोलन के शिखर सम्मेलन हुए हैं उनकी तथा इन सम्मेलनों में शामिल देशों की भी सूचियाँ बनाइए।
5. 1993 के बाद दक्षिण अफ्रीका में हुई घटनाओं के बारे में सूचना एकत्र कीजिए तथा उनकी एक रिपोर्ट बनाइए।
6. यूगोस्लाविया के हालात और 1993 के इस्राइल और पी.एल.ओ के बीच हुए समझौते को लागू करने के लिए क्या-क्या कदम उठाए गए ? इस पर सूचनाएँ एकत्र कीजिए।

विचार और वाद-विवाद के लिए

1. द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद साम्राज्यवाद को कमजोर करने वाले कारणों की चर्चा कीजिए।
2. क्या शीत युद्ध ख़त्म हो गया है ? इस पर अपने विचार व्यक्त कीजिए।
3. एशिया के कुछ देश सैनिक गुटों में शामिल थे। आपकी राय में क्या इससे उनकी स्वाधीनता को मज़बूती मिली थी ? क्यों ? या क्यों नहीं ? उदाहरणों सहित अपने विचारों के समर्थन में तर्क दीजिए।

4. स्वतंत्र राष्ट्रों के रूप में एशियाई और अफ़्रीकी देशों के उदय से विश्व पर पड़ने वाले प्रभावों की चर्चा कीजिए।
5. क्या कारण है कि सोवियत संघ तथा यूरोप के अन्य देशों में कम्युनिस्ट सरकारों का पतन हुआ? क्या आप मानते हैं कि इनके पतन का अर्थ है कि अब सामाजवाद का विचार अप्रासंगिक हो गया ? अपने विचार प्रकट कीजिए।
6. क्या आप समझते हैं कि शीतयुद्ध के बाद की दुनिया रहने के लिए अधिक सुरक्षित जगह है और इस बात का ख़तरा नहीं है कि एक देश दूसरे पर प्रभुत्व कायम करेगा ? विचार कीजिए।

2) as an Entrance examination to the University since the Director of Public Instruction, Sir Alexander Grant, ordered by his letter No.1161 of 11th November 1865 that no unmatriculated student should be admitted to a College under any circumstances;

3) as a dividing line between school education and Collegiate education.

It was also decided to prescribe a minimum standard for admission to the English schools and thereby to connect them with the vernacular schools. The Director of Public Instruction, Sir A. Grant, by the circular letter No.802 of 16th September 1865 addressed to the Headmasters of all High schools ordered: "A. The standard for entrance into High schools is henceforth as follows:-

Ist Head - Arithmetic.

Reduction and four compound Rules.

2nd Head - English.

a) Reading and explaining 3rd book.
b) Writing Half-text.
c) Grammar, parts of speech,
d) Written translation into English of simple Vernacular sentences.

3rd Head - Vernacular.

a) Reading 4th Book, with explanations.
b) Writing.
c) Grammar, Declensions and conjugations. No boy is to be admitted into a High school under any circumstances without passing the above standard.

(Note: The Educational Inspector will at his next annual visit, remove from your lists all boys at present in your schools who do not come up to this standard."1

The next Director of Public Instruction, Mr. Peile, made it a rule that no student who had not passed Vernacular standard IV should be admitted to an English school. It is from 1870-71, the English school(Secondary school)course became defined both at the lower and the upper ends. The Secondary school course commenced after Vernacular standard IV and ended up with the Matriculation examination. In 1870-71, Mr. Peile wrote:

"52. The English Middle class course ends with Anglo-Vernacular Standard V. It is in some degree a counterpart of the Vernacular course, the student being practised in writing private and official letters and making abstracts of stories told or read in English. In History, to the History of India and Elementary Universal History is added an Outline of the History of England. The course of History is to be reviewed and completed in the last year of this course. I have not found it possible, with our present means, to separate the Middle class course entirely from the Matriculation course in High schools, butless time will be given to classics and more to Vernacular in the former than in the latter. Anglo-vernacular standard V is now the standard fixed by Government for the a first class certificate of qualification of the lower grades of the public service."

1 [illegible] 1869-70 pp. [illegible]

53. The High school course(preparatory to Matriculation) is comprised in Anglo-Vernacular standards IV - VII, the previous standards(I, II, III) having been completed in an Ancillary school or feeder." The subjects of this course are regulated by the subjects prescribed for Matriculation. They have been re-arranged and distributed evenly in yearly sections. Translations from and into English, Sanskrit, Latin, and the Vernacular, are insisted on throughout the course.

54. Government thus offers the elementary Branch school for the day-labourer; the Central village school for the villager of higher station or aims; the Middle class English school for the residents in the large or small country-town; and the preparatory school and High school for the student intended for College.

55. The complete course from the elements to Matriculation may extend over 11 years, from 8 to 18. Of these, four years may be spent in the Vernacular school(Vernacular standards I - IV) three years in the Ancillary English school or High school feeder (Anglo-Vernacular standards I-III) and four years in the High school(Anglo-Vernacular standards IV-VII)..."1

The diagrammatic representation is given below;

```
                                    Public Service     Matriculation
                                 examina tion(I Class)      VII
                                                            VI
                                          V                 V
                                          IV                IV
Public Service                   ------------------------------------
Examinations(Class II)III                 III              High Schools
VI                    II                  II
V                     I                   I
------------------------------------------------
IV           Anglo-vernacular  Anglo-vernacular
III          of the II Grade    scools (I Grade)
II                 or
I            High school Feeders.
Vernacular
schools.
```

EXAMINATIONS:

In the early years of the new educational system, examinations of the vernacular schools used to be conducted by the teachers themselves. The Board of Education introduced a system of "Public Examination" under which every school held 'Public function' to which both officials and members of the public were invited. The main object of this'public function' was not so much to test the attainment of the individual pupils as to carry on propaganda for the new system of education.

In 1865-66, revised rules of the grant-in-aid were framed. In these rules, there was provision to pay grants on the basis of the examination results. The system is known as "payment-by-results." Under this system, the Inspecting officers [illegible] each pupil of the aided [illegible]

[illegible]

aided schools in each subject in order to assess the amount of the grant-in-aid.

The annual examinations of all vernacular schools whether Government or Local Authority were also conducted by the inspecting officers in order to adopt a common inspecting method for all schools. A Public Service Examination (II class) was instituted at the end of the vernacular course and a pass in it entitled a student to obtain a clerkship in a vernacular office.

The Bombay Native Education Society introduced scholarships in its English schools in 1828-29. To decide the scholarships, they held examinations. The Board of Education made examinations a permanent and important part of the educational system. Each English school had two examinations every year. The first was a school examination; and it was followed by a "Public Examination" held at a "public function" which was attended by very high - dignitaries, not excluding the Governor himself. Its object was to introduce the new type of education to the people and to popularise it.

In 1857-58, the Director of Public Instruction, Mr. Howard introduced an annual examination of all English schools to be conducted by means of printed question papers issued from the office of the Director. In 1865-66, the system of grant-in-aid known as "payment-by-results" was introduced and under this system, the Inspecting officer was required to examine every student of an aided school in every subject. The system of examination by the Inspecting officer was applied to Government or Local Authority schools also. From 1859, the Matriculation examination which marked the end - standard of the High School course was conducted by the Bombay University.

From 1866-67, a Public Service Examination was conducted for award of Public Service Certificate (First class) at the end of the Middle school course(i.e. Anglo-Vernacular standards I-V). Those who passed the examination were held eligible for recruitment as clerks in English offices.

SECONDARY EDUCATION:

At the time when the Department of Public Instruction was established, there were in the Karnatak region only two English schools, namely, the English school, Dharwar and the Sardars' High school, Belgaum maintained by the several Jahagirdars of the Deccan under the care of the political Agency.

THE DHARWAR ENGLISH SCHOOL: The English school at Dharwar which was established in 1848 depended for its progress and development on the local initiative shown by the people of Dharwar since a major share of its expenses had to be met from local subscriptions [illegible] in arrears [illegible] in irregular [illegible]

will show how unsatisfactorily the school was functioning for most of the period from 1848 to 1857.

"THE English school at Dharwar, I regret to say, is in a very bad state. The result of the examination lately held is so bad, and other circumstances connected with the school so unsatisfactory, that it is found necessary lately to close it. It will I trust, be reopened at some future time. That time will depend on the people, whose irregularity in the payment of their promised subscription has been one of the principal causes of the unsatisfactory state of the school. The master has, I am informed, proved a failure, but he has been working under great discouragement. No man will work contentedly or cheerfully without wages; and, if originally not qualified for his place, he certainly has had no inducements from the people to try to improve himself. I have informed them that when the arrears now due by them shall have been paid, I will send them another and a more efficient master, on their guaranteeing him his salary for at least three years." 1

The school was closed in September 1857 but it was reopened on Ist January 1959 under favourable auspices. The number of boys on the register during 1858-59 was 86. A teacher was appointed to assist the Headmaster as the number of students was unmanageable for one master.

In 1860-61, Captain Lester, Educational Inspector, Southern Division, reported:

"12. The Dharwar English school.....has not yet reached a very forward position amongst the other schools in this Presidency. ....Mr. Baker had succeeded by the close of the last official year, "in raising seven hundred rupees towards the endowment of this school, by subscriptions made in the Dharwar and Belgaum Collectorates." He adds, "since then, these subscriptions have increased to three thousand, five hundred, and eightyeight rupees and nine annas; out of which Government Promissory Notes on three thousand in the 5 per cent loan have been purchased. There still remains fifty rupees to be collected." 2

The permanent endowment plan of the school was intended to liberate the subscribers from being harassed by periodical calls on their purses. In his Report for 1862-63 Captain Lester reported: "11. In my last year's report (paragraph 10), I spoke of a plan for the endowment of the English school at Dharwar. An aggregate sum of Rupees five thousand has been finally invested in the Government 5 per cent loan, and from the Ist of July next a superior staff of teachers will be organised in this school." 3

1. [illegible] ; Appendix [illegible], page 501.
2. [illegible]
3. [illegible]

Captain Waddington, Inspector, Southern Division reported:

"33. The Anglo-vernacular school at Dharwar.....has made no decided progress, though I consider it to be in a fairly efficient state. The pupils consist mainly of the sons and relations of Government employees in the town of Dharwar, and the complaint is made here as elsewhere that boys are tempted by small salaries in public offices to leave schools too early....."* 1

The establishment of Bombay University and the Matriculation Examination.

The Despatch of 1854 directed that Universities should be established at Bombay and Calcutta. Accordingly, the bill for the Corporation of the Bombay University was passed through the Legislature by Act XXII of 1857. The first Syndicate of the University consisted of the following members;

Chairman: Vice-Chancellor, Ex-officio.

E.I. Howard, Esqr. Dr. R. Haines, Capt. W.F. Marriott,	in Arts
W.E. Frere, Esq. A.J. Lewis, Esq.	in Law
Dr. C. Morchead,	in Medicine.
Captain H. Rivers,	in Civil Engineering.

The Senate also appointed R.S. Sinclair, Esq. LL.D. professor of Mathematics and Natural Philosophy in the Elphinstone College as the Registrar.

As the Bombay University was the only University for the entire Bombay Province till 1949, the Karnatak region has benefitted by this University till 1950, the year in which the Karnatak University was established. The development of University education in the Karnatak region is intimately connected with the policies and programmes of the Bombay University.

The first Matriculation examination was held in October 1859. 21 candidates out of 126 passed the examination. A second examination was held in March 1860. 14 candidates passed out of 42 that appeared. The Karnatak region had no candidate to offer for the Matriculation examination as there was not a single institution of superior education either Government or private established in this region. The Director of Public Instruction, wrote:

"51. Want of High schools:- The time has now arrived when the want of High schools is severely felt. Notwithstanding the earnest representations, which I have so often made to Government, there are now positively fewer European teachers in the Department than there were four years ago, when English education was found to be deplorably low. ...And I do not hesitate to say that we have not (for we cannot afford to pay) [illegible]

a class, far better scholars than their seniors; but sometime must elapse before they can be made headmasters, and the best of them will certainly look to a much more lucrative occupation than that of teaching."1

The Secretary of State for India sanctioned four European High school masters, one of whom was to be the Principal of the Elphinstone Insitution, Bombay, on a salary of Rs.450/- and three to be placed respectively at Poona, Ratnagiri, and Belgaum, on salaries of Rs.350/- each.

Mr. F.P. Baker, the Deputy Educational Inspector of the Dharwar Sub-division of the Southern Division from June 1855 was appointed as the Headmaster of Sardars' High school, Belgaum and he was relieved of his charge of Deputy Inspectorship on Ist November 1861. He proceeded on six months' leave to England and assumed charge of the Headmastership of Sardars' High school, Belgaum on Ist May 1862.

Sardars' School, Belgaum. The school was brought under the Education Department in 1857-58 in order to make it a nucleus for all the instructional institutions of the Southern Maratha country. It remained under the dual control of the Educational Department and of the Political Agent for some time. This arrangement was not very happy. With a view ~~of~~ to build it up as a full fledged High school, it was placed under the charge of a European Headmaster as stated above. The Director of Public Instruction in his Report for 1863-64, observed:

"37. Belgaum High school. . This school is still in a backward state and as long as it is under the divided control of the political and Educational authorities, will not, I fear, thrive as it should. A European Headmaster has been appointed, and a special teacher for the Canarese language was added in February. The study of Canarese has been much neglected in the South, even by those whose vernacular it is.

38. In illustration of this fact it may be mentioned that, at the annual examination of the Belgaum school, not a single student even attempted a translation from English into Canarese, and this though 60 of the students on the register are Canarese by birth......"2

Mr. F.P. Baker, the Headmaster of the school retired from the service on pension in April 1864 and Mr. F.W.Wilson assumed charge on Ist June 1864. The appointment of the Canarese teacher was made and the newly sanctioned post of the third assistant was also filled up.

"45. The state of the school is very unsatisfactory, nor do I believe that anything can be done to improve it till some steps are taken to exclude the worthless, ignorant boys who constitute [illegible]

1. [illegible] 1859-60, para 91, pages 41-42 [illegible]

the majority of the Sardars' free nominees. To accomplishe this, I have proposed to the Political Agent, Kolhapur, that the free boys who are not qualified for admission into the lowest class on the Anglo-vernacular side of the school should be sent to the Marathi or Inferior Anglo-vernacular school at Belgaum, where they will be worked up to the required standard. The Political Agent has expressed his entire concurrence, and all that now remains is to secure the adhesion of the Chiefs, which I have no doubt he will be able to do...."1

It is a matter of gratification to note that the Sardars' High school figured on the list of High schools from which candidates passed the Matriculation examination held by the Bombay University since 1859. One candidate from the Sardars' High school passed the Matriculation examination in 1864. This bore evidence to the fact that the school was steadily reaching the standards expected of a High school. From 1864 onwards, the school presented candidates for the Matriculation Examination of the Bombay University regularly, some of whom succedded every year.

The other English school at Dharwar which was reorganised and placed on a permanent footing by the creation of the school endowment referred to above was also steadily making progress. Three candidates from that school passed the Matriculation examination in 1872-73, i.e. eight years after the Sardars' High school had been on the map of High schools presenting successful candidates at the Matriculation examination. However, Dharwar English school was the second High school in the Karnatak region to serve a full-fledged course of secondary education to the people of this region. It will be seen that the two English schools which were in existence earlier than the formation of the Department took a considerable time to mature into full fledged High schools. Being the first two English schools of this region on whose progress and development the fulfilment of the hopes and asperations of the people so much depended, the story of their chequered growth is given in fair detail.

Other I class and II class Anglo-vernaculary schools: In January 1864, two I class Anglo-vernaculer schools were sanctioned for Honawar and Karwar of which the one at Honawar was only opened in 1863-64.

9 Vernacular schools located at Dharwar, Hubli, Betgeri, Gokak, Bagalkot, Athani, Savadatti, Belgaum and Bijapur were raised to the rank of 2nd class Anglo-vernacular schools. In these schools English was taught only upto the 3rd book. Mr. Russell reported in 1865-66: "The Honawar English school is falling off, on account of the transference of the judge's and other officers to Karwar. The [illegible] and Dharwar English schools' [illegible]

work, but are not what zilla schools ought to be.(The Karwar school is comparatively new, and has suffered a little perhaps from change of masters."1

In 1866-67, an Anglo-vernacular school was opened at Kaladgi supported by a fee of Rs.2/- per boy. No Government grant for it was available.

Education of Girls.

The Board of Education did not take any steps to establish Government schools for girls. They, however, aided some of the private schools from the Duxina fund. Except the few Missionary schools for girls in Belgaum, there were no separate schools for girls in the Karnatak region. The Government of Bombay introduced in 1957-58 the scheme of awarding rewards to Vernacular school masters who succeed in getting up girls' classes attached to their schools. This scheme was launched to encourage teachers to cause girls in the locality to attend their schools. This was an indirect method of getting girls into Government schools. There would be no public agitation since the girls whom the teachers would admit to their schools would be only those who have been sent to the school willingly by their parents due to the persuasion of the teacher. Except for this indirect measure to cause girls to attend Government schools, no active measure was taken by Government in the area of girls' education.

In his report for 1857-58, the Director of Public Instruction wrote:

"Government, aware of the delicacy of the subject, have not yet taken active measures to promote female education, and the efforts that have been made are entirely attributed to the voluntary exertions of enlightened individuals chiefly natives....... In these schools alone, there are educated upwards of 1200 children, entirely independent of Government control......

It follows from what I have said, that the natives of Western India do not, as a class, object to their daughters being taught by men little girls, as our school returns show, frequently accompany their brothers to the Government vernacular schools. Whatever jealousy of female education may be observed to exist in this Presidency, and no doubt there is some, is referable to chiefly religious feeling, and not to that personal susceptibility on the subject of female honour which we are accustomed to consider characteristic of Mahomedans. In fact it is usual to see girls attending Mussalman indigenous schools, all of which are taught by men......... In the present state of education, the teachers in female schools must always be men, but the pupils leave school so very young that the practice is not open to so much [illegible]

[illegible]

In the same Report, Captain Lester, writes:
"67. I visited two private girls' schools at Belgaum; one of these is under the care and management of the Rev. Mr. and Mrs. Churchill, by whom, I believe, it was established. It is supported mainly by local subscriptions of the European residents.....
68. The other school was established by Mr. Raghoba Janardhan, the Deputy Collector of Belgaum, who evinces much interest in the cause of native education and improvement. The girls, of whom, there are 13(5 Brahmins and 8 Marathas) are admitted free. The school is supported by local subscriptions...."1
"49. The girls' school at Belgaum is quite an elementary one. It is entrusted by its managers to the care of a very old man, who succeeds however in teaching the children to read and write.
50. The girls' school at Dharwar, after languishing for some time for want of local native energy, has ceased to exist."2

In 1865-66, the Director of Public Instruction, wrote:
"55. ......Female education, which is of course closely connected with different phases of social and religious feeling, is better received among some castes of the people than others, and as yet it shows more signs of flourishing among the Parsees of Bombay and the Banias of Guzerat than among the more literary Brahman communities of the Deccan or Concan. Looking at the question broadly, I am afraid it must be asserted that the public education(properly so called) of women is incompatiable with the system of infant marriages, and with many existing prejudices of the people on the most delicate subjects. I think the education and civilization of the male portion of the people in India, together with the example of the European community, will inevitably bring in the education of the women of India, but that this result will be very gradual, and will be subsequent to many important social changes. In the meanwhile I am humbly of opinion that private and missionary exertion may do much to help on the cause, but that Government is precluded from taking any prominent steps to accelerate the movement." 3

When the proceeds of the local fund cess became available, the Department thought of starting some schools for girls. The Director of Public Instruction wrote in 1866-67:
"The impression which I have received generally in travelling has been that all through the Marathi, Gujarati and Canarese countries...... it will be perfectly possible to introduce, with the full consent of the people, Primary Female schools, to be attended by girls up to ten or eleven years of age. For this purpose, I applied some months ago to Government for an

1. Report of the D.P.I. for 1857-58, Appendix K, PP.439-440.
2. -do- 1860-61, Appendix G page 64.
3. -do- 1865-66, page [illegible]

an annual grant of Rs.30,000 to be expended in various ways according to the differences of local circumstances, but always with the view of establishing in every town and large village, a primary Female school...... In proposing the establishment of only Primary schools for girls up to ten or eleven years of age, I have confined myself to what I know to be feasible in present circumstances. Gradually, as social ideas are modified in this country, something more than primary instructions for women will become possible." 1

Miss. Carpenter's visit to India in 1866-67. Miss Mary Carpenter, the well-known English social worker in the field of juvenile delinquency and prison reforms visited India as a State Guest. She pleaded for the cause of the education of women direct with the highest authorities and it was mainly owing to her suggestion that the Government of Bombay decided to establish two training Colleges for women in Poona (1870) and Ahmedabad(1871).

By the Resolution No.1040 dated 7th December 1867 of the Government of India, the sum of Rs.10,000 per annum was granted as an annual Imperial assignment for Female education in the Bombay Presidency.

In 1866-67, 5 girls' schools with 213 pupils were started in Dharwar district, 5 in Kaladgi district with 134 pupils and 2 in North Kanara with 45 pupils; Total 12 schools and 392 pupils.

In 1867-68, 5 girls' school in Belgaum, 1 in Dharwar, 3 in Kaladgi and 2 in North Kanara were newly started. The total number of girls' schools in the Southern Division(i.e. Karnatak region) was 23 and pupils 774.

In 1871-72, Mr. R.E. Candy, Acting Educational Inspector, Southern Division wrote: "Female Education - girls' schools have been going on steadily during the year. In Belgaum, there is a school for Mohomedan girls, well attended. This is unique in the Southern Division.......The same obstacles to progress remain as of old - Ist - want of female teachers; 2nd - Irregularity of attendance; 3rd - The girls are taken from schools by their parents just at the age when their faculties are wakening.

A Female Normal school should be opened at Dharwar or Hubli so soon as funds permit. Several young women in the Dharwar and Kaladgi zillas wish to become teachers, and are ready to enter a normal school." 2.

Education of Low-Castes and Wild-Tribes

The policy of the Board of Education was to confine education to "natives of good caste and the superior classes." They did not establish schools for the low castes. When the Department of Public Instruction was established, theordinary schools run by Government had to be open to all castes and communities. There were, however, some practical difficulties. The policy of Government was put to a crucial test when a Mhar boy was

[illegible]

was refused admission to the Government school at Dharwar even though he was willing to pay the fees. The Director of Public Instruction in his Report for 1856-57 wrote on this subject:-

" 177. Schools for Low Caste and Wild Tribes. There are no low-caste schools established directly by Government, and the supreme Government has expressed a disapproval of such schools. The ordinary schools entirely supported by the State are in theory open indifferently to all castes. In the course of observations on my Report for 1855-56, the Government issued the following order:-

"The only case as yet brought before Government, in which the question as to the admission of pupils of the lowest caste into Government schools has been raised, was that of a Mhar boy, on whose behalf a petition was submitted to Government in June 1856, complaining that, though willing to pay the usual schooling fee, he had been denied admission to the Dharwar Government school.

"On this occasion Government felt the great practical difficulty which attended the adjudication of a question in which their own convictions of abstract right would be in antagonism to the general feeling of the mass of natives for whose enlightenment, to the greatest possible extent, the Government Educational Department has been established; and it was decided, though, as will appear from the Resolution passed at the time, with some hesitation, that it would not be right for the sake of a single individual, the only Mhar who had ever yet come forward to beg for admission into a school attended only by pupils of caste, to force him into association with them, at the probable risk of making the institution practically useless to the great mass of natives.

"The proceedings of this Government in this matter were noticed in the following terms by the Government of India, in a letter No.111, dated 23rd January 1857:-

"It appears that a boy of the Mhar caste applied for admission to the Government school at Dharwar, and was rejected on the ground of caste, and on that alone. Having appealed in vain to the authorities in the Education Department, he petitioned the Government. The Government referred his petition to the Director for report; and Mr. Erskine, though admitting that the petitioner had reason and justice on his side, begged that the practical question might not be pushed to a decision immediately, being apprehensive that the admission of low-caste boys to the Government schools might do more harm than good. The Government acquiesced in the Director's views, and informed the petitioner that they could not at present interfere in his behalf.

[illegible] in Council [illegible]

[illegible]

matter; but he desires me to say that the boy would not have been refused admission to any Government school in the Presidency of Bengal."

"On receipt of this letter it was resolved that the Government of India should be assured that this Government would be most unwilling to neglect any means of rendering the schools throughout the country less exclusive than that practically are in the matter of caste, provided this could be effected without bringing the Government schools into general disrepute and thus destroying their efficiency, and defeating the object for which they were intended. It was also determined that inquiries should be made as to the practical working of the principle which was said to prevail in Bengal, as affecting the general usefulness of Government schools, and in what proportion boys of the lower classes were found to take advantage of the means of education afforded by them.

"The letter in which these inquiries were made (No.599, dated 12th March 1857) has not yet been answered, and, until it is so, Government will refrain from ordering the adoption of any course which, however reasonable and just in itself, might, if introduced before all classes were convinced of its justice, defeat the object of the Educational Department in this country, which, is to obtain the greatest possible amount of instruction and enlightenment for the greatest possible number of its inhabitants. It may be sufficient to add to these remarks the intimation that, although the Governor in Council does not contemplate the introduction of low-caste pupils into schools, the expenses of which are shared with Government by local contributors and patrons who object to such a measure, he reserves to himself the full right of refusing the support of Government to any partially endowed school, in which the benefits of education are withheld from any class of persons on account of caste or race; and further, resolves that all schools maintained at the sole cost of Government shall be open to all classes of its subjects without distinction. This resolution is hereafter to be strictly observed."

178. I am unable yet to offer any observations on the practical working of this order. The lower caste are so sensible of their degraded social position that for some time they will probably make no marked advance to the invitation held out to them. The policy of the Board of Education was to confine education to "natives of good caste and the superior classes;" and, if they discouraged or prohibited Europeans and half-castes from entering Government schools, still less were they likely to wish for the presence of pupils supposed to be of [illegible]

district committees of Instruction to grant or refuse admittance to candidates of inferior caste, with reference to the state of local native feeling in each case.

179. Some reserve is, perhaps, advisable in considering this delicate subject; but I may be permitted to point out that in practice the question arises in two very different forms. Low-caste boys, as a general rule, are dirty and offensive in their persons. It would evidently not be fair to other children to compel them to receive such a fellow pupil by their side. It would be like intruding a chimney-sweep or crossing-sweeper upon a class of clean well-dressed boys in an English national school. The effect would be to drive away those who are most able to profit by education for the benefit of those who are least able.

180. On the other hand, where a low-caste boy is clean and well-mannered (such as presumably was the one who was refused admittance to the vernacular school at Dharwar, in July 1856), all one's sympathies are with the victim of what reason tells us is a groundless prejudice; and it would certainly seem just, and, if just, in the end expedient, that those who obstinately nourish such a prejudice should be made to pay for its gratification, as for any other luxury. The machinery of the grant-in-aid system is exactly applicable to such cases. All who wish to have exclusive schools, from whatever motives, can at once command the aid of the State towards their support. But the time is past for ever when they could expect the Government to found and wholly maintain a set of public schools, from which pupils, in other respects suitable, should be excluded simply on account of their race.

181. I trust that the practical solution of this problem may be effected without exciting such irritation, or inflicting any permanent injury on education. It is much to be desired that influential and intelligent native gentlemen, who actually feel and justly resent any assumption of superiority grounded on pride of race, when exhibited by unmannerly Europeans, would exert themselves to disseminate the same sound views among their countrymen with reference to the so called lower castes. But, meanwhile, it seems only just to exercise great forbearance towards the less educated persons and communities with whom we come in contact in the administration of Mofussil schools.

182. In the several Missionary schools, low-caste boys are admitted under various arrangements; and there are three flourishing subscription schools for low caste (Mhrs and Mangs) at Poona; aided by a grant from the Duxina fund. Such schools correspond to our Ragged schools in England; and, regarding them in that character, I can see no objection to their existence. It does not in any way compromise the just and equal [illegible] for the regulation of the ordinary.

ordinary schools for all classes." 1

The Bombay Government did not observe a firm policy in the matter of admissions of 'Low-Caste' children to Government schools The question was to be locally decided on the test of expediency. But the case of the Mhar boy from Dharwar was noted by the Court of Directors and they passed the following orders on the subject in their Despatch No.58 dated 28th April 1958:-

"The educational institutions of Government are intended by us to be open to all classes, and we cannot depart from a principle which is essentially sound, and the maintenance of which is of the first importance. It is not impossible that, in some cases, the enforcement of the principle may be followed by a withdrawal of a portion of the scholars; but it is sufficient to remark that those persons who object to its practical enforcement will be at liberty to withhold their contributions and apply their funds to the formation of schools on a different basis." 2

The principle thus laid down was repeatedly reaffirmed by the Bombay Government but there were occasionally cases of opposition to Government orders from time to time. Instances are not wanting where separate schools were established for the education of the "low castes". The Educational Inspector, Southern Division reported:-

> "49. At Sirsi, in the Kanara District, there is a small school for Chambhar boys - boys whose caste is considered so low by other Hindus that it is a matter of great difficulty for them to obtain admission into schools that are not specially maintained specially for their benefit. You will probably remember the objections that were raised against a boy of thoroughly respectable parentage, but of the Mochi caste, into the Ist grade Anglo-Vernacular school at Kaladgi. This Chambhar school at Sirsi is at present the only one of its kind in the Division. It promises to be a success, and, in order to ensure its being so, I have ordered that no fee should be levied from the boys attending it, who are the poorest of the poor." 3

p.T.O.

Education

1. Report of the D.P.I. for 1856-57, pages 88-95.
2. Report of the Indian Education Commission 1882- para 589, page 515.
3. Report of the D.P.I. 1872-73; Appendix, A-4, page 189.

EDUCATION OF MUSLIMS.

The Muslims did not take to modern education as earnestly as Parsis, Hindus and Jains on the plea that Quran was not taught in those schools. Gradually, they also got over the prejudice against the Departmental schools. The Muslims in the rural areas usually talked the Vernacular language of the place but those in towns and Cities were talking Hindustani (Urdu). So, special Vernacular schools had to be opened at suitable places to teach through the medium of Hindusthani (Urdu). As in the case of the other Vernacular schools, they were started at only those places where they were feasible and there was a demand for such a school. The children in rural areas generally attended Kannad or Marathi schools of the place. By 1882, Muslim education had made some headway as can be seen from the following of the Report of the Director of Public Instructionfor 1881-82:-

> "In the Southern Division the number of Mussalman children at school has risen from 5,465 to 7,110 - Mr. Russell reports; "The Hindustani schools at Bankapur (Dharwar) and Haliyal (Kanara) are the best of their kind in the Southern Division, and teach all the vernacular standards. The Haliyal school sent up some boys this year to the Dharwar Training College. A class for training teachers for Hindustani school was attached to the Training College, Dharwar with a provision to admit 10 to 15. This school was not examined by the new Deputy Inspector for Hindustani schools, who speaks highly of the Hindustani school at Bankapur. The Hindustani schools at Belgaum, Dharwar, Kittur, Bhatkal and Sunkeri are reported to be in a fair condition. Most Hindustani schools are yet under untrained masters. A good many Mussalman boys learn Kanarese in vernacular schools. In some Hindustani schools also Kanarese is ordered to be taught to enable the boys to pass in the Public Service certificate examinations. The Headmasters know Kanarese." Mr. Russell adds that in the Dharwar district there are now 47 Mussalman teachers, and that some of these men are Headmasters of purely Kanarese schools filled with Hindu pupils of all castes." 1

1. Report of the D.P.I. for 1881-82, page [illegible]

Industrial and Agricultrual Education.

Dharwar school of Industry: This Industrial school was opened at Dharwar in June 1873 by Mr. Robertson, Collector of Dharwar. The school was intended for the instruction of boys willing to serve as apprentices in the factory. Boys were brought together from the different talukas of the Collectorate. Out of factory hours, they attended a Vernacular school. The aim of the school was to turn out skilled workmen. Government made a grant of Rs.2400 in 1873-74. The Director of Public Instruction reported on the school - "The Collector states that this school, which was opened in June 1873, has so far proved a decided success.... At the end of March 1875, the number of boys had increased considerably, the books showing a total of 57 ......Rules prescribing a definite course of study* have been drawn up by the Collector and the first examination of the boys was held in August....

The school establishment consists of a school master, an assistant schoolmaster and a maistry. The Superintendent has given instruction in mechanical drawing." 1

* The syllabus is printed as Appendix C to the Director of Public Instructions Report for 1874-75(pages 147-152). There were five classes of examinations at the school of Industry. The standard prescribed for the fifth and final test was as follows:

"That he passes the 5th standard vernacular Educational Examination.

That he be able to perform satisfactorily any carpenter's work given to him. This work to be of a more difficult description than that prescribed for the fourth standard, and to be turned out in a superior style. That he make a carriage wheel. In turning, he be able to turn perfectly all hand-turning including screw-cutting with a comb, and interior work using a chuck. To use in every way the slide rest; and in metal he be able to turn screws, setting the machine himself. In metal, that he forge in a satisfactory and workmanlike manner. That he be able to solder either hard or soft, and to show proficiency as a caster and fitter: that he make the patterns for, forge, and fit up a small working of the same."

The syllabus for the 4th standard was:-

"That he passes the 4th standard vernacular Educational Examination.

That he be able to make a model of roofing of a house upon dimension of house being given......"

It will be obvious that the school of Industry had a [illegible] emphasised the practical aspect [illegible]

[illegible]

aspect of training. At the end of the first standard, the students were paid monthly Rs.2, Rs.3, Rs.4 in the second, third and fourth standards respectively. In the fifth standard, the student was paid monthly Rs.4/- and if he passed the fifth standard he would be given a certificate as a qualified artisan, specifying qualifications.

It is seen from the Reportse of the Director of Public Instruction that the school was progressing quite satisfactorily. However, in 1879-80, he reported:

"29. The Inspectors' returns show 38 apprentices, or 2 more than last year; but the last report which I have receivedfrom the managers is that for the year 1878-79, when the school suffered a complete collapse owing to the absence of the Superintendent on leave and to the difficulty of getting a competent man to carry on the work in his absence. The only permanent safeguard against a recurrence of this failure appears to be the conversion of the Factory into a Public Works Establishment worked by a subordinate of the Public Works Department under the supervision of the Executive Engineer." [1]

This proposal of the Director of Public Instruction was not accepted and the school continued to function satisfactorily.

Agricultural classes in High schools.

Sir Richard Temple, the Governor of Bombay in his Minute --dated 29th October 1879 proposed the establishment of a College of Agriculture at Poona and the opening of agricultural classes attached to High schools. Some extracts of the Minute are given below:

"1. The need of agricultural science in this country, the backwardness of the people in the superior methods of culture, the slow deterioration of the soil in many places from exhaustive processes, the want of restorative means and appliances, the probability that by improved husbandry the yeild of the soil could be augmented - are consideration so manifestly important that no apology is needed, when I ask my Honourable Colleagues to join me in pressing them upon the attention of all concerned........

3. ....As already proposed in my Minute of 8th September, the Civil Engineering College at Poona (which is fast developing into a College of Science)can make scientific agriculture as one of its branches....... Only the matriculated students will be admitted to the agricultural class. This class, then, will be strictly a College class, and its under-graduates will be qualifying themselves for the degrees which, we hope, the Bombay University will confer in scientific agriculture....

5. In connection with the College at Poona, I propose that my Honourable Colleagues shall concur to establish Agricultural classes in some of the High schools in the several

1. [illegible] para 29. page [illegible].

several districts of the Presidency. This method will be comparatively cheap and easy; can be almost immediately carried out and can be adapted to a very small member of students at the outset; whereas the setting up of separate agricultural schools would be costly and difficult, would be beyond our means at present and would be unsuitable if at the outset only a few students were to come forward. At a High school the students are taught English and the vernacular and also the ordinary kind of elementary knowledge. Those among them who might be willing to attend an agricultural class could do so. Mr. Robertson[1] thinks that one hour a day for indoor agricultural instruction and one hour extra out of doors every other day would suffice. To that extent the students would have to be excused some of the ordinary subject of study, the English and Vernacular studies only being obligatory. After a two years' course they might, in the opinion of Mr. Robertson and Dr. Cooke, receive "school certificates" of proficiency in agriculture on passing a moderate examination, which would be conducted by the Poona College. Such a certificate would per se be of use to a young man even if he went no further, but more particularly it would admit him to the agricultural class of the Poona College.

10. I revert to the organisation of the agricultural classes in the High schools. It would be very desirable to open at least six such classes at various places:...." [2]

Accordingly, agricultural classes were attached to the College of Science, Poona in 1879. In the same year, agricultural, classes were attached to the high schools at Dhulia, Nasik, Ahmednagar, Broach, Nadiad, Surat, <u>Belgaum</u> and Karachi. Regarding the Belgaum class, the Director of Public Instruction wrote:-

> "(8). The Belgaum class will be supported by a monthly contribution of Rs.20 from the Municipality and by private subscriptions amounting to Rs.23 per mensem. The annual expenditure entered in the budget will be Rs.1840; but allowing for the Rs.516 from Municipal and private subscriptions, the cost to Government will be met by a subscription which the Commissioner puts at about Rs.800." [3]

The Director of Public Instruction was, however, very sceptical about the success of these classes attached to High schools. He wrote: "Whether the pupils, who in many cases think the fieldwork beneath them, will every learn anything of agriculture, or whether if they do learn anything they will care to put their knowledge to practical use, time alone can show; and meantime I have proposed to the local committee's that Kunbi boys should be brought in as apprentices to the school teachers and allowed to attend half time at any Government school near to the farms." [4]

---

1. Mr. Robertson, Superintendent of the Agricultural Institute at Saidapet, Madras visited Poona and had conferred with the Governor of Bombay and Dr. Cooke, Principal of the Civil Engineering College, Poona.
2. [illegible], appendix pages 100-101.
3. [illegible] Appendix K, page 103 [illegible]
4. [illegible]

The Belgaum class was progressing satisfactorily as can be seen from the Report of Mr. W. Shearer, Agricultural Instructor, for the year 1882-83.

"Notwithstanding the unpromising nature of the soil at this farm, there has been marked improvement in its condition since my last inspection in January 1882. Almost all the old tombs, which dotted the place, have been cleared away, the ground fairly levelled, freed of grass and laid out in plots of convenient size, which have evidently have been carefully manured and cultivated. It appears from the remarks of some Native gentlemen recorded in the Visitor's Book that these visitors considered the monsoon crops - Jowari and bajri - much finer than similar crops in surrounding fields belonging to cultivators.

Some tobacco planted on a newly reclaimed patch was making leaf but indifferently, and I am afraid it will not be worth much.

The jowari and tur crops, which were being harvested, were fairly good, and the patches of English and country vegetables looked healthy and thriving. Grafting and budding had been tried, but did not succeed from accidental and other causes. I have given the teacher such instructions as will, I hope, enable him to be more successful in future.

In my former report I described the land as poor and gravellyxg. Under the circumstances, excellent crops could not be expected from it, yet actual results cannot but impress upon the cultivators the fact that even bad land can be made to yeild tolerably fair crops, if properly treated.

The Committee, however, while fully appreciating all that has been done, feel that the land is too poor tobecome remunerative and reach the cultivator's standard of good farming. A strong desire, therefore, exists that better land should be procured, and during my stay I inspected two recently selected sites.

The soil of these sites was very fair, but I could not advise the taking of either, because I felt apprehensive that their long distance from the school and Native town would tend to discourage the regular attendance of the pupils. As far as I could judge, the most eligible site available would be a piece of the enclosed ground adjoining the Commissariat cattle-sheds(which is apparently only partially kept under vegetables)or a piece of the open ground beyond the enclosure.

The large number of pupils on the Register of Attendance in class and in the field affords convincing proof that the class here is much more popular than at any of the other [illegible] schools, in some of which strong inducements have to [illegible] to join the class.

All the pupils present particularly those of the Kunbi[1] class, exhibited much intelligency and I was quite satisfied with their general knowledge of soils and the uses of manures and implements. The Kunbi pupils have, moreover, now got rid of all prejudice bout measures and freely handle all kinds, including night-soil and bone manure.

The farm-accounts show that the expenditure has not been in excess of actual requirements." [2]

The school had a land of 7¾ acres. It is obvious that the Belgaum school was the best of the eight schools in the province and that the agricultural class started in the school had made a good beginning in that it was popular with the students and that the crops were tolerably good inspite of the poor soil.

Teaching of Drawing in Middle schools: It was Sir Richard Temple, Governor of Bombay, who wrote a Minute on the introduction of the teaching of Drawing in our schools. In his Minute dated 6th September 1878, he wrote:

> "I would ask my Honourable Colleagues to consider whether it would not be possible to include drawing in our system of public instruction, as an obligatory subject in which ~~instructi tion as an obligatory subject in which~~ instruction is to be afforded as in other prescribed subjects. As an optional subject it is already taught in some places to those pupils who have a special taste for it. But if we believe that it is a specially civilizing subject, intensifying the powers of observation, conducing to accurate apprehension of external matters, training the mind to search for what is beautiful and attractive, supplying some of those needs in Native character which we specially wish to supply by State education, we should not hesitate to have it taught with all the influence and the moral authority with which other subjects are taught. To diffuse among the people anything like art instruction in a high sense may be beyond our power. But to teach elementary drawing to at least a certain portion of the many tens of thousands who attend ~~xxx~~ our schools, is a task within our means.
>
> 2. After consulting the Acting Director of Public Instruction as to thebest way of making some commencement with this view, I would propose:
>
> That instruction in elementary drawing be added to the six standards of general instruction which are prescribed for the middle class schools." 3.

The teaching of Drawing was introduced in 21 Government Middle class schools and the "provisional rules for the encouragement of Elementary Drawing" ~~4~~ were notified on 28th January 1880.[4]

---

1. Students from "cultivators" families irrespective of the caste to which they belonged were referred as 'Kunbi' students.
2. Report of the D.P.I. 1882 -83, Appendix M. pages XV, XVI.
3. -do- 1878-79, Appendix X.pp.105-106.
4. -do- 1879-80, Appendix H. pp.95-96.

Private Enterprise and the Grant-in-aid system:

During the period prior to 1855, the Missions mainly and some private Indian individuals established modern schools both vernacular and English but neither the Bombay Native Education Society nor the Board of Education took notice of them. Though it was one of the objects of the Bombay Native Education Society to aid and improve the indigenous schools, the heritage of the national school system of the country, no effort was made to execute it in any degree of seriousness on the plea that any such attempt would result in a waste of time, money and energy as the indigeneous schoolmaster were ignorant, inefficient and incorrigible.

The Despatch of 1854 observed as follows:-

"The consideration of the impossibility of Government alone doing all that must be done in order to provide adequate means for the education of the natives of India, and of the ready assistance which may be derived from efforts which have hitherto received but little encouragement from the State has led us to the natural conclusion that the most effectual method of providing for the wants of India in this respect will be to combine with the agency of the Government the aid which may be derived from the exertions and the liberality of the educated and wealthy natives of India, and of other benevolent persons.

We have therefore, resolved to adopt in India the system of grant-in-aid which has been carried out in this country with very great success; and we confidently anticipate by thus drawing support from local resources, in addition to contributions from the State, a far more rapid progress of education than would follow a mere increase of expenditure by Government; while it possesses the additional advantage of fostering a spirit of self-reliance upon local exertions and combination for local purposes, which is of itself of no mean importance to the well-being of a nation."1

The despatch suggested some general considerations on which each Provincial Government was to frame its own rules. The general principles were that the institution seeking aid should:

i) impart a good secular education, any religious instruction which they impart being simply ignored;
ii) possess good local management;
iii) agree to submit to inspection by Government officers and to abide by such other conditions as may be prescribed; and,
iv) levy, a fee, however small, from the pupils.

The first Director of Public Instruction, Mr. Erskine, drafted rules for the grant-in-aid and submitted to [illegible]

1, Report of the Board of Education, 1854-55, Appendix No. XXVII, pages [illegible]; Extract of the Despatch No. 49 of July 19th, 1854 from the Court of Directors, London.

to Government for approval. The Government of India approved of them on 29th January 1856. The Code is published in the Report of the Director of Public Instruction, 1856-57, Appendix A. The conditions of aid are so severe that no institution either private or Mission sought aid from Government under those rules. Mr. Howard, the next Director of Public Instruction, published a new set of rules which became effective on 7th July 1858. These are published in the Report of the Director of Public Instruction, 1857-58 Appendix H. The rules are brief and include the four main principles of aid mentioned above. The Mission schools which had been running schools of the modern standards could have benefitted by these rules but Mr. Howard had a strong prejudice against them. He strongly deprecated the policy of the Missions to use schools as a means to proselytising purposes and hence refused to give assistance to any missionary institution. In 1858, when Lord Ellenborough severly criticised on political grounds the awards of grants to Missionary institutions Mr. Howard emphatically declared that no pecuniary grant had been given in the Bombay Province to any Missionary school.[1]

The Department continued the partially self-supporting system notified by the Board of Education in 1854 but the Government of India would not accept it as a grant-in-aid system implementing the directions contained in the Despatch of 1854. Under the partially self-supporting system the school was managed by Government with the assistance from the people. Under the grant-in-aid system suggested in the Despatch of 1854, the school should be managed by the people with the assistance of Government. So, the partially self-supporting system was abandoned in 1858.

The rules notified on 7th July 1858 by Mr. Howard remained effective till 1864-65. Very few institutions meant for Europeans and Anglo-Indians and those run by the Parsi Panchayat in Bombay received aid under these rules. They were about 14 and received aid of about Rs.38,785 in 1864-65. It was the next Director of Public Instruction, Sir Alexander Grant, one of the luminaries who occupied that post, took up the problem very seriously and devised a grant-in-aid code which became effective from 21st February 1866.[2] The aid was based on the performance of the students of the school at the examination conducted by the Government Inspector. The system is known as "payment by Results." The system became popular and remained effective till 1903. The Mission schools which had remained outside the old grant-in-aid rules were admitted to this system. Both Mission and Indian institutions welcomed this system. As the Code was effective for nearly 40 years from 1865, it has been reproduced in Annexure 4.

---

1. Report of the D.P.I., 1857-58, Appendix A, para 38.
2. [illegible]

These rules applied equally to vernacular schools and Anglo-Vernacular schools and the aid to the respective classes of institutions was given at the rates specified in the Code.

Both Mission and private Indian enterprise had remained throttled till 1865. The code opened the doors of Government assistance and it became possible for a large number of Mission as well as private Indian institutions to grow under this system. The disadvantage of the scheme was that the Government Inspectors would judge the performance of the students rather harshly in the name of quality and high standards. The system, however, flourished and Indian enterprise became slightly visible by 1882-83.

School Buildings.

The Director of Public Instruction wrote in 1863-64:

"The Buildings: In no respect has the poverty of the Educational Department been more noticeable than in the respect of its buildings. Grant College has indeed been favoured by the erection of an adequate, however ugly, structure, standing in its own grounds and extremely well placed. Poona College is accommodated in a Maratha "Palace", which, however interesting, is unsuitable and very ill-situated, in sanitary respects and others. Elphinstone College meets in a hired house; our English schools, as a rule, are very ill-lodged, and the Vernacular schools generally speaking, in the Central Division universally, are miserably accommodated. The liberality of several native gentlemen and the aditional funds provided in the Imperial Budget and from local sources will now enable us to introduce a general improvement in our school and College architecture. It is satisfactory that at the time when additional building funds have thus become available professional architects have begun to settle in Bombay." 1

It is seen from the above report that the question of school buildings received the attention of Government as late as 1863-64. The Southern Division consisting of the Collectorates of Belgaum, Dharwar, Kaladgi and North Kanara from 1864-65 with its Head-quarters at Athani in the Belgaum Collectorate, received an allotment of Rs.10,000 from Government for the erection of school houses in 1864-65.

The building programme progressed in proportion to the funds being made available for construction work from the following sources: 1) Grants from Government 2) Assignments for buildings from Cess Funds and 3) Donations and subscriptions from the people. The state of school accommodation in the Southern Division by 1882 was fairly satisfactory as seen from the information given in the Report of Education Commission 1882. There were [illegible] school houses and all of them were suitable. [illegible]

1 [illegible] D.P.I. 1863-64, Page 27

suitable. Out of 464 private houses, temples, chawdies or hired buildings used by schools, 305 were suitable and 159 unsuitable. In the Southern Division there were in all 771 school hou ses, of which 612 were suitable and 159 were unsuitable." 1

Supply of furniture to schools.

"Every Cess school is supplied with at least one table and chair for the master; a bench for the school - Committee; a box for books and records; a board or card for the timetable; and a sand glass. The pupils usually sit on the ground or on mats or carpets. In schools in which more than one teacher is employed, the furniture is proportionately increased. All the larger schools are furnished with cupboard, map- boxes and clocks or brass-gongs; and the boys of the two highest classes of a taluka school are provided with benches and desks. Samais or or bras lamps are supplied to the night schools.

The furniture in the Native State schools is similar in character and quantity to that given to the cess-schools.

The manufacture of the furniture is contracted for annually by the local jail or by private workshop." 2

The furniture supplied was adequate in all Government schools.

L i b r a r i e s.

The first vernacular library in the Karnataka region was established at Belgaum in 1855-56 on a small scale by the senior pupils of the Belgaum Marathi school with 43 subscribers and 47 volumes. Captain Lester in his Report for 1862-63, wrote:

"37. The Principal, Native General Libraries in this Division are at the zilla stations of Ratnagiri, Satara, Sholapur, Belgaum and Dharwar.....

The Belgaum library has been revised during the year, and a good deal has been done for its improvement. Efforts have been made to draw people to it by occasional lectures, which have been given by several of the educated native residents.... Through the energy of Mr. Mahadev Wasudev Burve, the Deputy Inspector of the Belgaum sub-division, reading rooms have been opened at Bijapur., Hungund, Gadag and Betigeri.

38. The Canarese Vernacular Society carries on its work, through under difficulties. We have but few contributors to Canarese literature in this Presidency and the number of educated Canarese youth is yet too small for us to look for literary contributors from their ranks. The magazine published bi-monthly is edited at present by Mr. Hunsikar, and published at the press of the German Mission at Mangalore."3

"45. 5 Libraries and Reading rooms have been started at the following places during the year in addition to 7 previously existing; [illegible] Chikkody, Bagalkot, Miraj, [illegible]

[illegible] have been made at Hubli and Savadatti [illegible] Vol. I. Appendix to [illegible] 1862-63 [illegible]

for opening Reading rooms from the Ist May. To the Native Library at Chikkodi a grant of books to the value of about Rs.50 was made by the Director on my recommendations, and a further grant of to the same amount from the General Fee Fund was made by me.[21]

The Grading of Services.

The Despatch of 1854 directed the creation of the Educational Department under a Director of Public Instruction assisted by a temm of Inspectors. The Court of Directors desired that these officers should be of high status and may be drawn from the Civil service. The details regarding status, scale of pay etc. were left to the Government of India.

The Government of India did not create a regular Educational service with different cadres of officers for the various categories of services in the Department. Though ten years had elapsed no regular Educational Service was formed. Persons stationed in various walks of life were drafted as Inspectors of Educational Divisions. In those ten years educational activity had considerably increased and with the levy of the Cess in 1863, though on a voluntary basis, large sums of money had to be usefully utilised and very accurately accounted for. It was at such a critical period Sir Alexander Grant, a brilliant professor and and able administrator, assumed charge as Director of Public Instruction on 24th June 1865. He could foresee the tremendous growth of the Department and the heavy responsibility that would fall on the top officers of the Department. The Department was in immediate need of trained and efficient men of talent and resourcefulness to shoulder the onerous task of educating a large mass of people with the meagre available funds. Educational administration and supervision had become a specialised job and as such it could no longer be entrusted to a band of persons picked up at random from different situations in life. The top officers had to be men of experience trained in the job for a number of years so that the Department may function usefully and efficiently. Sir Alexander Grant suggested the creation of an Educational service at two levels; (1) The convenanted service for the superior posts in the Department and (2) The un-covenanted service for the lower posts.

His primary object was to induce competent Europeans to join the Educational service. He fought a battle royal with the Government on this issue. The correspondence that ensued between him and the Government is very interesting. Sir A. Grant pointed out very clearly that a special class of persons are required for the professional posts in view of the nature of their duties. The administrative posts in the Education Department could be held by civil servants but they would not be useful as Revenue [illegible]

long correspondence between him and the Government raised some fundamental issues such as the need of a separate Educational service, its status vis-a-vis that of similar posts in other services, the qualifications and method of selection of persons for the Educational service. The whole correspondence is, therefore, reproduced in Annexure.5.

The proposals of Sir Alexander Grant were, at first, turned down by Government. They were accepted with certain modifications in 1870-71. They introduced the "gradest list" for the superior posts in the department. The classified scale of Higher Education officers was:

Class I	- Rs.1250 - 1500	-	One Inspector
Class II	- 1000 - 1250	-	One Inspector, One Principal.
Class III	- 750 - 1000	-	One Inspector Two Principals Three Professors.
Class IV	- 500 - Rs.750	-	One Assistant Inspector, Three Professors.

The non-graded posts in the Department were sub-divided into two categories - the superior appointments (usually held by Europeans) and general appointments(usually held by Indians). These latter posts were further sub-divided into five classes:

Class I	- Rs.150 - 300	Class II	- Rs.100 - 150
Class III	- 75 - 100	Class IV	- 50 - 75

and Class V - Salary less than Rs.50.

The Deputy Educational Inspectors were titled as Rao Sahib or Khan Sahib as the case ~~mx~~ may be.

The monthly pay of a primary teacher varied from Rs.10 to Rs.50 prior to 1865. In addition he received a share of the fee collected from the pupils. During this period, the "Vernacular school" taught many subjects. There were no fixed number of standards in it. Some of the Vernacular schools were almost on par with the "English schools" except that they taught through the medium of Vernacular and did not teach English as a subject. So the teachers of such Vernacular schools had to be highly qualified and trained.

The situation changed by about 1865. The cess was levied and a large number of cess schools were opened. Sir Alexander Grant simplified the curriculum of primary schools and brought it very near to the standards of the indigenous schools in the country. Consequently, teachers with lower qualifications and no training were appointed in the primary schools. Untrained primary teachers were paid between Rs.4 and Rs.8 per month. The trained teachers were paid, in addition, a Capitation allowance based on the attendance of children and a proficiency allowance based on the results of the examination.

All posts which carried a salary of Rs.10 or more were made [illegible] of the personnel of the [illegible]

Important features of the period from 1855 to 1882.

THE period from 1855 to 1882 is an eventful period in the History of Modern Education in the Karnatak region. It is a period of "Kannad Renaissance" as rightly said by Mr. R.E. Candy, Acting Educational Inspector, Southern Division in his annual report of 1871-72. He wrote:

"31. It has been the fashion among educated natives generally for years past to despise the powers of Canarese as a language. This was in a main degree the res lt of ignorance. Canarese is an ancient and very comprehensive language. Its source is two-fold - on the one hand Dravidan, and on the other Sanskritic. Canarese literature is divided into three periods- the Jain, the Brahmanical, and the Lingayat. The present time may be called the fourth period, or the Canarese Renaissance, which is owing to the liberal patronage you have given to Canarese men, and also to the revised Canarese standards. All the boys in our Vernacular schools have now to study Prosody and simple Canarese poetry. Those in our higher schools become acquainted with the masterpieces of the Canarese poets. This has caused a demand for men knowing Canarese poetry, principally old shastris, - a class hitherto suppressed and unknown to fame. A list of English works suitable for translation, and a list of Canarese works fit for prizes and general reading, have been under preparation, but reliable information of the contents of the various Canarese works has not yet been obtained. The members of the Canarese Society, being all busy men, do not find much time to answer the Educational Inspector's references on these subjects.

The President of the Canarese Vernacular Society is the Educational Inspector. As he is generally on tour from November to May, it follows that meetings can be held at Belgaum only during the monsoon months...... Lists of Canarese works have been prepared by several members.... The translation work done during the year was satisfactory." [1]

By 1881-82, considerable progress was made and all text-books in different subjects for all standards were available in Kannad. With the establishment of the Kannad Translator's office at Dharwar and the formation of the Kannad Committee for the review of old Kannad literature, much progress was achieved. The interest exhibited in exploring ancient Kannad literature by European Kannad scholars like Mr. Wurth and others gave a fillip to the Kannad Movement. The Department was also able to locate and appoint talented Kannadigas. The pioneer batch of Kannad officers like Mr. Channabasappa, Mr. Venkat Rango Katti, Mr. [illegible], Mr. [illegible], Mr. R.A. [illegible] and [illegible]

the conscience of the Kannadigas. The Kannad Division was fortunate in having Mr. W.A. Russell as its Educational Inspector. His efforts in placing the Kannad Division on the educational map of the province deserve to be recorded. Mr. Russell was incharge of the Division from 1865 to 1885. When he handed over the Division to Mr. S.V. Patwardhan in April 1885, the Director of Public Instruction in his Report for 1884-85 wrote:

> "Mr. Russell witnessed the commencement and success of the remarkable movement which has raised the Southern Division from the lowest to one of the foremost places in educational interest and he has bequeathed to his successor a position which should enable him to surpass all other Divisions in educational results." 21

Another important feature of this period was that the Kannad-speaking areas, which were under Satara and Sholapur Collectorates, were brought in 1861 under a new Collectorate with Kaladgi as Headquarters. The Kaladgi Collectorate was placed under the control of the Educational Inspector, Southern Division. In the following year, the North Kanara district was added to the Bombay Presidency. Being a Kannad-speaking district, it was included in the Southern Division. This unification of Kannad areas and the formation of the purely Kannad Division under the name of Southern division strengthened the cause of the Kannadigas and gave impetus to the Kannad movement.

The Training school started for training teachers for Kannad schools had a chequered growth in its early years. No suitably qualified Kannadiga could be found to head this school for a number of years. The school developed remarkably when such men were secured to staff the school. The Educational Inspector fought hard to give it the status of a College on par with the Marathi and Gujarati Training Colleges at Poona and Ahmedabad. Ultimately, the Training school was upgraded and shifted to Dharwar to be housed it in its newly constructed buildings. The Training College for Men, Dharwar played a big role in training Kannad teachers imbued with the ideal of awakening the Kannad masses.

The levy of Cess on a permissible basis in 1863 and then by the Act of 1869 provided the much-needed funds for the expansion of mass education on a large scale. It is no wonder that the number of Vernacular schools increased enormously when once the people's conscience was aroused, the teachers, books and funds were available, and sympathetic help and guidance was forthcoming from the Department. The period between 1865 to 1882 is a boom period for vernacular schools. In 1881-82, there were 722 Government vernacular schools for boys with 12,185 pupils in the Upper [illegible] standards V and VI and 42,294 pupils in the lower [illegible]. Of these, [illegible] were girls.

girls studying in boys' schools. There were 11 aided schools with 74 pupils in Upper classes and 750 in the lower classes. The Native States of Mudhol, Jamakhandi, Savanur, Laxmeshwar and Ramadurg which are now merged with the Karnatak region had 47 schools with 600 pupils in the Upper classes and 1448 in the lower classes.[1] Besides these, there were four Government police schools and three Government Jail schools with 448 pupils in the lower classes. There was also a Government Night school at Bagalkot and another Night school in Mudhol State with 45 and 34 pupils in the lower classes respectively. There were in all 789 boys' Vernacular schools with 57,878 pupils of whom 12,859 pupils were in the upper classes and 45,019 in the lower classes. The expenditure on Government and aided schools was Rs.1,80,998 of which Rs.45,827 from Provincial funds, Rs.1,03,402 from Cess funds, Rs.28074 from fees and the balance from subscriptions, endowments etc.

There were 574 unregistered indigenous schools in the four Collectorates and 63 in the State of Mudhol, Ramadrug, Savanur, Jamakhandi and Laxmeshwar with 8779 and 920 pupils respectively. There were some Mission schools also. Though the Despatch of 1854 directed that the extension of mass education be achieved on a grant-in-aid basis, the Bombay Educational Department was not in favour of aiding the Mission schools on political grounds and the indigenous schools on grounds of inefficiency. The Department's grant-in-aid rules were not readily acceptable even to the Mission schools. The Department took upon itself the entire task of extending mass education. There would have been more vernacular schools with a large number of pupils had the Department made some sincere efforts to aid the indigenous schools and the Mission schools. Private effort in Vernacular education was smothered and only Governmental efforts were relied on.

The policy of Government with regard to Girls' education was exactly the reverse. The Government fought shy to tread in this delicate area for quite a long period inspite of the attention of the Department being invited to this deficiency by the Government of India. The grant of Rs.10,000 for girls' education by the Government of India in 1867 and the visit of Miss Carpenter to India in 1867-68 moved the Department to some activity. Even then, the Department was proverbially slow in its activity wanting all the while private enterprise to cut the ice. The Mission enterprise and the sporadic efforts of some private individuals in the area of girls' education enabled the people to get over their prejudices against the education of girls. The Department slowly moved in and by 1882, there were 41 Government and 6 aided schools with 2309 and 286 pupils respectively. Of these, 217 and 42 were respectively in the upper classes of the vernacular schools. In the Native States [illegible] and [illegible], there were 3 [illegible]

5 schools with 192 pupils in the lower classes. It is already mentioned that there were 2680 girls in the Boys' vernacular schools. So, there were in all 5467 girls under instruction in the vernacular schools. The Dharwar District was at the top with with 24 schools including those of Laxmeshwar and Savanur with 2395 girls including those studying in boys' schools. The girls' education would have progressed much faster than this had a Training College for Mistresses been established at Dharwar as they were established at Poona, Ahmedabad and Hyderabad(Sind). The Educational Inspector made a strong case for its sanction but he did not succeed. The non-availability of suitably qualified women teachers was the main obstacle in the progress of girls' education in the Karnatak region. The failure of Government to find funds for starting a Training school for Mistresses in the Southern division was mainly responsible for the slow progress of girls education in this Division.

In 1855, there were only two English schools, one at Dharwar and the other at Belgaum. The latter was a special school for Jahagirdars or their nominees. Both the schools were functioning at a low level of efficiency and teaching only the lower classes. The Sardars' school, Belgaum was taken over by the Department for inspection in 1858-59 and then merged as a Government school some years later. A European Headmaster was sanctioned to the school and Mr. F.P. Baker was its first European Headmaster. As buildings and other facilities were available, the school soon reached the High school standard and presented for the first time candidates for the Matriculation examination of the Bombay University from the year 1864-65 though the University was conducting the Examination from 1859. The Dharwar school run on local support passed through rough weather. It was actually closed in 1857 and revived in 1859. Its stability was assured only when an endowment of over Rupees Five thousand was created through public subscriptions. Mr. F.P. Baker deserves mention for his tenacious efforts. The school which reached High school status in 1872-73. The performance of the school at the Matriculation Examination of the Bombay University has been good in several years. The Karwar school which was started in 1865, two years after North Kanara district was merged in the Bombay Presidency, had naturally to take some time to reach the status of a High school. It presented candidates for the Matriculation from 1878-79. It has also shown good results in some years. The Kaladgi district had no full-fledged High school by 1882. The school at Kaladgi was a first grade Anglo-Vernacular school. Though the Educational Inspector made a strong plea for the sanction of a High school for this district, it was not sanctioned.

Of the Mission schools at Dharwar, Hubli and Belgaum, the [illegible] Mission school, Belgaum availed of the Government Grant- [illegible] High school standard.

presented candidates for the Matriculation from 1872-73. It maintained good standards.

So, the entire Karnatak region excluding the Native States of Mudhol, Jamakhandi, Ramadurg, Laxmeshwar and Savanur covering an area of 46,909 square miles with a population of 2,807,254* had only one aided and three Government High schools. 249 students matriculated from these schools as against 4818 in the Bombay province. The yearwise Matriculation results of the Province with those of the schools mentioned above are given in Annexure .6

The Anglo-vernacular schools of the first grade and second grade were teaching English. In 1882, there were 3 High schools, 6 First-grade Anglo-vernacular schools and 42 second-grade Anglo-vernacular schools run by Government with 1893 pupils of whom 436 were in High schools. There were 5 aided schools with one High school, 2 first grade and 2 second grade Anglo-vernacular schools with 462 pupils of whom 127 were in High schools. In the five States of Mudhol, Jamakhandi, Savanur, Ramadurg and Laxmeshwar, there were 2 first-grade and 3 second grade Anglo-vernacular schools with 216 pupils in the Middle school. The total for the Karnatak region was 4 High schools, 10 first-grade and 47 second grade Anglo-vernacular schools with 2571 pupils of whom 563 were in High schools. It will be seen that the Karnatak region was very backward in the area of English education or Secondary education. As Vernacular education had started late in this region, more time was required for secondary education to establish and develop.

The Bombay University was established in 1857 and the first Matriculation examination was held in 1859. The Karnatak Region had only four High schools in 1882 and the aggregate number of students who matriculated in 1882 from all the four High schools was 42. The question of starting a College for such a small number was not thought of by Government. When Indian private enterprise had not yet entered the area of secondary education in this region, a private enterprise undertaking the Collegiate education was unthinkable. The Kannad matriculates had to seek admission in Colleges elsewhere. In 1880, the Rajaram College, Kolhapur was started. The other Colleges were at Poona, Bombay & Ahmedabad.

In 1882, the Indian Education Commission was appointed. The Commission studied the entire question of Indian Education and submitted its Report. The recommendations of this Commission formed the basis for the further progress of education in this country.

The Bombay Provincial Committee of the Commission has in its Report described the state of education in the Southern Division and has compared it with that of the Divisions of the Bombay Presidency. The relevant extract from the Report is reproduced below.[1]

[illegible] Division of inspection includes the four [illegible]

[illegible]

districts of North Kanara, Dharwar, Belgaum and Kaladgi, respecting which a few notes will suffice as an introduction to the statistics of education which follow. Their population numbering 2,807,254 comprises 88 percent. Hindus, 9 percent Muhammadans, and 2 percent Jains. To maritime commerce the Muhammadan and Christian population of Kanara owe their existence. There are nearly 15000 Christians in Kanara who form 3.4 percent of the population. Kanara is a district of dense forest, rude cultivation and malarious climate. Kaladgi is a level tree-less plain, somewhat isolated in regard to communications and terribly liable to famine. On the other hand, the physical features and climate of Belgaum and Dharwar are pleasant. The latter district owes its prosperity to a rich soil and contains 14 towns. The density of its population is 194 to a squ re mile, which is greater than any other district above the Sahyadri range except Satara. The average density of the whole division is 148 to the square mile. Of the school-going age there are 212,570 boys and 208,517 girls. The Vernacular of the whole division is Kanarese, but where the Muhammadan element is strong Hindustani is spoken.

In this division, excluding Native States, there are 146,418 persons who can, or are learning to, read and write, or 5.2 percent of the population. The number of persons so educated in each separate district varies with the prosperity of the community. Kanara, despite its forests and malaria stands first, it is true, with an education population of 6.7 percent, but the population is so small that the Christians and educated or trading classes who value education, exercise an abnormal influence on the returns. The Brahmans of Kanara number 63,856, whereas their number in all the other three districts together is only 79,101. Dharwar contains only 28,403 Brahmans, but with its rich soil it stands next, and 5.9 percent of the population are educated, whilst in Belgaum 4.4 and in Kaladgi only 4.1 percent have ever learnt even the three R's. The Hindu population contribute 88 percent of the instructed community, but only 5.2 in every hundred Hindus know how to read and write. The Muhammadans contribute 6.6 percent of the educated classes, but only 3.7 percent of them are educated. The Christians contribute 2 percent, but 12.2 percent of this community are educated. The Jains form 3.1 percent of the educated classes, but only 7.6 percent of them are instructed. The proportion of educated men to the whole community of each religious division of the population is thus lower in the Southern division than in the neighbouring divisions of the Bombay Presidency.

Under the control of the Inspector of this division, there are several Native States with a population of 1,308,164. Of these, the State of Kolhapur with a population of 800,189 [illegible], and having from one cause or another [illegible] education [illegible]

fair progress in it. Several of the Southern Maratha Jaghirs are also included in the Division, namely, the Jaghir of the senior family of Miraj, Mudhol, Sangli, Ramadurg, Jamakhandi and Kurundwad, as well as the Muhammadan State of Savanur which is politically attached to Dharwar. In Kolhapur and the Southern Maratha jaghirs, the educated community number respectively 31,948 and 29,785, being 3.9 and 5.6 of the populations respectively. Having noticed the salient features in each division, we conclude this preface with a remarks on the Presidency as a whole, and a table which will sum up the statistics which have been given. The population of the Presidency excluding Aden and the Native States, numbers 16,454,414 giving an average density of 132 to the square mile. There are only 167 towns in the whole area of 124,122 square miles. 74.8 percent of the population are Hindus, 18.3 percent are Muhammadans, 3.4 aborigines, 1.3 Jains, and only .8 percent Christians. The population of the Native States included in the Bombay Presidency is 6,941,249 scattered over an area of 72,450 square miles giving a density of 95.8 to the square mile. The total population of the Presidency is therefore 23,395,663.

The following table will show for each division of British territory the proportion persons under instruction or instructed bear to the whole community:-

Bombay Presidency	..	6 percent
Bombay City	..	23.2 "
Northern Division	..	7.8 "
Southern "	..	5.2 "
Central "	..	4.6 "
S i n d "	..	4.5 "
North-East "	..	3.9 "

It will be observed that the North-East Division stands last, which is partly accounted by for its large aboriginal population. Nearly 4 in a 1000 of the aborigines are instructed or are under instruction in Gujarat, and nearly 2 in a 1000 in Sind. But in the North-East and Central Division only 1 in a 1000 has ever been under instruction, and in the Konkan not even 5 in 10000 can read or write. The total population of school going age in the Presidency includes 1,274,656 boys, of which 271,479 according to the Census or 21 percent are under instruction, and, - 1,193,501 girls of whom only 18,460 or only 1.5 percent at some sort of school.

The following table will show at a glance in what proportion each class of the community in each division has availed itself of the opportunities of instruction afforded to the population, and will therefore suggest the direction which any future - extension is likely to take:-

Statement

Statement showing what number in every hundred of each class of the community in each division is educated.

Division	Hindus	Muhammadans	Parsis	Christians	Jains
Bombay Island	17.6	19	60	47	54
S i n d	15.7	1.4	65	65	38
Northern Division	7	9	46	49	38
North-East Division	3.8	3.4	54	46	30
Central Division	4.1	8.7	42	-	28
Southern "	5.2	3.7	57	12.2	7.6

--:--

CHAPTER III.

1882 - 83 to 1921 - 22.

The Court of Directors' Despatch of 1854 was the basis of Educational policy in India. The Despatch of 1859 reviewed in brief the state of education in India under the Company's Government but it was not a comprehensive report. Nearly a quarter of a century had since elapsed, and the Governor General in Council decided to institute a careful and detailed investigation into the existing system and into the results attained by it. On the 3rd February 1882, the Government of India appointed an Education Commission and declared that its duty should be to enquire particularly into the manner in which effect had been given to the Despatch of 1854 and to suggest such methods as it might think desirable with a view to more completely carrying out the policy therein laid down. It further declared that "the Government of India is firmly convinced of the soundness of that policy, and has no wish to depart from the principles upon which it is based." [1]

Primary Education: The Government of India desired that the principal object of the Commission should be to enquire into the present state of elementary education throughout India and to suggest the means by which this can everywhere be extended and improved. At the same time it was impressed upon the Commission "that it is not possible for the Government to find funds sufficient to meet the full requirements of the country in the matter of primary education, if those requirements are to be judged by any European standard. The resources at the disposal of Government, whether Imperial, Provincial or Local, are, and must long remain, extremely limited in amount, and the result is, not only that progress must necessarily be gradual, but that, if satisfactory progress is to be made at all, every available private agency must be called into action to relieve and assist the public funds in connection with every branch of Public Instruction. It was in view of the impossibility of Government alone doing all that must be done to provide adequate means for the education of the Natives of India, that the grant-in-aid system was elaborated and developed by the Despatch of 1854; and it is to the wider extension of this system, especially in connection with high and middle education, that the Government looks to set free funds which may then be made applicable to the promotion of the education of the masses. "The resources of the State ought, as remarked by the Secretary of State in Despatch No. [illegible] of [illegible] April [illegible], to be so applied as to assist those who [illegible] help themselves, and the richer classes of the people [illegible] gradually be [illegible] to provide for [illegible]

[illegible]

<u>Primary Education and Training of teachers:</u> Regarding the Primary Education in the Bombay State, the Commission reported; "Before the Department was created, the claims of the masses in Bombay had been admitted more than in theory; but owing to the belief that the indigenous schools were inadequate, the primary system in Bombay has been built up from the very first almost entirely on the departmental foundation and by the direct instrumentality of Government, in accordance with one of the principles recommended in the Despatch of 1859. At present less than 5 percent of the schools brought within the system are aided, The control and supervision of the schools are entrusted to local boards with school Committees under them; but the Department exercises great influence through the Inspectors, who is ex-officio member of the boards. The numerous Native States, with a population of 6,728,950 persons, and covering more than a third of the whole area of the Presidency have also voluntarily adopted the departmental system and placed their schools under the inspection of the educational officers. Local rates levied on the land were introduced into the British Districts in 1864; but were not placed on a legal basis until 1865 in Sind, nor until 1869 in the rest of the Presidency. In 1871, there were 159,628 children in primary schools recognised by the State. In 1881-82, the numbers had risen to nearly 333,000; and the percentage of boys in primary schools to the total male population was then larger than in any other Province of India with which our Report deals being slightly in excess of the proportion in Bengal when the primary departments of secondary schools" in that province are excluded. Particular attention is paid to the efficiency of the primary schools to the training of teachers, especially of school mistresses, and to the provision of good school accommodation and apparatus. On the other hand, the indigenous schools still remain almost entirely outside the pale of the Department, and the encouragement offered to private enterprise is inadequate. The proportion of public funds devoted to primary education is the largest in India" 1
The report further stated: "The Bombay educational system is in full accordance with the instructions contained in the Despatches so far as regards the large proportion of funds assigned and the attention devoted to primary education. Complaints have, however, been justly made that an excessive share of the Provincial assignment has been given to schools in towns, to the disadvantage of the payers of the rural cess. But although the whole primary system for male as well as female education is well organised, it rests too exclusively on the direct instrumentality of Government. We have elsewhere recommended that the indigenous schools should be incorporated into the system as was proposed by the first Director". 2

[illegible]

the educational system to which the strenuous efforts of the State should now be regarded in a still larger measure than heretofore."

"Where indigenous schools exist, the principle of aiding and improving them be recognised as an important means of extending elementary education."

"Primary education be declared to be that part of the whole system of public instruction which possesses an almost exclusive claim on local funds set apart for education, and a large claim on provincial revenues," and "both Municipal and Local self-Government Boards keep a separate school fund" 1.

The Bombay Government had already levied the cess but the Municipal areas were having a lion's share of the cess funds. Though the Municipalities were authorised to make liberal assignments for education from their funds, they rarely complied with that obligation to the extent that they should have done. This gross injustice caused to the rural cess-payers was pointed out by the Commission and had, recommended that both Municipal Boards and Local Boards should keep separate school funds.

By the Acts of 1884, the Municipalities were required to maintain all primary schools within their areas and be responsible for the extension and improvement of primary education of both boys and girls. A separate school-fund was to be maintained by each Municipality.

The Indigenous and other private schools: The Bombay Government had already adopted the grant-in-aid system known as "payment by results" in 1865. The rules were further liberalised in 1877. Part I of these rules dealt with schools brought under grants-in-aid according to results, Part II dealt with rules regarding grants-in-aid for school buildings and Part III with special rules for indigenous schools and for Low-caste schools etc. not able to present children for Result grants. 2 Under Part III of the rules, a school favourably reported on by the Inspecting officer could earn a yearly present of Rs.10 to Rs.50 according to the improvement made. Due to the illiberal rates of aid, the indigenous schools took little advantage of the grant-in-aid scheme. However, as years rolled on, the old-type indigenous school masters died out and the new masters were generally those who had their education in the departmental schools. They planned their schools on the departmental model and offered their schools for aid under the grant-in-aid system. By 1921-22, there were 411 aided primary schools in the four district including 16 girls' schools. Still, a large number of indigenous schools preferred to remain outside the pale of the grant-in-aid system till they died out.

The Municipal and Local Board Schools. Besides the financial powers, ~~the financial powers~~ both the Municipalities and Local Boards were given the powers of the control of the staff employed in their primary schools subject to the proviso that these powers could be delegated to the departmental officers, if necessary. The Department was [illegible]

[illegible]

was entrusted with the inspection, the framing of the syllabus, the training of primary teachers etc.

Even though wide powers were given to these local bodies, it is only the Municipalities that exercised some effective control in practice. In the case of Local Boards, most of the powers were exercised by the Departmental officers. Every district had a Deputy Educational Inspector who inspected the schools with the help of his Assistant Deputy Educational Inspectors. He administered the schools, appointed teachers and controlled their services and did all the things necessary to carry on the administration of the schools.

However, with the creation of the Municipal and District Education Funds, money was available for the extension and improvement of primary education. Another factor that helped the financing of education on a liberal scale by the State Government was the system of "Quinquennial contract grants" started in 1882-83. Under this system, the Provincial Government were given a specified share in some items of revenue. Some sources of revenue were made entirely Central, some entirely Provincial, and the rest were divided. The Provincial Government could, therefore, assign more funds for education from its revenues. Of course, the resouces which were given to the Provinces were limited and hence the chance to provide funds for education was also limited. However, the system was an improvement on the old system of getting cash allotments from the Imperial Government from year to year.

The factors mentioned above combined with the demand of the people for education led to the expansion of Primary education on a large scale. In 1891-92, the four Districts of Belgaum, Bijapur Dharwar and North Kanara excluding the Indian States, had in all 1241 Boys' primary schools (892 Local Board, 96 Municipal and 252 aided) with 72,064 pupils of whom 19894 were in Upper standards.

The initial growth got arrested on account of the following factors:-

i) There were no grants from the Government of India after the system of "Quinquennial contract grants" was adopted in 1882-83.

ii) The State Government had to face enormous difficulties on account of Plague and Famine that overtook the Provice continuously from 1895-96 for nearly a decade.

iii) Though the Municipal revenues were elastic on account of various taxes that they collected, the cess revenue of the Local Boards was inelastic since it was based on land revenue which remained stationary for long periods.

iv) The havoc that plague and Famine caused in the entire Province with the Southern Division suffering from it perhaps the most. Hundreds of teachers and thousands of students were victims of this disease as the figures of death roll for some of the years copied [illegible] Instruction would [illegible]

Plague and Famine: I have endeavoured to secure statistics showing the extent to which the Educational Department has suffered since 1896 by actual deaths from Plague of teachers and students enrolled in schools. The return is imperfect owing to the confusion which accompanies a visitation of the disease, but, so far as it goes, it shows a total loss of 9,749 persons engaged in education. Of these, 494 were teachers, 9139 were students and 116 clerks or menial servants.....

Many schools were closed at the end of the year owing to the two scourges of the Presidency. Thus in the Central Division 45 schools were closed on account of plage, in the Northern Division, 187 schools were closed on account of plague." 1

"In the Southern Division only a few teachers were placed on plague duty, but the disease lingered in Dharwar and Belgaum and Cholera and small-pox were also rife. 8 masters, and 313 boys are said to have died of plague." 2

"In the Southern Division, the Inspector reports that Plague was more prevalent than had even before been the case and that it carried away 91 teachers and 2,444 pupils. Mr. Sahasrabudhe remarks that not only is the progress of pupils everywhere most seriously affected but that it is impossible to test thoroughly the work of the teachers. He adds, " the dread of living in an affected place, deaths in the families of the teachers and the taught and the emply school-houses, all have produced a sort of demoralisation which, under the circumstances, is inevitable." But he warmly praised the patience and courage of the masters generally and of the techers under sufferings of the most grievous description." 3

In 1902-03, the four districts excluding the Indian States had 1295 Boys' schools(1 Government, 813 Local Board, 96 Municipal 383 aided and 2 unaided)with 51548 pupils of whom 15878 were in Upper primary classes. ~~The districtwise details are given in Annexture......~~

When these figures are compared with those of 1891-92 given above, the damage caused to the extension and improvement of education can well be imagined.

In 1899, Lord Curzon became the Viceroy of India. He was highly interested in Education. He held a conference of all the Directors of Public Instruction at Simla in 1901. He stressed the need to organise an intensive drive for educational reform. He was of firm opinion that the Government of India should play an active role and lay down the Educational Policy. He created in 1899 the post of Director-General of Education who worked under the authority of the Central Government. He found Primary education suffering from divergence of views as to its elementary function and course, and languishing nearly everywhere for want

1 Report of the D.P.I. [illegible]-1900, page [illegible]
2 [illegible]
3 [illegible]

want of funds. He sanctioned huge allocations ~~from~~ from Central Funds. The Bombay Government received a recurring grant of Rs. 6,00,000 for Primary and Secondary Education in 1901. In the next year a General Nonrecurring grant of Rs. 7,77,770 was received Fortunately for Lord Curzon, it was a period of prosperity in that the Central budget was always was a surplus one. In 1905-06, a recurring grant of Rs, 5,00,000 was given for primary education. This policy of allocating large funds of money for purpose of education from Central funds was adhered to by his successors even after he resigned in 1905. "The following is the list of grants sanctioned by the Government of India for the ~~explanation~~ extension and improvement of education in the State of Bombay between 1901 and 1921.

	Grant	Rs.
1.	General Grant (1902-03)-Non-recurring	7,77,770
2.	Grant for Technical Education (1906-1907)-Recurring	1,67,000
3.	Grant to Bombay University-Recurring	43,000
4.	Grant for Primary Education (1905-06) Recurring	6,00,000
5.	Grant for Primary Education (1905-06) -Recurring	5,00,000
6.	Grant for expediture on Higher Education (1911-12)- Nonrecurring	11,02,000
7.	Durbar grant for popular education- (1912-13)- Recurring	60,000
8.	Grant for private secondary schools. (1912-13) Recurring	6,70,000
9.	Grant for Hostels(1912-13)Non-recurring	3,00,000
10.	Grant for improvement and expansion of education (1913-14) Recurring	5,93,000
11.	Grant for Hostels (1913-14)Non-recurring	7,75,000
12.	Grant for improvement of education (1914-15) Recurring	1,00,000
13.	Grant for improvement of Education (1913-14) Non-recurring	31,00,000
14.	Grant for improvement of Training and pay of teachers(1917-18)Recurring	2,50,000
15.	Grant for development of Primary education (1918-19) Recurring	4,00,000

(N.B. Small grants sanctioned for various purposes have not been included in the above table. All these grants along with their unspent balances(amounting to about Rs.45 lakhs) were merged with the Provincial Revenue in 1921-22)" 1

These funds were used for the extension of primary education and its qualitative improvement by constructing school buildings, expending and improving facilities for training teachers and supplying furniture and equipment to schools and for the improvement of the salaries of teachers.

During the period from 1882-83 to 1902-03, the Royal Primary education course was revised. The Infantal class was introduced [illegible]

[illegible]

Reading, counting numbers upto 100 and multiplication tables upto 10. New subjects and techniques like object lessons, story telling, chorus singing, physical drill, etc. were introduced. This was done with a view to begin primary education at a lower age and to make the instruction for young children more interesting. In 1901-02, the seventh standard was added at the top to enrich and amplify the syllabus. The Boys' Primary education course, which was of six years' duration in 1881-82, was extended to seven years' duration in 1887-88, and further was extended to eight years' duration during 1901-02. The syllabus is printed on pages 115-116 of "A Review of Education in Bombay State, 1855-1955 - Government of Bombay." It was considered that there should be a separate syllabus for rural primary schools. The Rural standard syllabus was introduced in Kannad rural primary schools for the first time in 1902-03. The syllabus was not welcomed by the people and hence was dropped after some years of trial.

The Training College for Men at Dharwar provided hostel facilities to teachers and the hostel buildings were extended and improved. The Training Code prepared by Mr. Peile in 1870-71 was followed throughout the period 1881- 82 to 1921-22. However, a number of re-training classes were held for teachers who needed refreshing. Besides, as many as nine Normal classes were organised in the four Kannad districts with two classes in each district and one Urdu Normal class at Hubli. Their object was "to give the raw young men that had to be employed or rather pressed, into service an insight into the work of teaching before putting them in charge of schools or classes..... Vernacular Final men willing to serve as masters immediately after the completion of the short course at the class were admitted.... All the passed men were employed." [1]

These Normal classes were closed as soon as the purpose for which they were started was served. Only the Normal class at Hubli was continued as Urdu Training school, Hubli. By 1921-22, besides the Training College for Men, Dharwar, the Urdu Training school, Hubli catered to the training of teachers for Urdu schools. As on 31st March 1922, there were 246 students on the roll of Training College for Men, Dharwar and 31 on that of Urdu Training school, Hubli.

To enrich the training of primary teachers, training in Drawing, Nature Study, Gardening, Music and Manual Training (sloyd work), was introduced in the syllabus. In 1919-20, the Training College syllabus was revised. Sanskrit, Persian and Algebra were dropped from the course to give more scope for the practical work in the new subjects mentioned above. Drawing was made compulsory. Some of the teachers trained in these subjects at the Training College conducted carpentry classes attached to their primary schools. There were by 1921-22 as many as 19 carpentry classes attached to primary schools in Kannad districts.

1 [illegible] page [illegible]

districts.

It will be seen that efforts were made to supply an adequate number of trained men teachers and to enrich their training also side by side.

In 1913-14 before the World war of 1914-18 started, there were 1892 boys' Primary schools (2 Government, 1362 Local Board, 124 Municipal and 404 aided) with a total strength of 1,03,881 pupil of whom 14182 were in Upper primary classes. The district-wise details are given in Annexure....

The demand for free and compulsory primary education was being made from time time. Every time, the proposals were made by the Indian Members of Bombay Legislature, they were turned down on the plea that the time is not yet ripe for the introduction of compulsion and that it would not be feasible to make primary education fully free since the loss in fee income would only delay the full expansion of primary education in the Province. Even though the attitude of the Government was known, Shri Gopal Krishna Gokhale moved in 1912 a bill in the Central Legislature for the gradual introduction of Compulsory Primary Education throughout the country. The Bill was not passed as anticipated but the debate on the bill awakened a lot of interest in the subject throughout the country. The agitation for Compulsory Primary Education continued and in 1918 Shri Vthalbhai Patel moved a bill in the Bombay Assembly for the introduction of compulsory Primary Education in the Municipal areas. The Bill was passed by the Legislature. ~~The Compulsory Primary Education in the Municipal areas. The Bill was passed by the Legislature.~~ The Compulsory Primary Education Act of 1918 is popularly known as "Patel Act." Under this Act, the Municipalities could introduce free and Compulsory Primary Education in their areas with the sanction of Government subject to certain conditions. Most of the Municipalities realised that the additional expenditure involved in the scheme of compulsion was beyond their budgetting capacity unless substantial aid was forthcoming from Government. The only Municipality in the four Kannad districts that introduced the scheme was Byadgi Municipality in Dharwar district. The Municipalities at Athani (Belgaum district) and at Haliyal and Honawar in the North Kanara district made primary education free but not compulsory.

One other question that engaged the attention of the Local Boards, Municipalities and of the Government was that of the salaries of primary teachers. Even prior to 1881-82, it was the earnest desire of the Director of Public Instruction to recruit the best available talent into the Teaching profession. The undaunted and courageous fight put up by Sir Alexander Grant in respect of the higher posts in the Department has been already referred to in the previous chapter. The salaries of primary [illegible]

"Code pay" i.e. pay mentioned in the Training Code. With the introduction of the "Code pay" there was satisfaction all round. The Indian Education Commission, 1882 passed the following remarks on the position of Primary teachers in the Bombay State:-

"....it appears that 59 percent of them (teachers in the cess schools) receive salaries not exceeding Rs.10 a month. All who are permanently engaged on a salary exceeding Rs.10 are entitled to pensions payable from local fund revenues. Those masters, moreover, who have been instructed in the Normal schools receive, in addition to the minimum pay named in their College certificates, an allowance calculated on the results of the annual examination of their schools and on the average attendance of their pupils during the year. This system of payment by results works fairly well. It enables the trained master of a large and flourishing school to almost double the minimum pay of his rank; but there is a certain draw back to the system in the varying attendance of the village schools, in consequence of which the income of the master is affected by causes independent of his merit. The highest monthly pay given to the Headmaster of any primary school rarely exceeds Rs.60 a month, but teachers of long and approved service are eligible for Assistant Deputy Inspectorships, the pay of which post is Rs.75. The prospects of a Vernacular school-master are not considered to be equal to those of an officer of similar status in the Revenue Department. Still the former occupies a respectable position in native society. In ninety schools out of a hundred, he is a Brahman. In the rural districts he is often chosen to manage the village post-office, by which arrangement he secures additional pay and importance; and in towns he is not unfrequently a member of the Municipal Committee. On the whole, it may be said that the cess schools have succeeded in attracting a competent class of men whose position secures respect for the office of the schoolmaster, and who in point of education and intelligence are rather above the average of subordinate officers in other branches of the public service." 1

The situation changed considerably during the period 1881-82 to 1921-22. The monopoly of Brahmans to be teachers no longer held ground as teachers were recruited from other Hindu communities including Depressed classes, Christians and muslims. The society did not give the non-Brahman teacher the same respectful place that it gave the Brahman teacher previously because of his high caste. The starting salary and the prospects of promotion were brighter in the other Departments of Public Service than in teaching. In their anxiety to expand the facilities of primary Education to as many villages as possible, both the Local Bodies and the Government [illegible] [illegible] the question of improving the salaries [illegible]

[illegible] 1[illegible] p. 116.

salaries of teachers. Even the "Code pay" was not being paid to a large number of teachers since every school carried a fixed grade (monthly salary) depending upon its size and importance and the teacher working in the school would get the fixed grade of the school irrespective, of his qualifications. The unprecedented rise in the price of foodstaffs caused on account of the visitations of Plague and Famine for over a decade from 1896 and of World War of 1914-18, the plight of Primary teachers became very precarious. The Director of Public Instruction described continuously in his annual Reports of the pathetic plight of the teachers. In his Report of 1909-10, he quoted the current popular saying, "If begging fails, learn to be a teacher." 1

The post of a primary school teacher was held in such ridicule by the society. Efforts were made between 1903 and 1915 to increase the salaries of untrained assistants and headmasters and to give "Code pay" to all trained teachers. The incremental scales of pay were introduced for the first time in 1919. "These varied from Rs.15 to Rs.40 for the first year trained, from Rs.20 to Rs.25 (This figures should, it seems, read 55 and not 25) for the second year trained and from R.25 to Rs.75 for the third year trained teachers." 2

War allowances were also sanctioned in addition to pay. In 1920, the starting pay of the scale was raised but the scale was not altered. The position of the teacher was thus improved to a very great extent. The hope of getting a better type of Primary teacher revived by the end of 1921-22 but the wrong people recruited during the intervening period remained in the Department. The damage caused to primary education as a result of delayed action in giving reasonable salaries to teachers and thereby preventing the entry of the talented and adequately qualified persons into the Department cannot be measured but has only to be imagined.

The Government of India Act, 1919, introduced in the Provinces the form of Government known as "Diarchy". Education became a 'transferred' subject under this arrangement. The Department had to be handled by an Indian Minister responsible to the Legislature with a majority of elected members. The progress of Boys' Primary Education at the end of 1921-22 i.e. prior to the handing over of the Department to the popular Minister was as follows:-

There were 2011 Boys' primary schools (13 Government, 1480 Local Board, 122 Municipal, 395 aided and one unaided) with 1,28,371 pupils of whom 13410 were in Upper primary standards. The districtwise details are given in Annexure-2.

---

1. Report of the D.P.I. 1909-10, page 38.
2. [illegible] in Bombay State 1855-1955 Government of [illegible]

Girls' Primary Education and Training of Women Teachers.

The Departmental Boys' Primary schools were first established in 1826 at Dharwar and Hubli. It is nearly after 40 years that schools for girls were started. In 1881-82, there were only 47 girls' schools (41 Government and 6 aided) with only 2595 girls of whom 259 were in Upper primary classes. The social conditions prevailing at that time were not favourable to the education of girls. The European officers in general and those of the Education Department in the Bombay Province in particular did not want to venture in this delicate area. Though social reformers like - Mahatma Phule were fighting the cause of girls' education in Poona, Bombay and other places in the Bombay Province, no such activity was seen in the Kannad districts. Except the few Missionary schools Indian private enterprise in girls' education was practically non-existent. The few sporadic efforts made were not successful for want of funds and public support. Under the circumstances, the schools for girls had to wait till Government made itself bold to establish them. Special incentives had to be created for encouraging girls to attend schools. Mr. Jardine of the Civil Service, Dharwar was the first to deposit a sum of Rs.1000, the interest from which was to be used for award of prizes to girls winning in the an open competition. The Jardine prizes, though originally restricted to Dharwar school, were thrown open to Hubli schools as well.

The greatest hurdle was the availability of women teachers. Women desiring to get themselves trained had to attend the Colleges at Poona or Kolhapur. Some women did brave the situation as seen from the Report of the Director of Public Instruction for 1886-87, "The Inspector for the Southern Division reports that the Local Board schools at Nandgad, Bailhongal, Abbigeri, Ron, Guledgudd and Honawar and the Hindustani class at Ankola are doing well. The school at Nandgad is under a trained mistress, and two assistants holding public service certificates have been employed as Assistants at Bailhongal and Nalawadi. The Municipal school at Kumta has a trained mistress and is well spoken of; qualified assistant mistresses are employed at Dharwar and Hubli; the two schools at Hubli and the schools at Athani, Dharwar and Betigeri are doing well. In the Native States the schools at Sangli, Miraj, and Jamkhandi are under trained mistresses and the Kolhapur schools are under the supervision of the Lady Superintendent. The school at Laxmeshwar is said to be a good one.....The Inspector remarks that the Mission schools are well managed and have the special advantage of occasional visits, from European ladies, while the private school at Belgaum, the only aided institution under Native management is carefully looked after and is in a fair condition." 1

---

1. Report of the [illegible] D.P.I. 1886-87, page 56.

By 1891-92, the girls' education slowly progressed; there were 69 girls' schools (39 Local Board, 26 Municipal and 4 aided) with 4030 pupils of whom 503 were in Upper classes. Separate figures for the number of girls in Boys' schools in the four Kannad Districts are not available. The Director of Public Instruction however stated: "Adding the girls in Boys' schools, the Inspector shows that the number of girls at school in the Southern Division is 15184.....".[1]

The Southern Division included the Collectorates of Ratnagiri and Kolaba and the Indian States of Kolhapur, Miraj, Sangli, Jamakhandi, Savanur, Ramadurg, Laxmeshwar and Mudhol besides the four Kannad districts. There were in all 7064 girls studying in girls' schools in the entire Southern Division of whom 4030 were in the four Kannad districts, i.e. roughly in the ratio of 7 : 4. There were in all 8120 girls in Boys' schools in the entire division. Presuming that 4 girls out of every seven were studying in the Kannad districts, there would be 4640 girls studying in Boys' schools. So the total number of girls at school in the four Kannad districts was about 8670.

In 1895-96, the Local Board, Dharwar opened a Training school for women at Dharwar. An attempt was thus made to meet the long-felt need. The Director of Public Instruction reported in 1897-98: "The Training school for Women at Dharwar is doing good work in a modest way, six women are being trained there, who have been very carefully selected, and all of whom are apparently suitable persons to become teachers. The experienced master of the Dharwar Municipal Girls' school No.I manages the class and Mr. Karandikar, the Principal of the Training College, supervises and directs it, and there is, I think, every prospect that, so long as it is managed quietly and on proper lines, it will continue to prosper and develop." 2

In 1902-03, the Director of Public Instruction wrote: "The small Normal school at Dharwar for mistresses had only 9 pupils, but does useful work in a quiet way. Proposals have now been made to develop the institution and enlarge its scope and there is every prospect that with care and patience an efficient and reliable training institution for women will be gradually created

The small number of women teachers trained by the Training school took up their positions in various girls' schools. By 1902-03, there were 77 schools (37 Local Board, 32 Municipal and 8 aided) with 3750 pupils of whom 480 were in Upper classes. The number of girls in boys' schools had also decreased. The fall in numbers was solely due to the virulent epidemic of plague that overtook the country continuously from 1896. The [illegible] figures of 1902-03 are given only to show the extent of set-back that

[illegible]

that Educational extension and development received due to the twin visitations of plague and Famine. The epidemic of plague in particular played havoc in the country for over a decade continuously.

There was a separate syllabus for girls' schools, in which Needlework was included. It was initially a four-year course. By 1921-22 it became a seven year course (i.e. Infant class plus standards I - VI). The Training Colleges for Women had no uniform syllabus in the beginning. Each College had its own syllabus and its rules for admission and for entrance examination. Uniform syllabus and rules of admission were soon worked out and those who passed the primary fifth standard were admitted to the Training Colleges.

In 1903-04, the Local Board's Training school for Women at Dharwar was taken over by Government. In 1904-05, a two-year course of training was introduced and the strength of the school rose to 24. In 1907-08, the institution was upgraded as a full-fledged Training College for Women on par with those at Poona and Ahmedabad and the College was placed in charge of an European Lady Superintendent. In that year, a Brahmen widow trained at the College was awarded a scholarship to study in Maharani's High School, Mysore as there was no girls' High school in any of the four districts of Karnatak. By 1913-14, the College had made great strides. The Director of Public Instruction wrote:- "115. In the Dharwar Training College for Women, the number of students increased from 52 to 65, of whom one was a Mahomedan and another a Dhed. At the Certificate examination in October, 16 passed; a third year class was instituted with 10 on its roll; The output of trained teachers for the year was three, of whom one secured a second year certificate. The Inspector considered that the College had been efficiently administered by Miss McAfee. The staff was considerably strengthened, more especially by the addition of Miss Fielding who rendered very great assistance to the Lady Superintendent. Of the 65 students, 57 reside in the hostel, where a boarding house was opened for Brahmins and those who can dine with them. English classes are held for girls of the Practising school who do not wish to enter the College, and for married ladies of the town. The Teachers' Association started by Miss. Newland had 58 members, and did some useful work. The students were taken on excursions to Hubli, Dhdhasagar, Bijapur, Sitimani, Badami and Gadag. The number of pupils in the Practising school declined from 200 to 163." [1]

The Training College was gradually becoming a centre of Women's educational activity. The impact of its activities could not but be noticed in the increase of girls' schools and pupils. [illegible] Kannad districts [illegible]

[illegible]

girls' schools (1 Government, 129 Local Board, 47 Municipal and 12 aided) with 11490 pupils of whom 771 were in the Upper primary standards. The districtwise or Divisionwise figures of girls studying in the boys' primary schools could not be available. The total number of girls under instructions in the boys' and girls' primary schools together in Bombay Province was 1,46,210 of whom 96,721 were in girls' schools.[21] Roughly, one-half of the number of girls in girls' schools were under instruction in the Boys' primary schools. With this basis, the total number of girls under instruction in the four Kannad districts was roughly 17235.

The War of 1914-18 once again created financial difficulties and consequently there was a lull in educational activity. Soon after the War, the Government of India continued the sanction of liberal grants for the promotion of Primary education. By 1921-22, there were 229 girls' schools (2 Government, 155 Local Board, 56 Municipal and 16 aided) with 16926 girls of whom 512 were in Upper primary standards. The total number of girls under instruction including those in Boys' primary schools was 27739 of whom 594 were in Upper primary classes. The districtwise details are given in Annexure. 8.

The Training College for Women, Dharwar, had on its roll 126 students as on 31st March 1922. The staffing of schools by women teachers, a majority of whom were trained, had improved considerably. 67 Local Board Girls' schools out of 155 had Headmistresses of whom 59 were trained. Of the 62 assistant mistresses, 29 were trained. 40 Municipal girls' schools out of 56 had Headmistresses of whom 38 were trained. Of the 146 assistant mistresses working in Municipal schools 40 were trained. There were, however, a large number of unqualified and untrained mistresses working in various schools who were perhaps recruited in the early period when qualified teachers were not available. They numbered 57 out of 186 in Municipal schools and 17 out of 129 in Local Board schools. The percentage of trained Women teachers was as high as 52.4 (166 trained out of 315 teachers) while the percentage of trained men teachers stood at 76.9 (3055 trained out of 3970 men teachers.) When we consider the fact that the Training College for Men was started in 1856 while the Training College for women was opened in 1896 (i.e. after a lapse of 40 years) it must be said that the trained element in the Girls' schools augured well for the future.

Secondary Education.

Secondary Education had made a modest beginning in the four Kannad districts by 1881-82. Belgaum district had two High school (one Government and one aided), Dharwar and North Kanara districts had one Government High school each. Kaladgi district had only a [illegible]

[illegible]

21. [illegible]

it as a High school had not yet been approved by Government.

The Indian Education Commission 1882 made the following observations on the state of Secondary education in the Bombay province.

" The grant-in-aid system of payment by results was introduced in 1855; and missionary institutions were then for the first time made eligible for grants-in-aid. The system was soon declared to be suitable only for schools of secondary instruction, in the promotion of which Government might reasonably demand fuller cooperation and readier initiative on the part of those who were to be benefitted by it. Still, for one cause or another, very little advantage was taken by the people of the opportunities of education which the system afforded. The limited operation of the schme was charged partly to the want of enlightenment of the native community and partly to the numberical weakness of the missionary bodies ...... Compared with some other Provinces, the development of Secondary education during this second period (1854-71) must be pronounced to have been weak; on the other hand, the policy of the Government was avowedly and strongly directed during the same period to the claims, and its efforts to the extension, of primary education." [1]

During the period 1871-to 1882, it was the policy of the Government to ultimately supply each district with a High school but by the end of 1882, they could establish only 19 High schools. The policy of the Department in respect of Middle schools (i.e. Vernacular schools with an attached English class) had been to discourage the opening of such schools unless the people came forward to bear the additional cost of their maintenance. Whenever the people were unable to pay the salaries of the English teachers, the Middle schools closed down as it happened during the famine years of 1877-79. The Commission recommended:

"That it be distinctly laid down that the relation of the State to Secondary is different from its relation to primary education, in that the means of primary education may be provided without regard to the existence of local co-operation, while it is ordinarily expedient to provide the means of Secondary education only where adequate local co-operation was forthcoming; and that, therefore, in all ordinary cases, secondary schools for instruction in English be hereafter established by the State preferably on the footing of the system of grants-in-aid." [2]

The Commission further recommended:-

"that whilst existing State institutions of the higher order should be maintained in complete efficiency wherever they are [illegible] [illegible] of institutions [illegible]

[illegible] page 197.

under private managers be the principal care of the Department."
"That, in ordinary circumstances, the further extension of Secondary education in any District be left to the operation of the grant-in-aid system, as soon as that District is provided wit an efficient high school, Government or other, along with its necessary feeders."
"That if in any Province the management of Government schools of Secondary instruction be transferred either to Municipalities or to Local Boards or to Committees appointed by those bodies, encouragement be given for the subsequent transfer of the schools concerned to the management of associations of private persons combining locally with that object, provided they are able to afford adequate guarantees of permanence and efficiency."
"That a periodically increasing provision be made in the Educational budget of each Province for the expansion of aided institutions."
"That grants be paid without delay when they become due according to rules." [1]

It is seen from the recommendations of the Commission that the Government had a very limited responsibility in the extension of Secondary education. It was clear that such extension was possible only when local effort was brought into action in that direction. Unfortunately for the four Kannad districts, such an awakening had not taken place by 1882. The progress of Secondary education, therefore, depended upon Governmental as well as Missionary effort.

Bijapur High school. In 1884-85, the District headquarters was shifted from Kaladgi to Bijapur and the district got its present name, Bijapur district. A first-grade Anglo-Vernacular school was opened at the district headquarters. In accordance with the policy of having one Government High school in each district, the Inspector urged for the opening of a High school at Bijapur. The proposal was ultimately sanctioned in 1889-90 and Bijapur High school presented candidates for the Matriculation Examination that year. With the sanction of this High school, all the four Kannad districts had one Government High school each.

Private effort in Secondary education. By 1882, only the London Mission High school, Belgaum had reached the High school standard. It was presenting candidates for the Matriculation examination earning thereby a fair amount of credit also. There were other Missionary bodies which were running secondary schools but some of them were hesitating to offer their institutions to Departmental inspection and aid. By 1891-92, there was only one additional aided High school at Dharwar, the Basel Mission High school, Dharwar (1889-90). The Victoria High school, Dharwar [illegible] list of High schools in 1887-88 and it [illegible]

[illegible] pages 476-477

year and obtained very creditable results. The school, however, did not, it seems, maintain its progress and it was removed from the aided list in 1889-90. Among the Indian States in the Karnatak region, Jamkhandi had a High school and in 1890-91, it presented candidates to the Matriculation examination for the first time.

The Local Boards and Municipalities which had been entrusted mainly with the primary education in their areas by the Acts of 1884, felt the need to attach English classes to their schools. Such classes were known as 2nd grade Anglo-Vernacular schools. Besides, there were schools for Europeans and Eurasians aided by the Department. There were also English-teaching schools run by the Missions. There were some Secondary schools run by private bodies which were not aided by the department as they did not come up to the standards prescribed by the Department.

By 1891-92, there were 7 High schools (4 Government, 2 aided, 1 State), 6 Local Board, 2nd grade boys' Anglo-vernacular schools, 1 Municipal 2nd grade Girls' Anglo-Vernacular schools and 8 unaided Anglo-vernacular schools. The Indian States had 7, 2nd grade Anglo-Vernacular schools. There were in addition 3 aided schools (1 boys' and 2 girls') for European and Eurasians and 4 aided English-teaching schools (3 boys' and 1 girls). The number of students in Secondary schools, both aided and unaided was 2545 of whom 1353 were in High school classes. The number of students in European and Eurasian and English teaching schools was 459 of whom 9 were in High school classes. ~~The details are given in Annexure....~~

<u>Training of Secondary school teachers</u>; The Bombay Government had given a high priority to the training of primary teachers; but, strangely, the training of secondary school teachers was considered not at all necessary. Mr. Howard, the Director of Public Instruction, did not regret "the absence of technical instruction in the art of school-keeping."[1] Sir Alexander Grant, the most distinguished educational officer that ever came to India considered that the University was "the great normal school for Assistant High school masters."[2] The Indian Education Commission 1882 observed: "No special College exists for the training of teachers for secondary schools. The Headmasters of High school are generally graduates of the University; those of middle schools are either University men or officers who have distinguished themselves as teachers in lower appointments. The Assistant masters of Secondary schools are men who have been trained either in High schools or in Colleges. Newly appointed teachers in departmental schools are generally required to serve for a

1. Report of the D.P.I. 1862-63, page 35.
2. Report of the D.P.I. 1866-67, page [illegible].

a year or more in one or other of the larger high schools, in order that they may learn their duties under the eye of the most experienced headmasters of the Presidency. It is therefore, urged that the first grade high schools discharge the functions of the training colleges; and as this plan is believed to have been successful as well as economical, the Provincial Committee deprecate any change of system." [1]

The Commission, however, recommended: "That an examination in the principles and practice of teaching be instituted, success in which should hereafter be a condition of permanent employment as a teacher in any Secondary school, Government or aided."

"That graduates wishing to attend a course of instruction in a Normal school in the principles and practice of teaching be required to undergo a shorter chourse of training than others."[2]

Inspite of these recommendations, the Bombay Government stuck on to its own method of training newly appointed teachers and did not bother about either holding an examination or of establishing a Normal College for training Secondary school teachers. The Government of India, however, continuously suggested that regular provision for the training of secondary teachers should be made. The Bombay Government chose to hold an examination for secondary school teachers as recommended by the Commission. They instituted the examination named as "Secondary Teachers' Certificate" examination under Government Resolution Educational Department No.24 of 10th January 1899.[3] The first examination was held in August 1899 at all Divisional Headquarters. This examination has been popular with the secondary teachers ever since its introduction because of its two main advantages;

i. He has not to incur expenses which he has to do if he has to attend a Normal College.

ii. He has an opportunity to learn the technique of teaching and get official recognition of his having done so.

Lord Curzon in his famous Resolution of 1904 placed a great emphasis on teachers' education. He also released grants on a very liberal scale to enable the Provincial Governments to give effect to his suggestions. In January 1906, the Secondary Training Colleg Bombay was established for the regular training of secondary - teachers. The first batch consisted of 35 students of whom only 5 were teachers from aided schools. The College was not affiliated to the Bombay University. At the end of the training, the students who passed the tests were awarded a Diploma known as Secondary Training College Diploma (S.T.C.D). It was in 1920 that the Colleg was affiliated to the Bombay University for the purposes of the degree of the Bachelor of Teaching. The first examination for Part I of that degree was held in [illegible]. Thus, the training of Secondary teachers which was neglected till the end of the [illegible] century was [illegible]

1. [illegible], page 277.

[illegible]

was at last provided for. The professional training received the recognition of the University in 1920 and the one great lacuna in Secondary education was removed.

<u>The scholarship system.</u> The Bombay Native Education Society, whose main object was to popularise English education among the people, charged no fees in their schools. They also tried to institute scholarships for poor students. The Board of Education changed the policy. They started levying fees and granted some free studentships also. Mr. Howard fixed the upper limit of the free studentships. This limit varied from time to time from about 20 percent to about 5 percent. However, there was no such restriction on the private schools. The amount spent on scholarships was very meagre even though the Despatch of 1854 had directed that a system of scholarships should be instituted in order to enable poor but deserving students to join schools of a higher class. The Indian Education Commission, 1882 reviewed the position of free-studentships and scholarships in the Bombay Province and observed:-

> "The Despatch of 1854 directed that 'the best pupils of the inferior schools should be provided for by means of scholarships in schools of a higher order, so that superior talent in every class may receive that encouragement and development which it deserves.' This instruction has not been literally or uniformly carried out.......
>
> The first object of a scholarship system is met in Bombay by the constitution of the primary school, which is complete in itself upto the point where Secondary education commences. As almost all the primary schools are departmental, the Department is able to institute free studentships, and these provide sufficiently for the wants of poor pupils who find in the village school the best primary education which the State can supply. It is at the stage where the primary school is quitted for the middle school that the need for a scholarship system begins to be felt in Bombay. Here again a provision for free-studentships for promissing boys is made, but a scholarship system is meant to do more than meet school fees; it is intended to meet also the extra cost of leaving home and of studying at the middle class school. In Bombay, the provision of scholarships at this stage is very small. The Bombay Department argues that....... its policy is to economise in secondary education, and so long as the schools maintained by the Department are filled, it would be a waste of money to supply scholarships. ......
> Whatever may be the advantages of the Bombay system, it does not provide all those facilities for poor or clever pupils which the Despatch of 1854 advocated. Moreover, the absence of a liberal scholarship system in that Presidency prevents [illegible]
> [illegible] encouragement

encouragement and assistance which, as we have pointed out, can be so naturally supplied by a chain of scholarships."[1]

The Commission recommended:-

"That in all Provinces the system of scholarships be so arranged that, as suggested in the Despatch of 1854, they may form connecting links between the different grades of institutions."

"That scholarships payable from public funds, including educational endowments not attached to a particular institution, be awarded after public competition without restriction, except in special cases, to students from any class of schools."

"That scholarships gained in open competition be tenable, under proper safeguards to ensure the progress of the scholarship holder, at any approved institution for general or special instruction."

"That the attention of the Government of Bombay be invited to the fact that, while the Despatch of 1854 provides for the creation of both free and stipendiary scholarships tenable in Government and private schools alike, almost exclusive stress is now laid in that Presidency upon free-studentships and that stipendiary scholarships are confined to students of Government schools."[2]

The Government of Bombay introduced a system of scholarships to be awarded by open competition for studying in both the Middle schools and the High schools. The rules of the scholarship examination were notified in 1887-88.[3] Under this system one competitive examination named as Middle school scholarship examination was to be conducted for students in the Primary standard IV so that the awardees may study for three years in a Middle school. The value of the scholarship was Rs.3/- per month tenable for three years subject to satisfactory progress, regular attendance and good conduct. The other competitive examination named as High school scholarship examination was to be conducted for students reading in the third year of the secondary course. The value of the high school scholarship was Rs.5 per month ~~xxxx~~ tenable for four years subject to regular attendance, satisfactory progress and good conduct. The districtwise distribution of the sets of scholarships in the four Kannad districts was:

Name of district	No.of sets of Middle school scholarships	No. of scholarships	No. of sets of the High school scholarship.	No. of scholarships
Dharwar	3	9	3	12
Belgaum	3	9	3	12
Bijapur	3	9	3	12
North Canara	2	6	2	8
Total	11	33	11	44

1. Report of the Indian Education Commission 1882, pages [illegible]
2. [illegible]
3. [illegible] 1887-88, Appendix [illegible] the detail [illegible]

Of the three scholarships, one was open, the other for the Intermediate classes and the third to the Mahomedans.

The Director of Public Instruction reported in 1888-89 that "the Government scholarship scheme is working well."[1] These scholarships helped the talented students from the Intermediate class Hindu communities and from the Muslims to prosecute education in the secondary schools.

Public Service Examinations and Non-literery pursuits: The Indian Education Commission 1882 observed that Secondary education was too academic and matriculation-oriented. They recommended:

"That in the upper classes of High schools there be two divisions- one leading to the Entrance examination of the Universities, the other of a more practical character, intended to fit youths for commercial or other non-literary pursuits."

"That when the proposed bifurcation in the Secondary schools is carried out, the certificate of having passed by the final standard, or if necessary by any lower standard, of either of the proposed alternative courses, be accepted as a sufficient general test of fitness for the public service."[2]

The Government of Bombay accepted these recommendations and a "School Final Examination" was instituted in 1889 and the University was entrusted with the conduct of the examination. The examination called "Public Service Examination Ist grade" held at the end of Anglo-Vernacular standard V, was named as "Public Service Examination, 2nd grade" as the "University school Final Examination" was deemed to be a Public Service Examination of the Ist grade. The University conducted the "University school Final Examination" till 1904. As the University was conducting both this and the Matriculation examination, the timetables of the two examinations were so arranged that a student could appear for both the examinations in the same year.

The Indian Universities Commission of 1902 recommended "that 1) the conduct of a school final or other school examinations should be entirely outside the functions of a University, that 2) Universities would benefit if the Matriculation were no longer accepted as a test for service under Government and if a school final examination were substituted as qualifying for admission to professional examinations, and that 3) it would be advantageous if the school final could be made a complete or at least a partial test of fitness to enter upon a University career."[3]

The "School Final Examination" was handed over to the Department in 1904 and the Department conducted it till 1918. Some changes were made in the curriculum. The Department allowed the use of the regional languages as the media of instruction and of examination.

1. [illegible] 1888-89, [illegible]
2. [illegible], page [illegible].
3. [illegible] State [illegible]-1955, Government of

To popularise the examination, it was also declared that the School Final Examination and not the Matriculation would qualify a candidate for Government service.

In 1919, a Joint Examination Board was formed consisting of the representatives of the University as well as those of the Department. However, the examination never became popular because of the domination of the Matriculation. It was ultimately abolished in 1930.

It is already seen how Sir Richard Temple, H.P. the Governor of Bombay strongly advocated the teaching of Drawing and Agriculture in the High schools. Drawing was introduced in all Government High schools. The Government High schools at Karwar, Dharwar Belgaum and Bijapur regularly presented candidates for the Ist and 2nd grade (later named as Intermediate and Elementary grade in 1915-16) Drawing examinations conducted by the J.J. school of Art, Bombay. The students' performance at those examinations was highly satisfactory. Drawing was later made a compulsory subject in all Secondary schools and a separate post of Inspector of Drawing and Craft was created in 1914-15. Separate grants were paid for the teaching of drawing from 1915-16.

An Agricultural class was attached to Sardars' High school, Belgaum. It was one of the nine classes in the Province. The work of the students of Belgaum High school was continuously commended by the Inspecting Officers. The College of Science, Poona, to which an agricultural class for higher instruction in agriculture was attached, conducted two grades of examination in agriculture for the students of agricultural classes attached to High schools. The Belgaum students' performance at those examinations was highly satisfactory. The Government had also declared that candidates passing those examinations should have preference over other matriculated candidates for entry into the public service. Inspite of this, the agriculture course was not popular with the High school students. The agricultural farm of the Belgaum school was ultimately handed over to the Local Board in 1690-91. Thus, the first attempt to give an agricultural bias to secondary education failed.

There was a Manual Training Class attached to Sardars' High school, Belgaum. This class was working very efficiently and was very popular also. A manual training class was started at Government High school, Karwar in 1907-08. In the same year, a weaving class was started in Sardars' High school, Belgaum. A sloyed training class for teachers was started, at Sardars' High school, Belgaum but it was closed after a year because of the economy drive necessitated by the World War of 1914-18. The teachers trained at this class worked as sloyd instructors. Sloyd classes in [illegible] sloyd and Wood sloyd were instituted at [illegible] [illegible] Government High schools in [illegible]. [illegible] [illegible] to give [illegible] to students studying

studying in High schools.

Physical and Moral education was one aspect of education which had not found a place in our school programmes. Mr. Miller, the Headmaster of Sardars' High school, Belgaum was a very strong advocate of Scouting. He is in fact, the father of the "Scout movement in the Bombay Province. He considered that Scouting was the best medium through which moral instruction could be introduced in schools. Miller's Scouts had earned high reputation and hence the Scout movement became popular in the Karnatak region. In 1919-20, Mr. Miller was placed on special duty to coordinate and extend the Scout Movement in the entire Bombay Province. In 1920-21, the post of a Provincial Scout Commissioner was created for a period of 2 years in the first instance and Mr. Miller was appointed to that post. Scouting thus became a regular feature of school activity. The Karnatak region always remained in the forefront in Scouting since Bombay Scouting had its birth in Belgaum.

Games like cricket and football had already made their entry into the schools. The European officers took great interest in them. Mr. Glee at Karwar coached up in cricket the students of Karwa High school. There was, however, no regular programme of physical training in which all the students of the school were involved. Mr. Wren, one of the Educational Inspectors, was placed on special duty in 1913-14 to plan and improve the conduct of Physical training in schools. Persons trained at the Petit gymnasium, Bombay, were appointed by some schools to work as gymnasts. The Government schools at Belgaum, Dharwar and Bijapur had gymnasium buildings constructed for them. The Karwar High school had an open-air gymnasium for a long time. Playgrounds were secured for all the Government schools and while recruiting teachers, preference was given to persons who had proficiency in games, other things being equal. The Government schools functioned as models for private schools and hence they introduced as far as possible all the activities conducted in Government schools. The Director of Public Instruction reported in 1919-20:

"Two boys of Belgaum High school won, one a medal and the other a shield for wrestling in Deccan Gymkhana tournament (Poona). Three boys of the Bijapur High school secured first class certificates at the Petit Central Gymnasium, Bombay."[1]

The post of a Director of Physical Education was created in the Bombay State in 1919-20. This shows the great importance given by Government to the physical development of students. Physical training, gymnastics (Malkhamb, parallel bar, single bar, Horse etc) and games were a regular feature of school physical activity. A tennis court was made for the Training College for Men Dharwar and teachers at Dharwar vigorously participated in these games. Thus a bright beginning was made for the physical development [illegible]

[illegible]

development of the students. The non-literary pursuits of student embraced Drawing, manual training, physical and gymnastic training games and Scouting. Music classes were ~~xxkx~~ also conducted in Dharwar High school. The school-life of students was made rich and attractive by the introduction of those activities.

The Growth of Private Enterprise in Secondary Education.

The Commission had recommended the State withdrawal from higher education, once a high school was established in each district. There was, therefore, no question of starting any more Government Secondary schools, since four High schools had already been established at the four district headquarters. The Missions which were given the benefit of the grant-in-aid system after 1865 began developing their institutions to the high school standard and by 1891-92, two of the Mission High schools were already on the aided list. The Indian managements were struggling hard to fulfil the conditions of the grant-in-aid code and to place themselves on the aided list. By 1902-03, not one had succeeded. The epidemics of plague and famine created conditions of depressions and private enterprise naturally received a set-back. The student strength in the well-established Government and Mission institutions had decreased considerably on account of the epidemics. The new private schools under Indian managements had, therefore, to ma time for establishing themselves firmly.

Lord Curzon considered that the grant-in-aid system of payment-by-results was quite unsuitable for Secondary education. The Commission of 1882 had already declared it unsuitable for Collegiate education. He suggested that the uncertainty of fixed grants involved in the system made it unacceptable and hence it should be replaced by a system which would guarantee the managements a minimum fixed quantum of grants from year to year. The system of payment-by-results was abolished and a new grant-in-aid code was evolved. "It is laid down that the Government grant shall in no case exceed one-third of the total expenditure or one-half of the local assets for the previous year; this is the maximum grant and this limit can never be exceeded. In assessing the grant, the following six points are taken into consideration. (1)buildings and equipment, (2) Attendance, including regularity of attendance, (3)Adequacy and qualifications of teaching staff,(4) Range and quality of education given, (5)Discipline and conduct of students, (6) Provision for recreation and exercise...... It is not necessary that a school should ideally satisfy the requirements, and which are perfect in every respect. For perfection is unattainable, and due allowance has to be made for the difficulties against which Managers have to contend. On the other hand, it is usual to look for a higher degree of efficiency in full-course High schools, which are expected to possess adequate [illegible] apart from their income from fees and Government grant [illegible] Anglo-Vernacular schools, in the case of which [illegible] such

such a requirement cannot reasonably be so strictly enforced and on whose behalf it is necessary to make full allowance for local conditions. It thus happens that the grants to High schools do not as a rule so nearly approximate to the maximum amount as they do in the case of smaller Anglo-Vernacular schools. Furthermore, it is not admitted that any school can claim the maximum grant as a right, for consideration must be had for the amount of the funds at the disposal of Government, which are not adequate to provide for the award of maximum grants to all the large High schools under private management......The grant once assessed is ordinarily continued to a school from year to year, if the conditions on which the grant was assessed are maintained. Reassessment of the grant is admissible on the application of the Managers, provided that the Department recognises that the existing grant is inadequate, and has funds available to meet the application. Similarly, it is laid down in the Code that the grant will be reduced, after due warning being given, if it is found that the conditions on which the grant was assessed are not duly maintained and that the school has deteriorated in general efficiency."[1]

Another important change that was effected as a result of Lord Curzon's Resolution of 1904 was the registration of all Private schools irrespective of whether they were aided or otherwise. The schools which were not aided but registered came under the category "recognised but unaided". For recognition of schools, the conditions prescribed were very exacting. All the six points mentioned above had to be satisfied by the school. These recognised schools only could present candidates for the public examinations including scholarship examinations. Students from unrecognised schools were denied admission to the departmentally recognised public schools.

The Indian managements in the Karnatak region which were just stepping into the field of secondary education had to surmount all these difficulties before they could secure recognition and aid. However, the pioneers of the Deccan Education Society, Poona, had set up a noble example of service and sacrifice for the cause of spreading higher education among the people. The spirit had spread over the entire Province. People prompted by patriotism were not wanting in the Karnatak region. The Municipalities also took keen interest in developing Secondary schools in their areas. By 1913-14, Victoria High school, Dharwar and Gibb High school, Kumta under private Indian managements, Lamington High school, Hubli managed by the Hubli Municipality and Bassel Mission High school, Honawar under Mission management were the new High schools added to the aided list. St. Paul's High school, Belgaum was also recognised and aided as an English-teaching High school. The management of the London Mission High school, Belgaum changed [illegible] and

1. Report [illegible]

and the school was named as Methodist Episcopal Mission High school, Belgaum. The Local Board of North Kanara started a second grade Anglo-Vernacular school at Banikoda while the various Municipalities started Anglo-Vernacular schools at Gadag, Navalgund, Haveri, Nargund, Byadgi and Ranebennur in Dharwar district, at Athani, Gokak, and Nipani ~~in~~ Belgaum in Belgaum district, at Bagalkot in Bijapur district and at Sirsi in North Kanara district. The middle schools started under private Indian managements were: Private A.V. school, Alur (Dharwar district), Shrikrishna Pathashala Bijapur(Bijapur District), Hindu school, Karwar, Edward school, Ankola and private English school, Sadashivgad in the North Kanara district. Amongst the Indian states, Jamakhandi had a middle school in addition to the High school; Mudhol, Savanur and Ramadurg had Ist grade A.V.Schools; The following were middle schools were recognised but unaided:

1. Private English school, Honawar } Kanara district
2. New English school, Karwar }

3. New English school, Hubli } Dharwar district
4. Bassel Mission English school, Hubli }

5. B.M. Town school, Bijapur————————————Bijapur district
6. Jackson A.V. school, Bailhongal————————Belgaum district.

The following middle schools were recognised and unaided:

1. George English school, Belgaum }
2. Sidlingaya A.V. school, Sankeshwar } Belgaum district
3. Private English school, Ingali }
4. English school, Savadatti }

5. A.V. School, Talikot, Bijapur district.

In addition, the following middle schools were either European or English teaching:

1. St. Mary's school, Belgaum - European
2. St. Mary's school, Hubli -English teaching
3. M.& S.M. Railway school, Gadag, -do-

The following were the girls' middle schools:

1. Karwar Girls' school run by Karwar Municipality
2. S.M. Railway school, Hubli }
3. S.M. Railway school, Dharwar } European schools
4. S.M. Railway school, Castlerock }

5. Convent school, Belgaum } English teaching schools.
6. St. Joseph's school, Dharwar }

~~The details of strength~~ of pupils etc. in all these secondary ~~schools is given in Annexure....~~ .

The Karnatak region which was lagging very much behind the other divisions of the Province in the field of secondary education was now making earnest efforts to extend facilities of secondary education. The lead in this direction was being given by the Local Bodies and private enterprise was not on the surface yet. However, the High schools both Government and non-Government were getting good results at the Public examinations including the Matriculation. The Director of Public Instruction reported in 1897-98, that a boy of the shepherd class passed the University school [illegible] High school. [illegible] a student of [illegible] of securing the first

rank at the Matriculation examination of the Bombay University. The Director of Public Instruction wrote in 1905-06: "One female student passed Matriculation examination from Karwar High school, an unusual event in the history of a Government High school." 1

In 1908-09, the Director of Public Instruction, wrote: "This is the second time a Hindu girl has passed the Matriculation examination from Karwar High school and she is studying in the Medical College." 2

As there were no High schools in rural areas, students from rural areas generally joined the Government High schools at the district headquarters. The Government of India had sanctioned liberal grants for the construction of hostels. All the four Government High schools were provided with hostel buildings, furniture and equipment and meanial staff such as cooks etc. The hostels were run very efficiently and much attention was paid to the health of the boarders in the hostels. By 1921-22, the Government High schools had become genuinely model institutions with playgrounds, gymnasia, hostels, libraries and laboratories. The other secondary institutions were also trying hard to catch up with the Government institutions.

Though Government was not expected to provide more than one High school in each district, it was not barred from opening schools in special circumstances. The education of Muslims was one of the problems that Government had to solve. The Local Boards and Municipalities which were in charge of Primary Education opened special schools and classes in which Urdu was the medium of instruction. As on 31st March 1922, there were 278 Urdu school and classes in which Urdu was the medium of instruction. As on 31st March 1922, there were 278 Urdu schools and classes with 14469 pupils studying in them. The post of a special Deputy Inspector for Urdu schools was created in 1884-85, one for each division. Previously there were only two special Deputies for Urdu schools for the entire Province. For the training of Urdu teachers a Training school was opened in Hubli. Many Muslim students attended Kannad and Marathi primary schools. Those students as well as those reading in Urdu schools attended the Government High schools where provision was made for the teaching of Urdu and Persian by appointing suitably qualified teachers. There was a demand for the establishment of a separate High school for Urdu-medium students. Government had, in these special circumstances, to establish the Anglo-Urdu High school at Hubli.

Government Anglo-Vernacular Girls' Middle schools at Dharwar and Bijapur. Though there were 200 girls' primary schools with over 20000 girls under instruction, no separate secondary schools for girls were started. [illegible] the Anglo-[illegible] Vernacular

1. Report of [illegible]

Vernacular middle school for girls started by the Municipality at Karwar had been closed. Private managements were not offering to start girls' Secondary schools. Very few girls therefore joined the Boys' Secondary schools. This was therefore an area where Government had to step in. Government established two Anglo Vernacular Middle schools for girls at Dharwar and Bijapur and thus gave a lead to girls' secondary education in the Karnatak region.

European schools and the Cambridge Local Senior Examinations.

A special post of the Inspector of European schools was created in 1904-05 and all European and Eurasian schools were placed under his charge. In the same year, the Cambridge Local Senior Examination was conducted for the first time for the benefit of students from European and Eurasian schools. This examination held in December 1915 was thrown open to students from other schools.

By the end of 1921-22, the state of Secondary education in the four Kannad districts was as follows:-

There were in all 19 High schools (5 Government, 2 Municipal and 12 private aided and unaided) with 6004 pupils of whom 3577 were in high school classes. One of the high schools was a Girls' High school, the Convent High school, Hubli. There were in all 41 middle schools including English-teaching and European schools (2 Government, 11 Municipal, and 28 private aided and unaided) with 3178 pupils of whom 669 were in high school standards. The total number of boys and girls under instruction in Secondary schools was 9182 of whom 4246 were in High school classes. Of these, 496 girls were studying in the girls' Secondary schools. Only 21 out of 496 girls were studying in High school classes. The Indian States of Jamakhandi, Mudhol, Savanur and Shahapur (Belgaum) had a High school each. There were middle schools, one each at Jamkhandi, Ramadurg and Sureban (Ramadurg). In these schools, there were in all 1353 students of whom 598 were in High school classes. The details of all the secondary schools are given in Annexure. 8.

Awakening among Lingayats and other major communities.

From the information furnished in the table on page 95 of the Annual Report of the Bombay Director of Public Instruction for 1881-82, it is seen that Brahmins formed the biggest group of students in Colleges, high schools and middle schools. The following statistics of students studying in Government and aided - institutions will make this clear.

Name of institution	Total No. of students	Total No. of Hindu students	No. of Brahmin students	Percent of Brahmin students to total No of Hindu students.
1. Colleges	[illegible]	609	[illegible]	[illegible]
2. High schools	[illegible]	3622	[illegible]	[illegible]
3. Middle schools	[illegible]	7744	[illegible]	[illegible]

[illegible] the [illegible]

become available. It may be presumed that the statistics of the entire Bombay Province hold good for the Kannad districts also. Lingayats were the biggest group of people amongst the Hindus in Karnatak. They were still very backward in education. With the extension of educational facilities, there was an awakening amongst the Lingayats and efforts were being made by the Community to raise funds for the higher education of their talented children. The Director of Public Instruction reported in 1885-86 that the Lingayat Association at Dharwar has been awarding some scholarships to students. In 1886-87, the Director of Public Instruction reported that the Association had a fund of Rs.73660 and that the Association had awarded scholarships each of Rs.18 per mensem, to 4 scholars at Science College, Poona, and to 3 scholars at the Deccan College, Poona. In 1887-88, the Director of Public Instruction reported that the Association had funds of Rs.80800 and it had awarded 26 scholarships to students studying in high schools and colleges. The value of the scholarships varied from Rs.2/- per mensem to Rs.18 per mensem depending on the stage of instruction. In the same years' report, the Director of Public Instruction stated that the Lingayats were raising another fund which had amounted by them to Rs.15294 for sending Lingayat students to the United Kingdom to study for the I.C.S., Barrister-at-Law etc. These statements from the reports of the Director of Public Instruction indicate the volume of the efforts of the Lingayat Community to provide higher education to their talented children. The pioneers of these efforts will go down in history as the fathers of modern education in Karnatak. It is already pointed out that the Governmental activity in higher education was very much restricted and that the extension of higher education had to depend solely on private effort. There could be no hope of its extension on a massive scale until the major community had built up an organisation to establish and finance higher educational institutions. It is the good fortune of Karnatak that the enlightened members of the Lingayat community became conscious of their responsibilities quite early and laid the foundations of an organisation which had potentialities of such magnitude as to shoulder the full responsibilities of higher education in the entire Karnatak. By 1921-22, the Lingayat organisation had been able to establish a full-fledged High school of its own, the Gilganchi Artal High school, Belgaum.

The Muslims were from the beginning apathetic to modern education. They could not regard education as worthwhile unless religious instruction was provided for. The British were, however, wedded to imparting secular instruction in their public schools. By 1881-82, there were only 18 students in Colleges, 100 students in High schools and 664 students in middle schools. [illegible] of the Muslims will be clear if these figures [illegible] instruction given

given in the table given above. All encouragement was being given to Muslim students both by Government and Local Bodies by way of free studentships and scholarships. The reservations of scholarships for the Muslims in the Government middle and high school scholarships have been already mentioned. There were also some enlightened members of the community who desired to contribute their mite to the promotion of muslim higer education. In 1891-92, the Director of Public Instruction reported the introduction of Kazi Shahabuddin Scholarships. The detailed rules of these scholarships are given in Appendix C of the report. The scholarships were open to Muslim students studying in Colleges preferably at one for each educational division tenable forfour years at Rs.10 per mensem for the first two years and at Rs.15 per mensem for the next two years.

The question of spreading higher education among the educationally backward communities was engaging the attention of Government. The scholarships were already instituted in Secondary schools. In 1920-21, 20 special scholarships of the value of Rs.20 per mensem tenable for four years were instituted for awarding to students studying in Colleges and belonging to communities categorised as "Intermediate" and "Backward". 4 scholarships were instituted for students from Depressed classes. The fact that all these scholarships were being fully utilised by the students showed that there was a gradual awakening in these communities.

In appreciation of the meritorious services rendered by the Konkan Marathas of Ratnagiri, Colaba and North Kanara districts during the World War of 1914-18, Government declared free secondary education to the students of the Konkan Maratha community in the three districts. The Konkan Maratha students in the North Kanara district were benefitted by the Government order.

There was a general awakening amongst all classes of people as a result of the extension of higher education. Free Boarding houses and scholarships were being established by the several communities. All sections of the society were thus engaged in creating facilities for the education of their children to supplement the Governmental efforts.

<u>Collegiate Education</u>: It is seen from the Report of the Director of Public Instruction for 1913-14 that 122 students had passed the Matriculation examination from the four Government High schools (45 from Dharwar High school, 14 from Bijapur High school, 28 from Karwar High school and 45 from Sardars' High school). The numbers passing from the aided high schools are not available in the report. Inspite of such a large number of students passing the Matriculation examination every year, no College was established in the four districts of Karnatak. [illegible] Students from Karnatak had to seek admission in Colleges at [illegible] [illegible] distance and the long expenses

expenses involved in staying away from homes disabled many a Kannad student from entering the portals of the University. The Government would not take any initiative in establishing an Arts College in Karnatak. Rao Bahadur S.R. Rodda, who had retired in 1908 as the Principal of Training College for Men, Dharwar, and who had played a prominent role in creating a consciousness for education in the Kannadigas of Karnatak while he worked in the Educational Department in various capacities, took the lead in collecting subscriptions from the philanthropic public. The Director of Public Instruction in his Report for 1913-14 reported that Rao Bahadur Rodda offered a donation of Rs.40,000 on behalf of the subscribers for the establishment of an Arts College at Dharwar.[1] Unfortunately the World War started and the Kannad population had to mark time till the end of the war to have an Arts College in Karnatak. Ultimately in June 1917, the Government Karnatak Arts College, Dharwar was established and the long-awaited facility was provided for. In 1921-22, the College had a strength of 390 students of whom 104 were in degree classes and the rest in the first year classes.

The Karnatak Education Society, Dharwar, also took a bold lead to start an Arts College. Wrangler R.R. Katti had returned to India after a distinguished career abroad. In June 1920, the Victoria Arts College, Dharwar was established with Wrangler R.R. Katti as its Principal. The College was teaching upto the Intermediate course, and it was recognised both by the Government and the University.[2] It is very unfortunate that this College did not survive long. The College was closed at the end of the academic year 1920-21. The first private enterprise in Collegiate education in Karnatak failed.

<u>Notable events of this period:</u>

1. With the handing over of primary education to the Local Bodies, there was expansion of primary education on a massive scale inspite of the terrible visitations of Plague and Famine. Schools were established in several villages as seen from the following table:

Name of the District	1882		1922	
	Total No. of towns and villages	No. of towns & villages provided with schools	Total No. of towns and villages	No. of towns & villages provided with schools.
Dharwar	1309	301	1277	605
Belgaum	1078	153	1069	410
Bijapur	1154	158	1128	[illegible]
North Kanara	972	83	1264	257
Total	[illegible]	669	[illegible]	1799

[illegible]

The details about pupils under instruction etc. are given in Annexure.S..

The education of the scheduled castes and of the Muslims received special attention. Special schools were started for them wherever feasible. Free student-ships and scholarships, free supply of books and slates were the other incentives provided. A special inspectorate headed by a Divisional Deputy Inspector of Urdu schools was created for the inspection of Urdu schools. Night classes were opened for the benefit of children and adults who could not attend Day schools. Efforts were thus made to spread primary education amongst all sections of the society.

2. Girls' Primary Education had just started at the end of the period 1854-1882. More girls' schools were opened and a Training College for Women was developed on sound lines to provide trained women teachers for the schools. A few girls passed the Matriculation examination by attending the Boys' High schools. Government, however, opened two Anglo-Vernacular Middle schools at Dharwar and Bijapur to provide facilities for girls' Secondary education. The post of an Inspectress for girls' schools was created in 1917-18 for the Southern Division, fifteen years after they were created in 1882 for the Central and Gujarat Divisions.

3. There were High schools for boys at only three of the four district places. The Bijapur district had a Government High school in 1889-90. Local private enterprise made steady progress in the field of Secondary education. By the end of 1921-22, eight of the 19(19) High schools including the two Municipal High schools at Hubli and Gadag were under Indian management. The Government High schools had spacious hostels attached to them. They provided an enriched school programme with facilities for physical and gymnastic training, games and sports, scouting, drawing etc. With the opening of the Secondary Training College at Bombay, and with the introduction of the Secondary Teachers' Certificate examination, the secondary schools had trained teachers on their staff. Education Societies such as the K.L.E. Society and the Karnatak Education society were formed. The former had the potentials of speedy growth. Hostels were attached even to private High schools. For instance, the Gibb High school, Kumta had a spacious hostel accommodating about 90 students. A separate High school, the Anglo-Urdu High school, Hubli was established to facilitate the secondary education of children passing from Urdu Primary schools. The Scout Movement which later embraced the entire Province had its birth in Belgaum under the able leadership of Mr. Miller, the then Headmaster of Sardars' High school, Belgaum. The system of scholarships was introduced to enable talented children to complete their secondary education. The system of scholarships was instituted by [illegible] private organisations [illegible]. The public mind was gradually prepared for service and [illegible] in the cause of [illegible].

4.

4. The Karnatak Vidya Vardhak Sangh was established in 1890 at Dharwar. It held conferences of Kannad learned men and honoured them by making presents from the amounts of grants received from Government. It also published the monthly "Vagbhooshana" and some Kannad works. Libraries and Reading Rooms were established at several places in Karnatak. The Karnatak Vidyavardhak Sangh had itself built up a library of several Kannad works. The Sangh encouraged the establishment of Kannad libraries through its writings in "Vag-bhooshana". By the end 1921-22, there were about 50 libraries in Karnatak which were registered and aided by Government. The Karnatak Vidya VardhakaSangh got itself registered in 1911. The library of the Sangh was aided by Government after that date.

The Government Book Department was closed in 1907 and the contract for producing and distributing Vernacular text books was given to Macmillan and Company, Bombay. However, the Vernacular Book Committees continued to function. The Kannad Book Committee considered all Kannad books of various authors submitted to it and awarded prizes to the approved books.

The authors of Kannad books were thus encouraged to produce Kannad literature by the Kannad Book Committee and the Karnatak Vidya Vardhak Sangh, Dharwar.

5. The establishment of the Government Karnatak Arts College, Dharwar was a great milestone in the history of modern education in Karnatak. In 1920-21, Kannad was introduced as a subject of study in the B.A. curriculum by the Bombay University. The seeds of a Karnatak University were sown with the opening of this College. The doors of University education were thrown open to the Kannadigas after nearly a hundred years of British Rule. It was done at a time when "nationalism" was embracing the country with a firm hold and the nation was preparing itself for a determined fight for freedom. The Karnatak Youth were entering the portals of the College at an opportune time to study western politics, science and literature so that the knowledge gained may be used to fight the rulers with their own weapons. The stage for the freedom struggle in Karnatak was being set in this institution.

6. The creation of the Indian Educational Service is another important event of this period. Sir Alexander Grant had strongly urged for the creation of a separate Convenanted Service for the Educational Department. The extracts from the correspondence between him and the Government have been given in Annexure P.

The Public Service Commission, 1886 which went into the question of the reorganisation of the various services recommended the creation of the Indian Educational Service. The service was

was created with a view to attract European talent into the service. Perhaps the purpose would have been better served if the service was created in 1866 when Sir Alexander Grant had proposed for its creation. It was the period when talented Englishmen were seeking service in India and they would have continued to come out in larger numbers had the Service been made quite attractive. The Service was created when the talented English teachers had already turned their backs on the Educational Service in India. The new Service did not attract 'first-rate' English talent into this country.

As the country had become politically conscious, there was a demand for the Indianisation of the Service which had to be canceded partially. Some Indians were admitted to the Indian Educational Service. The Service by 1921-22 was manned partly by Indians and partly by Europeans.

The senior posts in the Department which were not covered by the Indian Educational Service were included in the "Provincial Educational Service" later named as "Bombay Educational Service".

Special inspectorates were created for girls' education, Drawing and Craft, Visual Education, Teacher Training, Muslim education of both boys and girls, and Scounting.

By the Act of 1919, Education became a "Transferred" subject. The control of the Department was to be shifted to the Indian Education Minister, responsible to the Legislature. By the end of 1921-22, the field was set for the transfer of control to the popular Ministry. This change heralded the dawn of a new era in education and hence the progress of education during the period from 1922-23 to 1946-47 is dealt with in the next - Chapter.

---:---

CHAPTER IV

1922-23 to 1946-47.

With the introduction of the reforms under the Government of India Act, 1919, the control of education passed in 1921 to the Indian Minister for Education responsible to the Legislature. Shri (later Sir) R.P. Paranjape was the first Minister for Education. With this revolutionary change, very high hopes of educational advance were entertained by the people. A Committee consisting of two official and eight non-official members of the Legislative Council under the Chairmanship of the Hon'ble Sir Narayan G. Chandavarkar, L.L.D., the President of the Council was appointed by Government in July 1921. The Committee was required to -

"(1) consider and report on the desirability and practicability of introducing free and compulsory education in Municipal and rural areas of the Presidency (including Sind, but excluding Bombay City);

(2) suggest new sources of taxation to meet the cost of such a measure;

(3) make detailed proposals for any legislative and administrative measures necessary for the purpose, including the machinery required to carry out any such measures;

(4) submit a definite programme showing the various steps which should be successively taken so that a complete system of free and compulsory education may be introduced within a definite period;

(5) consider and report on any other matters germane to this question." 1

The Report of the Compulsory Education Committee was completed in May 1922 and published in June 1922. The recommendations of the Committee were embodied in the Primary Education Bill and moved in the Legislature. The bill was passed as the Bombay Primary Education Act 1923." The Act transferred the control of Primary schools from the Educational Department to local bodies. The main features of the Act as reported by the Director of Public Instruction, were:-

"The provision of the Primary Education Act may be divided into two parts, those dealing with the management of Primary schools and those referring to the introduction of compulsion. The District Local Boards and those Municipalities which are empowered by Government to manage their own schools, are constituted Local Authorities; The schools of other [illegible] palities, usually those with a population of less [illegible] 20,000 - 25,000, will be managed by the [illegible] of the [illegible] in which the Municipality [illegible]

[illegible]

minorities, backward and Depressed classes, will be represented. It is intended that the School Board shall be responsible for the management of Primary education, subject to the general control of the Local Authority. An Administrative officer will be appointed by each Local Authority, this appointment being subject to the approval of Government. In addition the Local Authority will employ its own supervising and inspecting staff. All - primary teachers will be definitely the servants of the Local Authority, but the rights of primary teachers already in employment in respect of pay, pension etc. have been safeguarded.

The Education Department will cease to manage primary schools It will continue to employ an inspecting staff, but on a much smaller scale, and its duties will be to see that the primary schools are conducted efficiently and that public money is not wasted or misapplied. The training of teachers and holding the Vernacular Final examination will, however, continue to be undertaken by the Department.

With regard to the application of compulsion, a Local authority mayby resolution declare its intention to provide compulsory elementary education in the whole or any part of the area subject to its jurisdiction in the case of children of either sex or both sexes. A Local Authority which of its own initiative makes no attempt to introduce Compulsory Education may be called upon to do so by Government. Each Local Authority must, within a prescribed period, prepare as complete a programme or scheme as possible for the universal introduction of compulsory Elementary Education and when such scheme has been approved by Government, the Local Authority is bound under the Act to carry it out. Government have declared that it is their intention so far as their funds permit to give effect to the programme proposed by the Compulsory Education Committee.

With regard to grants to District Local Boards, Government have undertaken to give in any case year a grant equal to the grant in 1922-23 plus two-thirds of the expenditure over and above the expenditure in 1922-23, provided that the expenditure has been approved by Government.

Those Municipalities which have been constituted Local Authorities will receive a grant equal to one-half of their total expenditure on Primary education in any year. Other Municipalities whose schools will be managed by the District Local Boards, will contribute a sum equal to one-third of the estimated expenditure on primary education in any year.

By the Local Boards Act, 1922, District Local Boards have been empowered to raise additional revenue, by increasing the cess on the land revenue, by levying a cess on water-rate, or by imposing any tax admissible under the Government of India Act.1

---

1 [illegible] in the [illegible] Presidency 1917-18 to [illegible]

Act.

The Act was thus a bold and progressive step to decentralise education at the primary level. All the powers of control and management were fully vested in the Local Authorities. The role of the Educational Department was largely advisory. Though the Act was passed in 1923, it was not given effect to till 1925-26 for the reasons recorded by the Director of Public Instruction in his report for 1923-24.

"It was anticipated at one time that the Primary Education Act would be brought into operation during the year 1923-24, but it was not found possible to achieve this, mainly owing to the complexity of the Rules which had to be framed under the Act, and the need for careful scrutiny of these rules by Government. Ultimately draft Rules were published in October 1923, and District Local Boards and Municipalities were invited to send in their criticisms and comments, to which a ready response was made, as the replies received covered over 1500 pages. These were considered and modifications were made and communicated to District Local Boards and Municipalities. .....The Rules after further amendment were finally published in October 1924. In the meantime a further difficulty has arisen. The elections under the new Local Boards Act were to take place in most districts in the latter part of 1924-25, and it was considered undesirable to transfer the management of primary education to bodies which would remain in office for a few months only.....

Many difficult problems have arisen, not the least of which is the futur of the Inspecting staff. At present, the primary schools of the District Local Boards are managed generall and inspected by officers of the Educational Department. Under the Primary Education Act, they will be managed and supervised by officers of the District Local Board while Government will retain a small inspecting staff to ensure that satisfactory standard of instruction is maintained and to advise on educational questions. It is hoped that the Primary education Act will be brought into operation early in 1925-26. The delay is to be regretted, as there has been a general feeling of suspense, which has not conduced either to progress or to efficiency." 1

The Local Authorities started taking over primary education from the year 1925-26. It was the recommendation of the Chandavarkar Committee that the attendance in primary schools should be doubled in ten years. The objective of the Bombay Primary Education Act of 1923 was to set up a machinery for the introduction of universal compulsory primary education at an early date. The Director of Public Instruction stated in his Report for 1925-26:-

"The Primary Education Act takes as its goal the introduction of

1. Report of the D.P.I. 1923-24, PP. [illegible]

of universal compulsory elementary education for boys and girls, to be realised within ten years by a definite programme of progressive expansion, and aims first at giving effect to the measures recommended by the Committee on Compulsory Education. These measures involve an additional recurring expenditure of Rs.70 lakhs at the end of ten years."[1]

The successful implementation of the Act was a question of finding adequate funds. Unfortunately, the period from 1923-1937 was one of severe financial stringency. As a result of the after-effects of World War I, there was retrenchment in expenditure all-round. Under the system of Government known as "Dyarchy", the Finance portfolio was held by a European Councillor and not by an Indian Minister. The "Transferred subjects" such as Education did not receive the sympathetic and liberal treatment that they badly needed. By 1929, a World Economic Depression commenced. Under these circumstances, it was extremely difficult to secure additional funds for the extension of education from the Provincial Revenues. The Government of India also ceased to sanction grants for educational extension and improvement which it did during the period 1901-1921.

It has been already stated how the Indian Educational Service came to be created in 1896. The Islington Commission(1915) recommended that the posts be thrown open to Indians. So, by 1921-22, the Indian Educational Service was composed of both Europeans and Indians appointed by the Secretary of State for India. As on 31st March 1922, there were 60 officers in the I.E.S. of whom 30 were Indians. The average monthly emoluments of these officers was Rs.867-5.[2] All the keyposts in the Department were held by the officers of the Indian Educational Service which was recruited by the Secretary of State for India and was under his direct control. The officers belonging to the Indian Educational Service were assured that their rights and privileges would not be adversely affected by the transfer of Education to Indian Ministers. It was an anomalous situation for the Indian Education Ministers as the key officers of the Department were not placed under their direct control. The Royal Public Services Commission known as Lee Commission (1923) submitted its Report in 1924 in which it recommended the abolition of the Indian Educational Service and the creation of a superior Provincial Educational Service for each Province. So, no further recruitment to the Indian Educational Service was made since 1924. However, the existing officers continued in service. The abolition of the service cut down the administrative expenditure to some extent. There was considerable delay in creating the superior Bombay Educational Service. It was created in 1930-31 for the first time. The pay scale of the Bombay Educational Service, Class I was fixed at Rs.320-40-640-EB-40-1200 with two selection grades. The higher selection grade of Rs.1400-50-1500 was restricted to 5 percent of

---

1. [illegible] 1925-26, p. 30.
2. [illegible] in the [illegible], 1921-22, p. [illegible]

of the cadre. The lower selection grade of Rs.1200-50-1350 was restricted to 15 percent of the cadre. The B.E.S. Class I Service was created to take over all the posts vacated by the Indian Educational Service and some major posts in the old Provincial Educational service (named Bombay Educational Service since 1921). The payscale of B.E.S. Class I was much lower than that of the I.E.S. The payscale of the I.E.S. was Rs.400-50-1250 with two selection grades - the first of Rs.1250-50-1500 and the second of Rs.1550-100-1750. The other posts in the old Provincial Educational Service were included in Bombay Educational Service Class II. The payscale of the B.E.S. Class II was fixed at Rs.250-20-390-EB 20-55 EB-20-650 with a selection grade of Rs.650-30-800 restricted to 20 percent of the cadre. This was slightly inferior to the original pay scale of the Bombay Educational Service which was Rs.250-20-550 EB 20-650 with a selection grade of Rs.650-30-800 restricted to 20 percent of the cadre. Within three years of the creation of th Bombay Educational Services Class I and Class II, the payscales were subjected to revision in 1934 along with general revision of payscales necessitated as a result of World Depression. The payscale of B.E.S. Class I was fixed at Rs.300-20-420-EB 30-660 EB 40-900 and that for B.E.S. Class II was fixed at Rs.170-10-250-EB 15-400-EB-20-500. The scales of pay of women officers in B.E.S. Class I and Class II were lower than those for men's Branch of the Service.

The payscales of the subordinate Educational Service were many as there were a variety of posts. However, a graduate teache in a Government Secondary school was given a time-scale of pay rising from Rs.70-200. Some of them could rise to Rs.250/- and to Rs.300/-. In the revision of payscales given effect to entrants after 1931, the time-scale of pay was revised to rise from Rs.45-175. The starting pay for women teachers in Secondary schools was Rs.85 in the pay scale of Rs.45-175. The revisions of the pay scales of the various services cut down the expenditure on direction, inpsection and Secondary and Collegiate education to some extent.

As the Primary Education Act of 1923 had as its objective the introduction of universal Compulsory Primary Education, the salaries of the Primary teachers which formed the largest item of expenditure on primary education attracted the attetnion of the "Local Authorities". There were two classes of teachers - Trained and untrained. The trained teachers had their grades fixed in the Training Code. Because of the liberal grants received from the Government of India, it became possible to pay all the trained teachers their Code pay. The pay of the untrained teachers was also raised. With the rise in the price-levels as a result of the effects of World War I, the teachers found it [illegible] [illegible] meet. [illegible] of a further rise [illegible]

on the question as recorded by the Director of Public Instruction in his Report for 1925-26 was:-

"The scale of pay finally sanctioned in 1925 for primary school teachers in the Government and Board schools on the recommendations of the ~~Xxxxxx~~ Surve Committee is as follows:

Presidency proper

	Monthly pay.
Unqualified teachers	Rs. 20.
Qualified "	Rs. 25/2/5-30
Ist year trained	Rs. 30-1/3-35-½-40
2nd " "	Rs. 35-½-45-1-50
3rd " "	Rs. 40-2/3-50-1-60.

Sind.

General scales of Allowances for the Presidency proper.

Headmasters' allowances

Average attendance.	Rs
Upto 75	5
From 76 to 150	10
" 151 to 225	15
" 226 to 300	20
Above 300	25

Ist Assistant Masters' allowances

Average attendance	Rs.
Upto 40	5
From 41 to 80	10
" 81 to 120	15
" 121 to 160	20
Above 160	25

Ist Assistant Masters allowances.

Average attendance.	Rs.
From 151 to 225	5
Above 225	10

Sind . . .

Special scales for Urdu schools and schools for Depressed classes.

Average attendance.	Rs.
Upto 40	5
From 41 to 80	10
" 81 to 120	15
" 120 to 160	20
Above 160	25

Ist Assistant Masters' allowances

From 81 to 120	5
Above 120	10

These allowances will be treated as pay for purposes of leave and pension.

Though the scales sanctioned have not given universal satisfaction, they appear to provide a not altogether inadequate - remuneration for a teacher's work performed in ordinary conditions."[1]

It will be seen that the trained teachers were given a higher scale of pay than untrained teachers. With a view to improve the quality of education Lord Curzon had strongly advocated the employment of trained teachers. The Government of India had [illegible] liberal grants for extension and improvement of [illegible] facilities. With the passing of the B.P.E. Act of 1923, a new situation had [illegible]

with limited resources. The following extract from the Report of the Director of Public Instruction will make interesting reading in this respect.

"For reasons of economy, it was found necessary during the quinquennium to reduce the number of training institutions for primary teachers and limit the output to what is essential for the schools. It may be pointed out that the scales of pay for trained teachers are comparatively higher than for untrained men and women, and to have more trained teachers than is absolutely necessary means additional expenditure without a corresponding increase in the number of schools and of pupils......

After very careful consideration it was decided that itwas decided that it was no longer necessary to train any teachers for more than two years. The number of third year teachers was already extremely high, and more than sufficient to meet the demand for more highly trained teachers......

It was further decided that it should be possible to secure reasonable efficiency if on the average 50 percent of the teachers were trained, about 15 percent holding the Second or third year certificate. It was also intended that young men who had passed the Vernacular Final examination and wished to become teachers should be appointed to schools with competent Head-masters, who would teach them the rudiments of their profession. Unfortunately little has been done in this respect. The conclusions arrived at were admittedly a compromise. The choice was between a comparatively small number of schools and pupils with more efficient instruction, and a large number of schools and pupils with less efficient instruction. In short, it was the old problem of quantity versus quality. In view of the undoubted backwardness and illiteracy of the cultivating and artisan classes, and of the growing desire on their part for education, the weight of the argument was in favour of more schools and pupils. A scheme was worked out so that each area should have approximately 50 percent of trained teachers at the end of 5 years, due allowance being made for the anticipated expansion of primary education and for wastage among teachers."[1]

The numbers in the Training College for Men at Dharwar were reduced. As the percentage of trained teachers especially of those with the second and third year certificates was high in the Southern Division, one first year class only was maintained and "that from [illegible] sentiment rather than necessity."[2]

The statistics of trained and untrained teachers for [illegible] show that there were 3202 trained male teachers against [illegible] untrained ones, the percentage of trained to the [illegible]

---

1. [illegible] Report on Public Instruction in the Bombay [illegible] 1922-27, [illegible] 96-97.

74.6 percent. There were 288 trained women teachers against 139 untrained ones, the percentage of trained to the total being 67.4 percent. So, one of the measures adopted for cutting down the expenditure on primary education was to reduce the element of trained teachers. The other measure was to reduce the salary of primary school teachers. The scales of primary school teachers mentioned above were sanctioned for teachers who were already in service prior to the actual operation of the Bombay Primary Education Act 1923. They were known as "guaranteed teachers." All teachers employed after the coming into operation of the Act, i.e. after 30th June 1923 were to be paid according to rates fixed by each Local Authority, subject to the minima and maxima fixed by Government. The rates prescribed were:-[1]

1. Unqualified teachers	Rs.15
2. Temporary qualified teachers	15
3. Permanent qualified but untrained teachers	20-1/3-25-½-30
4. Ist year trained teachers	25-½-35-1-40
5. 2nd " "	30-½-35-1-50
6. 3rd " "	35-1-60

The rates were further revised for teachers appointed after Ist April 1935.[2]

A. For District Local Boards' and non-Local Authority Municipal areas

1. Unqualified teachers	Rs.15
2. Qualified "	20
3. Ist year trained "	20-1/3-25-½-30
4. 2nd -do-	25-½-35-1-40
5. 3rd -do-	30-½-35-1-40

For Local Authority Municipal areas:

1. Unqualified teachers	Rs.20
2. Qualified teachers	25
3. Ist year trained teachers	25-1/5-30
4. 2nd -do-	30-1/3-35-½-40
5. 3rd -do-	35-½-45-1-50

"Certain Local Authorities also pay their Headmasters and Ist Assistants special allowances. During this quinquennium, however, 2 District Local Boards and 21 Municipalities discontinued the payment of these allowances as a permanent measure, while 14 District Local Boards and 9 Municipalities reduced these allowances fully or partially as a measure of retrenchment. In addition to the above reductions in the scale of pay, during the earlier part of the quinquennium, the pay of primary teachers was subjected to emergency cuts to the extent of 20 percent in the case of some Local Authorities. These percentage emergency cuts in some cases have been restored and in the remaining have been reduced in porportion to the amount of the reduction of the cut applied by Government to their grant to the Local Authorities for Primary Education." 3.

The Primary teachers were admitted to pension since 1858. All teachers who were in receipt of a salary of more than Rs.10 at the time of retirement were granted pensions. With the transfer of control of Primary Education to the Local Authorities, the Primary teachers

1. Quinquennial Report on Public Instruction in Bombay 1932-37, page 105.
2. Ibid., page [illegible]
3. [illegible]

teachers were regarded as servants of the Local Authorities. The teachers recruited before 30th June 1923 were allowed the option to continue on the pension basis while the teachers recruited after that date were given the privilege of a provident fund only.

With all the economy measures mentioned above, it was not possible to find adequate funds for the extension of primary education on a large scale. There was therefore no question of introducing universal compulsory elementary education in their areas by the Local Authorities. Owing to financial stringency, the Government was not in a position to sanction additional grants to the Local Authorities. On the other hand, Government applied the following cuts in grants to the Local Authorities.1

1931-32	5 percent	1932-33	19¼ percent
1933-34	12 "	1934-35	12 "
1935-36	11 "	1936-37	8 "

In the circumstances stated above, very few Local Authorities submitted their plans of Compulsory Elementary Education to Government and even those few were not approved of by Government for reasons of financial stringency. By 1937-38, only the District Local Boards, West Khandesh and 5 Local Authority Municipalities introduced Compulsory elementary education to a limited extent in their areas. Neither any of the four District Local Boards nor any of the Local Authority Municipalities in the four districts of Karnatak introduced compulsory elementary education in their areas even to a limited extent.

There were several complaints regarding the administration of primary education by the Local Authorities. The Hartog Committee, the Auxiliary Committee of the Indian Statutory Commission, 1929, observed:

"Primary education is almost entirely under the control of district boards and municipalities operating through school boards....

The general result of the establishment of these school boards has been that the district boards and municipalities, functioning through the school boards, now maintain and manage their own schools, recognise and aid privately managed schools, and are responsible for the preparation of plans for expansion and development in the field ofprimary education.

The district boards and municipalities maintain their own supervising staff, in addition to the school board administrative officer, and Government have retained only a very small inspecting staff, limited to one or two inspecting officers in each district.

The above facts show that, in most essentials, the power of control over the efficiency and development of primary education has passed from Government to Local bodies. The only powers which Government have retained are powers to approve the appointment of the administrative officer, to sanction budgets, to approve scales of pay of teachers, to regulate the proportion of untrained teachers to fix the [illegible] to sanction schemes for the financing of a [illegible] policy

1. [illegible] Report [illegible] Public [illegible] in Bombay Presidency [illegible]

policy of expansion and of the introduction of compulsion, and and to audit the educational expenditure of the district boards and municipalities.....

Our evidence shows that even the administrative officers of the school boards, in whose hands it was intended that the actual administration of primary education should lie, have been subjected to much direct interference on the part of the boards or their chairmen in matter of detail. The Primary Education Act of 1923 did not even leave it to Government to lay down, by rules framed under the Act, the powers and duties of the administrative officer; and, in consequence, district boards and Municipalities have shown a disinclination to delegate powers to the administrative officer which are clearly needed by him for a successful working of the new system of control......

Similarly, if an administrative officer once approved by Government does not carry out his duties satisfactorily, Government has no power to direct that his tenure of appointment be terminated. Even in the matter of selection of teachers for training in the training schools maintained by Government, the Educational Department has no authority and the selection is made by the local bodies.

Viewing the position in Bombay as a whole, we think it is to be regretted that a system of primary education which had been framed on sound lines should have been handed over to the control of local bodies without the insertion in the Statutes or rules of sufficient safeguards to ensure that Government, working through its Ministers and the Education Department, would be able at least to guide future developments." [1]

In his quinquennial report for 1922-27, the Director of Public Instruction wrote:

"The introduction of fixed incremental scales of pay for trained teachers in 1919 had already caused an admitted falling off in the efficiency of the primary schools. It would appear that, generally speaking, their efficiency has still further declined since the transfer of control. Not the least sinister aspect, and one which must necessarily affect the efficiency of the schools, is the political power now weilded by the teachers. Teachers have been freely used for electioneering purposes in the elections both to the Local Bodies and to the Legislative Council." [2]

The Director of Public Instruction in his quinquennial Report for 1932-37 wrote:

"Since education and the supervision thereof is influenced, for good or evil, by the personality and efficiency of teachers and supervisors more than by any other fact, the appointment

---

1. [illegible] Committee Report, 1929, PP.314-[illegible]
2. [illegible] Report on Public [illegible] in the Bombay [illegible], page 7.

appointment of supervisors and teachers is consequently one of the most important responsibilities of any controlling authority. Under the Primary Education Rules, framed under the primary Education Act, the power to appoint the Administrative officer, who is also the Chief Supervisor, rests with the Local Authority, while the School Board has the power to appoint supervisors and head teachers. The appointment of assistant teachers according to the rules should rest with the Administrative officer, but under many Local Authorities the school boards have also usurped this function. Thus it will be seen that the fate of Primary Education rests in the hands of the members of the school board. If these members are honestly desirous of furthering the interests of education and are prepared to take expert advice, and in making their appointments, choose the best men available, all is well. It must, however, be stated that very few School Board members are able to bring to the conduct of the School Board affairs a mind unbiased and unprejudiced by local politics, communal considerations or even personal consideration. The result is that the appointments of supervisors and teachers and the transfers of teachers are in many cases made on communal, party, or personal grounds, and it is only the strongest minded teacher or supervisor who is able to do his duty without fear or favour. In short, the first great defect in the working of the Primary Education Act is the inefficiency of the administration of the District School Boards. The second great defect rests in the possibility of friction between the Local Authority and the School Board. Party and communal politics exercise a great influence in both bodies, and, although there are many cases of close and cordial cooperation between these two bodies, there are also many cases where the unwarranted interference of the Local Authority in the School Board administration has disorganised educational administration in the district."[1]

<u>Bombay Primary Education(Amendment)Act, 1938.</u>

Provincial Autonomy was introduced in 1937 under the Government of India Act, 1935, and the Congress Ministry headed by the Hon'ble Shri B.G. Kher came to power. The Chief Minister himself took over the portfolio of Education. He moved the amendment to the Primary Education Act, 1923. In his speech in the Assembly, he pointed out the several failures of the school boards;

"Complaints came from all Provinces of laxity in various details of administration and frequent action on grounds other than educational. Teachers are transferred, dismissed or appointed for personal or communal reasons. Increments are not granted, payment of salary is often in arrears, departmental advice is ignored, relations with the Education Departments and their officers are strained, local bodies are apathetic and there is sufficient reason to show that generally the administration is lax

[illegible]

lax in many ways.

There has been very little change in the administration of schools. Although as reported before, the transfer has brought the public into more intimate touch with education, public opinion is not sufficiently advanced to exercise a wholesome check on party and personal considerations which dominate the work of the School board and of Local Authority. In some districts transfers and promotions still continue to be made purely on personal and communal grounds.

Many of the Administrative Officers are glorified head clerks carrying out the orders of the Chairman in particular, of the School Boards in general, while some have willingly surrendered their powers of appointments and transfers both to the Chairman as well as to School Boards. Others have acquiesced more or less in the same conditions. There is so much interference with the day to day administration under the Administrative officers, with the result that these officers are probably not taking as much active interest in their work as they ought to do.

Few members of the School Boards are interested in education as such. Most of them are interested in the powers and patronage and in the prestige conferred upon them by membership of school Boards.

School Boards' inspecting officers are completely under the boards and have really no voice even in educational matters. Their suggestions and reports are either not free and voluntary or they are ignored. In the ultimate resort, the teacher, who is also the electioneering and canvassing agent, is the dominant authority."[1]

The bill was passed as the Bombay Primary Education (Amendment) Act, 1938. The main features of the Amended Act were:

"(1) The Administrative officers have become Government servants and they have been given certain specific powers under the rules, so that they are now free to exercise the powers vested in them.

(2) Government have resumed full control of the inspecting staff.

(3) Government have been given certain powers of control over the School Boards similar to those exercised over the local bodies.

(4) A minimum educational qualification has been prescribed for membership of school boards.

(5) The establishment of a Provincial Board of Primary Education, consisting of 12 members, has been provided for, in order to advise Government on matters relating to Primary Education.

(6) Government have reserved to themselves the power to declare as to what Municipalities should continue to be Local Authorities. Accordingly, 17 Municipalities ceased to be Local Authorities in the interest of administrative efficiency and economy in expenditure on Primary education.

(7) It is open to Local Authorities to make Primary as well as Elementary education free and compulsory [illegible]

1. Bombay Legislative Assembly Debates [illegible], Vol.III, pp.[illegible]

(8) It is open to Government to delegate to a Local Authority, which is a Municipality constituted under the Bombay Municipal Boroughs Act, 1925 and the annual expenditure of which on Primary Education is not less than Rs.1,00,000, power to appoint an Administrative officer. As a consequence of this provision, the Ahmedabad and Surat Municipalities have been delegated the power of appointing their own Administrative officers."[1]

The administration of primary education could now be carried on by the Administrative Officer without interference of the school Board. With the inspecting duties taken over by Government, the teachers had to be quite alert in their duties. They had also a sense of security as their appointments and transfers no longer depended on the whims and fancies of the school board members. The Amended Act set the stage for all-round improvement in both teaching and administration.

Scheme of voluntary Aided schools

The popular Ministry initiated the scheme of voluntary aided schools. A sum of Rs.4 lakhs was earmarked in 1938-39 for financing the scheme. The scheme encouraged the establishment of approved schools by local initiative and by the effort of voluntary agencies in villages with a population of less than 700. Provision was made for the payment of capitation grants and equipment grants. The maximum grant payable to a school under this scheme was Rs.200 including a non-recurring grant of Rs.35 for purchase of initial equipment. The scheme helped to establish a network of schools in smaller villages in all the districts of the Province.

The Local Authorities were requested to pay grants to schools which were started in villages with over 700 population till such time as the schools were taken over by them.

Primary schools in all villages with a population of 1000 and over.

In 1938-39, a special provision of Rs.40000 was made to meet the Government share of the cost of opening Board schools in all the 211 school-less villages of the Province with a population of 1000 and over. During the year, schools were opened in 153 villages leaving only 58 villages. They were covered in subsequent years.

Training of Primary teachers.

The Committee appointed by Government to advise them on the question of the training of primary teachers submitted its report in August 1938. The Committee recommended that Ist year trained teachers between the ages of 22 and 40 should be given a further training of one year and untrained teachers between the ages of 22 and 40 should be given continuous training for two years. The Committee recommended the discontinuance of the third year course. In the case of [illegible] teachers, the three year course was to be retained. Government accepted the recommendations of the Committee and [illegible] for their [illegible] from the [illegible]

[illegible]

The training facilities in the two Training Colleges at Dharwar were considerably expanded during 1939-40. Another Government Training College for Men was established at Talikot, Bijapur Dt. in June 1945 and shifted to Bijapur in June 1946. A private Training institution for the training of Kannad teachers was started during the year 1939-40 by the Karnatak Education Board, Dharwar. The College was named the Karnatak Education Board's Training College for Men, Dharwar. In the year 1940-41, the Karnatak Lingayat Education Society, Belgaum started a Training College for Men at Belgaum. In 1943-44, two more private Training Colleges viz. Marathi Training College, Belgaum and Basaveshwar V.V. Sangh Kannad Training College, Bagalkot were established.

The Training programme was thus set in full swing in order to improve the standard of teaching in Primary schools by staffing them adequately with properly trained years.

District Building Committees.

A Building Committee was constituted in each district in 1938-39 consisting of the following members:[1]

1. Educational Inspector of the Division (Chairman).
2. President, District Local Board.
3. Chairman, District School Board.
4. Executive Engineer of the District.
5. The members of the Bombay Legislative representing the district and actually residing in that District.
6. The Senior Government Inspector of the District (Secretary).

The main function of the Committee was to arrange to acquire suitable sites and to construct school buildings in accordance with the type plans approved by Government. The Committee was also authorised to receive donations from the public for the purposes of school buildings. Government sanctioned during 1938-39 a sum of Rs. one lakh for distribution among the 20 districts of the Province at the rate of Rs.5000 per district subject to the condition that an equal amount was placed at the disposal of the Committee by the District Local Board from its own funds or partly from its own funds and partly from private contributions.

The scheme gave a filip to the school building programme in all the Districts of the State.

Progress of the Compulsory primary education schemes

With the popular Ministry taking over the reins of Government in 1937, it was hoped that the scemes of compulsory elementary education pending for approval with Government would be sanctioned and that the objective of the Bombay Primary Education Act, 1923 would be fully realised. But the World War broke out in 1939 and the Ministry resigned in 1940 on political grounds. Financial stringency was again felt and the Caretaker Government [illegible] to maintain the status quo as far as possible. [illegible] stances, neither expansion nor compulsion could [illegible] large scale. However, so far as the four [illegible]

[illegible]

concerned, the following Local Authority Municipalities introduced Compulsory Primary education for either both boys and girls or only boys in their areas:

(1) Hubli for boys only from 15th July 1941 (progressively ward-wise)

(2) Dharwar for both boys and girls from Ist June 1942.

(3) Bijapur for boys only from Ist June 1944.

(4) Belgaum from 1947.

The District Local Board, Dharwar introduced compulsory elementary education for both boys and girls from Ist June 1943 in the non-Local Authority Municipalities of Byadgi, Haveri and Ranebennur.

Primary Education of Girls

A separate Vernacular Final Examination for girls was instituted and the first examination was conducted in 1924. A special course was prescribed for the examination. The examination was controlled by a Central Committee in each Division consisting of the Educational Inspector, the Inspectress of girls' schools, the Lady Superintendent of the Training College for Women, and two representatives of Recognised girls' schools. The institution of the examination gave a great impetus to the education of girls by providing a goal, with the coveted certificate, for which to work.

The Training College for Women, Dharwar trained women teachers. Out of a total of 515 women teachers in the Southern Division on 31st March 1927, 365 of them i.e. 70.9 percent were trained. There was generally no difficulty of getting qualified women teachers for schools in large towns but the difficulty was to find women who were willing to serve in the villages. Provision was made for sanction of maternity leave on full pay to the women teachers. The children of women school teachers was allowed free education in Government and aided schools. Incentives were thus provided to encourage women to join the profession. In primary schools, a large number of scholarships were awarded to girls by District Local Boards and Municipalities, the value of each varying from a few annas to Rs.5/-.

The Sarda Act enabled the raising of the marriage age of girls. There was a growing desire among parents to give to their daughters higher primary education. The number of girls appearing at the primary school Leaving Certificate Examination for girls was steadily increasing. In the examination held in 1938-39, 626 girls from the Southern Division appeared for the examination of whom 207 passed. The inspection of girls' primary schools was entrusted to Assistant Deputy Educational Inspectresses which posts were created in 1939-40.

In 1940-41, it was decided to have an eight-year (Infants plus standards I - VII) primary course for girls on par with that for boys and to hold a common primary school Leaving Certificate Examination for boys and girls. The new syllabus was introduced in Infants' class and standard I during 1940-41. It was progressively [illegible] classes and [illegible] batch of girls [illegible] school Leaving Certificate examination.

examination in 1948. The separate P.S.L.C. examination for girls was abolished in that year.

Besides the general subjects, Drawing and Neddlework were taught in all girls' schools while provision for domestic science was made in all first grade schools. Provision for Music and Hindustani was also made in some schools.

As on 31st March 1947, there were 402 girls' primary schools with 44,285 girls of whom 5443 girls were in Upper Primary classes. 1082 teachers were working in those schools. The details are given in Annexure. 9

The Scheme of Basic Education.

The scheme of Basic Education known as Wardha Scheme was sponsored by Mahatma Gandhi in 1937. The Government of Bombay decided to try it on an experimental basis. In November 1938, a special officer for Basic Education was appointed to organise, supervise and develop the scheme. An Advisory Committee for Basic Education was constituted in January 1939 with Shri N.P.Parikh as Chairman and the Special officer as Secretary. It had members both officials and non-officials from the three linguistic areas of the State. The function of the Committee was to advise Government on all matters pertaining to Basic Education. Four compact areas were selected to launch the scheme on an experimental basis. One of these compact areas was located in Dharwar district in which 16 Kannad schools were involved. A few trained graduate teachers working in Training Colleges and Secondary schools were sent to Jamia Milia, Delhi for a week and to Wardha for three weeks and they were given a short course of training. These teachers started three months' short term courses for the primary teachers in their respective linguistic areas. All this was done before May 1939. A detailed syllabus for use in Basic schools was prepared on the lines suggested by the Zakir Hussain Committee. It was decided to introduce the syllabus progressively in Standards I and II in the first year and to extend it to higher standards year by year. Two supervisors were appointed, one for supervising Basic education as a whole in the compact area and the other for supervision of craft work in the Basic schools. Both the officers were required to visit each school once in a fortnight and to plan the fortnight's programme of the school after a discussion with the teachers.

With a view to extend the Basic Education to the Upper standards, it was decided to train teachers for those classes. Four Basic Training centres with a practising school attached to each of them were started. One of these centres was located at Dharwar to meet the needs of Kannad schools. The Basic Training Centre commenced work in June 1939. Only Matriculates or 1st year trained teachers were selected for training. The syllabus comprised of (1) [illegible] and carding, [illegible] Mother-tongue [illegible] [illegible] [illegible] and History of [illegible]

National Awakening), (4) Geography, (5) Science, (6) Rural uplift, (7) Drawing, (8) Principles of Basic Education and Psychology, and (9) Practice teaching in schools.

Just when the experiement had started, the popular Ministry resigned on political grounds but the caretaker Government decided to maintain the status quo and to continue the experiment. The Advisory Committee for Basic Education was not satisfied with the arrangements made for the conduct of the experiment and resigned in 1941. The Bombay Government sought the advice of the Central Advisory Board of Education which was revived in 1935. The Board appointed a Committee under the Chairmanship of Sir John Sargent to enquire into the experiment of Basic Education and to offer suggestions for its future working. The Committee submitted its Report in 1943 in which it appreciated the work done in the field and recommended that the experiment should be continued and even expanded. Government thereupon decided in 1944 to continue the experiment for a further period of five years. The Advisory Board for Basic Education was reconstituted and an additional post in B.E.S. class I designated as Special officer for Basic Education was also created in June 1944. The basic education syllabus was extended to the higher standards as orginally planned and the first batch of students from the Basic schools appeared for the Primary school Leaving Certificate examination in April 1947.

In 1946, the Popular Ministry came back to power. The scheme of Basic Education received a high priority in the schemes of education. Though the people welcomed the scheme as an improvement over the older tradition of purely literary type of primary schools, it was argued that it led to inferior attainments in academic subjects. At the request of Government, Dr. V.V. Kamat, retired Educational Inspector, Southern Division, Dharwar, undertook a scientific investigation into the matter and he submitted his report in October 1947. Dr. Kamat observed, "I cannot, however, resist the temptation of drawing the general conclusion that the children of the several age and grade groups seem to attain the same level in whatever way they are taught provided they are given sufficient opportunities to learn in the right way. It is also possible that the craft-work, which is more like Children's play-activity, keeps their minds more alert and removes some of the sense of drudgery which may probably be manifesting itself in the non-basic schools and thus in a shorter time the boys in the basic schools pick up as much of the three R's as the boys in non-basic schools. The supposition, therefore, that the non-basic children may be found superior in the three R's and the basic children in manipulative ability is not borne out by these statistics."

[illegible] proved its [illegible] years of [illegible]

its functioning and was awaiting further expansion. The longstanding criticism that our school education was too literary was squarely met by the scheme of basic education. This was a great milestone in the history of primary education in the State.

Pay scales of Primary Teachers.

The period from 1923-1947 has been a very hard period for the primary teachers. It is already seen how the teachers' salaries were reduced from time to time till 1935 to meet the cost of education during the period of financial stringency. However, during the period of World Depression, the prices of foodstuffs etc. were low and hence the teachers were not so hard hit. The lowering of scales did, however, affect adversely the inflow of superior talent into the profession. This was a period when it was the Government policy to appoint teachers in larger numbers from the communities classed as Intermediate and Backward. The same policy was in vogue in all other Government Departments. During such a period, it was essential to attract the best talent from those communities into th teaching profession. It is not known how far the Local Authorities succeeded in recruiting superior talent into the profession at a time when the teachers' salaries were being reduced.

Owing to the World War of 1939-45, the cost of living rose enormously. The plight of particularly the newly recruited primary teachers was very pitiable. Several Committees were appointed viz. the More Committee and the Moos-Paranjape Committee. In 1941, Government accepted the basic scale without the selection grade for the trained teachers. The scale was Rs.25-½-30-1-40. When the popular Ministry came to power, the salary scales were revised with effect from 1-6-1946 as follows:

1. All untrained teachers Rs.25-1-30.
2. All trained teachers 30-1-50 SG 50-2½-75
(selection grade for 15 percent of the cadre).

Government desired that the Local Authorities should pay Dearness allowance to primary teachers upto the limits laid down by Government for their own employees but many of the Local Authorities did not do much in the matter even though Government in their G.R.E.D. No.7172 dated 22nd March 1945 assured that the full share of dearness allowance grant would be paid by Government. Ultimately under powers vested in Government by Section 27 B of Bombay Primary Education Act 1923 (a clause which was newly inserted in the Act in January 1946) the Local Authorities were compelled to pay dearness allowance to their primary teachers at the rates sanctioned by Government for their own servants. With effect from 1st January 1947, the salaries were again revised as follows:

1. Qualified but untrained teachers - Rs.35-1-[illegible]
2. Trained teachers - Rs.40-1-[illegible]
(selection grade for 15 percent [illegible])

[illegible] was ordered [illegible] allowance should be [illegible]

continued to be paid to primary teachers at the rates sanctioned by Government for its servants. Untrained teachers who could not be deputed for training and who had put in more than 10 years of service were "deemed trained" for purposes of pay. At long last, the sufferings of the teachers were thus ameliorated to a great extent. In the intervening period, it is possible that the superior talent did not flow into the profession on account of its low scales of pay and harm was caused to the teaching profession to the extent that the talent stayed away from it on this Count.

The Curriculum

The syllabus was revised from time to time with a view to enrich it and to make it attractive. Physical education received greater attention than before. In 1938-39, a Training Institute for Physical Education was established at Kandivli, Bombay for training graduate teachers in the theory and practice of Physical education. In 1939-40, Government created in each division two posts of Assistant Deputy Educational Inspectors for supervising the conduct of physical education in schools. They were borne on the establishment of the Educational Inspector. In the Southern Division, these officers conducted short-term training courses for primary teachers so that qualified instructors may be available for the primary schools. Qualified Physical Education teachers were appointed in the Training Colleges also. Drawing, nature-study and school-gardening were also introduced. The teaching of agriculture was also introduced in some selected primary schools. Those schools were known as agriculture-bias schools. The teachers handling agriculture in those schools were trained at the Agricultural school, Devihosur(Dharwar district). Plane Geometry instead of Euclid was also introduced in the syllabus.

Due to the awakening of the masses partly due to the extension of educational facilities prior to 1923, partly due to the National movement which had drawn the attention of the people towards education through their National schools and also due to the desire of the parents to make their children fit for some Government service by educating them in the modern schools, the demand for primary education was on the increase. The Local Authorities to whom the primary Education was handed over by Bombay Primary Education Act, 1923 were no less keen on spreading education in the masses. Inspite of the financial stringency and the administrative inefficiency caused by party and communal prejudices, the Local Authorities spared no efforts in extending and expanding the facilities for primary education for both boys and girls. With the popular Ministry taking over in 1937 the full control of Government in the Province under the Government of India Act of [illegible], the scheme of establishing voluntary aided schools through private enterprise in villages with a population of [illegible] and less and that of [illegible] schools in [illegible] with a population of [illegible] and

and over were introduced. Further, with the declared policy of Government to recruit in larger numbers the teachers from Communities which were educationally backward, there were a large number of teachers from those communities. Those teachers helped to break the prejudices against education of the elders of those communities with the result that more children from those communities began to attend schools. As on 31st March 1947, in the four districts of Karnatak excluding the Indian States there were 4111 primary schools with 3,04,346 pupils of whom 29,352 were studying in the Upper primary classes. The details of girls' primary schools included in these are given already. The districtwise details are given in Annexure.9...

The expansion of primary education will be clear from the following statistics:

Name of District.	Towns & villages with schools	Towns & villages without schools	Total No. towns & villages.
Dharwar	1010	243	1253
Belgaum	930	142	1072
Bijapur	910	215	1125
N.Kanara	412	839	1251

Most of the villages with a population of 400 and over were served by schools. The North Kanara district has a large number of small villages and hence the large number of villages without schools.

Secondary Education.

The policy of maintaining one Government High school in each district remained in force during this period also. One additional High school to serve the interests of muslims had already been opened at Hubli. Two Government Middle schools for girls were started at Dharwar and Bijapur as private enterprise was not forthcoming to serve the cause of girls' Secondary education. In 1939-40, the Government High school, Dharwar was gradually closed and the girls' Middle school was developed into a full-fledged Girls' High school. A couple of years later, the Girls' Middle school at Bijapur was also developed into a full-fledged High school. Government was considering the question of introducing vocational training in Secondary schools. After consulting the Board of Secondary education constituted by Government in 1938-39 on the recommendations of the Vocational Training Committee, 1937 and of Messrs. Abbott and Wood Committee, five Government High schools were converted into Vocational High schools - one commercial, one technical and three agricultural. The Government High school, Bijapur was one of the High schools converted into an Agricultural High school in 1938-39. By 1946-47, there were in all six Government High schools viz. 1) Anglo-Urdu High school, Hubli, 2) Government Girls' High school, Dharwar, 3) Government High school, Karwar, 4) Sardars' High school, Belgaum, 5) Government Agricultural High school, Bijapur and 6) Government girls' High school, Bijapur.

As Government was not starting [illegible] than one High school in each

each district and as private enterprise was also not forthcoming, several Municipalities stepped in and established High schools. By 1946-47, 11 Municipalities were each managing full-fledged High schools at Hubli, Gadag, Haveri, Ranebennur, Byadgi, Gokak, Nipani, Bailhongal, Guledgud, Sirsi and Malyal. In due course, private enterprise also stepped in. By 1946-47, there were 11 aided Boys' High schools in Dharwar district, 12 in Belgaum district, 5 in Bijapur district, and 9 in North Kanara district, thus making a total of 37 aided Boys' High schools in the Karnatak region. There was no girls' High school run by any District Local Board or Municipality. There were, however, seven aided girls' High schools in the four districts, five of which were run by the Missions.

There were 31 Middle schools for boys of which 21 were aided and 10 Unaided and 7 Middle schools for girls of which 5 were aided and 2 unaided. The two M.S.M.Railway schools are included in the unaided list. Of the Boys' Middle schools, one was run at Ilkal by the District Local Board, Bijapur and one was run at Nargund by the Nargund Municipality. The rest of the Middle schools for both boys and girls excepting those conducted by the Railways were all private.

There was very great demand for English education, in the rural areas. The District Local Boards decided to attach English classes to their first-grade primary schools at some selected places. English was taught in the three Upper primary standards, V, VI and VII by a qualified teacher. These classes were aided by the Department as Secondary schools. There were in all 41 such classes in 1946-47 of which 36 were run by the District Local Boards, 2 by Municipalities and 3 by private managements. The Hubli Municipality attached the class to the Urdu girls' primary school and the Gadag Municipality attached it to the Urdu Boys' Primary school. Some private managements particularly the Missions were running primary schools. They attached English classes to their primary schools at certain places.

As English Classes could not be attached to many first-grade primary schools in rural areas, the rural students had to join Secondary schools after passing primary standard IV. So, some High schools conducted a special class in English only for students who had passed the Primary School Leaving Certificate examination. These students studied English in one year to reach the standard of English of students who studied English for three years in a Regular Secondary school. In this arrangement, the boy started learning English after he had completed the Primary course and joined standard IV of the High school after studying English for only one year. He lost only one year in the process.

The grant-in-aid rules framed in 1904 were an improvement on the system of "payment-by-results" but they were not quite encouraging. The conditions of recognition were very stiff and quantum of aid depended very much on the availability of funds. [illegible] their share of grant with [illegible]

or without cuts regularly, the newly recognised schools could hope to get aid only if some surplus was left after distributing the grants to the old schools. The new schools had therefore to survive on fees and public donations. The teachers working in such schools were poorly paid to keep the school going. In 1938-39, a new scheme of grant-in-aid to secondary schools on a Uniform basis was introduced. About this the Director of Public Instruction wrote: "With the rapid increase in the number of secondary schools during recent years, it has been a matter of considerable difficulty for the Department to provide financial aid on a satisfactory basis within the funds available. As a rule old established schools receive a large measure of financial help from the Department than those which have been admitted to recognition in recent years. The new schools need help to enable them to make satisfactory arrangement . On the other hand, older institutions have also grown in size, and have developed their activities and requirements on the basis of the financial assistance given to them, and it is difficult to reduce the grants given to them. In order to meet the claims of all these schools, and with a view to distributing grants to Secondary schools on an equitable basis, Government sanctioned a scheme reducing the Upper limits of the grants payable. This scheme provides for an increase in the grants upto a limit of 20 percent in the case of boys' schools and 25 percent in the case of girls' schools within a period of three years. Boys' schools receiving grants in excess of 20 percent and girls' schools in excess of 25 percent of their expenditure will be brought down to the 20 and 25 percent level, respectively gradually. It is hoped that it will be possible under the new scheme to meet the requirements of as large a number of schools as possible and to provide adequate financial aid to new schools." [1]

This new scheme helped to add a large number of Secondary schools to the aided list. Additional funds were made available by Government for distribution of grants to aided schools. This enabled the Department to pay grants to schools at a somewhat higher rate than before. In addition to maintenance grants, special grants were paid to schools at 20 percent of the expenditure on Dearness allowance. In 1944-45, it was raised to 30 percent. The two main sources of income for the private aided Secondary schools are (1) Income from fees and (2)Government grants.

The rates of fees charged in Government Secondary schools in the Province except Bombay City were:-

Standard	I	..	Rs.2 per month payable for 12 months	
"	II & III	..	Rs.2 & 8 annas	-do-
"	IV & V	..	Rs.3 and 8 annas	-do-
"	VI & VII	..	Rs.5	-do-

Recognised schools were required to charge fees at the rate of not less than two-thirds of those charged in Government schools. A large number of aided schools charged fees [illegible] equal to those in [illegible] even [illegible] the Government rates.

In the case of the smaller schools income from fees was very meagre. The Government grants also were very low. The following extracts from the Reports of the Director of Public Instruction will give a picture of the condition of teachers working in aided Secondary schools:

"In Government schools the ordinary time-scale for graduate assistants rises from Rs.70 to Rs.200, with selection grades upto Rs.250 and a few special posts in a scale of Rs.250 to Rs.300. There is also the prospect of a Headmastership. In a non-Government school the pay of a graduate assistant teacher is generally from Rs.40 to Rs.100 and of an undergraduate from Rs.30 to Rs.60. The inadequacy of the pay given to the teachers is largely responsible for the unsatisfactory character of the work in most of the schools..

Apart from the question of pay, teachers in private schools are at a great disadvantage compared with those in Government service for want of some suitable provision, in the form of pension or Provident Fund on retirement. A scheme for a Provident Fund has been worked out, but in view of the present financial stringency it has not been found possible to provide for the estimated initial expenditure of about Rs.47,000."[1]

"As stated in the previous Quinquennial report, until the status, conditions of service and pay of Secondary teachers are put upon a satisfactory basis, it is difficult to expect of Secondary schools satisfactory work. As things are at present, many young men look upon the teaching profession as a stop-gap until they can find better posts in some other profession, with the result that the permanent members of the teaching profession are only too often those who are unable to obtain employment in other walks of life. This remark does not of course apply to those men, and there are a great number of them, who enter the profession because they feel the call to take up teaching work, and it is found that men of this type are often able by their unselfishness and singleness of purpose to alter for the good the whole spirit and tone not only of a school but of a locality."[2]

To add to the trouble, the scale of pay for graduate assistant masters in Government schools appointed after 4th August 1931 was fixed at Rs.45 rising to Rs.175. The Selection grade posts and special posts were also reduced. The pay of a Headmaster of a Government Secondary school was fixed at Rs.170 to Rs.500 as opposed to Rs.250 to Rs.650. This reduction of pay in the pay of Secondary teachers in Government schools led ~~to a reduction of pay in the pay of Secondary teachers in Government schools led~~ to a reduction of pay of teachers in aided Secondary schools. The undergraduate assistants were, in some cases paid not more than Rs.20 a month. In this connection, it has to be remembered that - - - - - - - - - - - - - - - - there

1. Quinquennial Report on Public Instruction in the Bombay Presidency, [illegible], page [illegible].
2. [illegible] Report on Public Instruction in the Bombay Presidency, [illegible], page [illegible].

there were 50 to 60 percent of undergraduate teachers working in non-Government schools. In the year 1938-39, the graduates were 49.8 percent in aided secondary schools and 44.6 percent in unaided schools.

In 1939-40, Government, in response to an oft-voiced request, inaugurated a Provident Fund scheme subsidised by Government for the benefit of Secondary teachers. The Director of Public Instruction observed:

"Provision for old age is essential and a teacher cannot be expected to devote himself whole-heartedly to the welfare of his pupils unless he is assured of adequate provision for old age. The institution of a Provident Fund, it is hoped, will stabilise the position of teachers in non-Government schools and will create in them an abiding interest in their professional work".[1]

The position of staffing the Secondary schools became worse as the War broke out in 1939. The Director of Public Instruction observed: "It has not been possible to recruit a sufficient number of graduates to the teaching profession. This is because graduates are able to secure more remunerative appointments elsewhere. The war conditions have raised the cost of living and most of the junior teachers find teaching not a sufficiently attractive profession. Unless the teachers in Secondary schools are well paid, it is futile to expect them either to stick to the profession or to put their heart into their work." 2

As the extension and improvement of Secondary education solely depended upon private enterprise the pay and service conditions of teachers working in private Secondary schools should be the concern of the Department. Due to the National Movement which was in vogue during this period and due to the noble example set up by the Deccan Education Society, Poona, some enlightened individuals from Karnatak did offer to serve the cause of education sacrificing their interests and comforts. The founder members and teachers of the various organisations like the Karnatak Lingayat Education Society, the Karnatak Education Society and others set noble examples of service and sacrifice and built up educational institutions under very adverse circumstances with courage and confidence. Even the Department headed by a European Director of public Instruction could not but respectfully appreciate the ennobling influence of those great teachers. The Director of Public Instruction's observation that, "there are a great number of men who enter the profession because they feel the call to take up teaching work and it is found that men of this type are often able by their unselfishness and singleness of purpose to alter for the good the whole spirit and tone not only of a school but of a locality" has been already quoted [illegible]

1. [illegible] 1939-40, page [illegible]
2. [illegible] 1944-45, [illegible]

new generation of teachers were not imbued with the same ideals as of the older generation and hence they looked upon the teaching profession as one among the many breadwinning professions. They would not stick on to it if better situations were available. However, the Department could not do much to retain and invite the right talent into the profession because the funds made available for a fast expanding programme of education were very meagre.

However, the number of schools and of pupils increased as there was a great demand for English Education. At the beginning of this period, the Joint Examination Board was conducting the School Leaving Examination for purposes of Public Service. When the question of renewing the lease of the Board came up for discussion in 1924, it was decided that the Matriculation examination should serve the double purpose of a School Leaving Examination for Public Service as well as of an Entrance Examination to the University. It was also decided to entrust the examination to the University. When the Joint Examination Board was conducting the examination, Headmasters of schools and Educational Inspectors were associated with the Board and Secondary school teachers were also appointed as examiners. When the Bombay University Act, 1928 was passed, representation was given to the Secondary schools on the Senate of the University and hence the association of the Secondary schools with the Matriculation examination continued even after the abolition of the Joint Examination Board and handing over of the examination to the University. The University conducted the Matriculation examination from 1929. One innovation that was introduced by the Joint Examination Board was continued by the University. The Board had permitted the option to candidates to write their answers in History and Classical languages in their vernaculars even though the questionpapers for those subjects were set in English. The Vernacular papers had to be answered in the Vernacular only. This gave prominence to the teaching and learning of vernacular languages. The salutary effect of this innovation on the teaching and work in Secondary schools was very great indeed. In this connection, the Director of Public Instruction observed:

"The most noticeable feature in connection with the teaching and work in Secondary schools during this Quinquennium has been the increased use of the mothertongue as a medium of instruction. By the end of the quinquennium, with the exception of a few schools in Bombay which had special reasons for maintaining English as the medium of instruction, nearly all Secondary schools used the mothertongue as the medium of instruction for History and Geography and Classical Languages, while Mathematics and Science are usually taught through English only in the higher classes. In some schools, however, even the pupils of standards VI and VII learn Science and Mathematics through the medium of the mothertongue, and it is only because no definite agreement has come to with regard to the equivalents of technical terms in the mothertongue that [illegible] advanced Mathematics [illegible] and

and advanced Science. It is hoped that this increased use of the mothertongue will enable not only a higher standard to be reached in all subjects of the curriculum but also that the method of teaching and the treatment of these subjects will be given a more realistic and rational turn." 1

In 1940-41, a Committee was appointed by the Secondary Education Board to go into the question of the syllabus of Secondary schools. It was intended to plan the syllabus and the scheme of examination in such a way that it no longer remains a mere lead-up course to the University but becomes a terminal course by itself. Owing to the War and the policy of maintaining status quo, no action was taken to revise the syllabus till 1946-47.

We saw in the last chapter that the Secondary Training College Bombay was established in 1906 for the training of Secondary school teachers. The teachers trained at this College were awarded a Diploma by the College. In 1920 the College was affiliated to the Bombay University for the purposes of the degree of the Bachelor of Teaching, and in 1923 the first examination for Part I of that degree was held and the Diploma was discontinued. The strength of the College was gradually increased and it was raised to 100 in 1932-33 and an adequate number of stipends was provided. A hostel was attached to the College. Teachers from private Secondary schools were admitted to the College and their number was gradually increased. There were in 1936-37 in the College 95 teachers from non-Government schools, including fresh graduates and only four Government teachers. The Training facility provided by this one College was found to be very inadequate. A Secondary Training College was established at Kolhapur in 1934-35 under the name Shri Maharani Tarabai Teachers' Training College, Kolhapur. The opening of the College was a boon to the people of Karnatak. It served the people of Karnatak as the Rajaram College, Kolhapur did prior to the opening of the Karnatak Arts College, Dharwar. In 1939-40, the Government Training College for Secondary Teachers was established at Belgaum for the Kannad and Marathi speaking graduates. The Sardars' High school, Belgaum which had both Marathi and Kannad sections in each standard from I to VII was attached to the College as its Practising High school. It was originally proposed to be started at Poona as a part of the scheme for the revival of the Deccan College. As there was a strong feeling in Karnatak, better counsel prevailed and the College was established at Belgaum to meet the needs of both Kannad and Marathi graduates.

As pointed out already, Kannad had become the medium of instruction in several Secondary schools in Karnatak. The College at Belgaum fulfilled the need of graduate teachers teaching through the Kannad Medium. The opening of the College helped to raise the percentage of trained graduate teachers in our Secondary schools.

The Secondary Teachers' Certificate [illegible] was continued [illegible] to enable Secondary school teachers, the [illegible]

1. [illegible] on Public [illegible] in the Bombay [illegible]

were unable to undergo training in the Secondary Training Colleges, to gain some professional knowledge and technique.

This was a period when the educationally backward communities become conscious of the values of education and enlightened members of those communities strove hard to kindle mass conscience in the matter. It is very fortunate that some of the Honourable Ministers for Education hailed from those communities. They could understand and sympathise with the difficulties of those classes in getting higher education for their children. The scholarship system in High and Middle schools had already been introduded. The same had been done in the Colleges also. The number of scholarships was increased at all levels to facilitate a larger number of children to benefit from them. Government passed orders specifying the percentage of seats reserved for the Intermediate, Backward and Depressed classes and for Muslims in the matter of admissions to Government Secondary schools. Similar orders were passed in the award of free studentships in Government Secondary schools. Such orders were passed in the matter of fresh appointments in the various Departments of Public services. The social workers from these communities organised themselves into Associations and established schools and hostels. The Director of Public Instruction observed: "The desire for social and religious emancipation has been partly the cause and partly the outcome of the advance in education. This advance Government have been assiduous to assist".[1]

Writing about the progress made by Lingayats in Karnatak, he wrote: "The Lingayats, mostly resident in the Karnatak, have made marked educational progress, and, chiefly by means of liberal endowments, now have four High schools of their own, at Dharwar, Belgaum, Bijapur and Bagalkot, and are anxious to have a College, exclusively or principally, for the community. They are, however, chiefly a trading community." [2]

In the North Kanara district the Konkani Maratha pupils were given full free-studentships in all Secondary schools in appreciation of the services rendered during World War I. The private Secondary schools had the fees on account of those students reimbursed to them by way of "Fee-grants".

For the promotion of education among the Backward and Depressed Classes, the post of a "Backward Class Officer" was created with the purpose of watching over the interests of the Backward and Scheduled Classes and to uphold their rights. A Backward Class Board was also appointed by Government. The Board consisted of seven members of the Legislative Assembly of whom at leave five shall be from the Backward Classes, two members from the Legislative Council of whom one shall be from the Backward classes. Both these categories of members were to be elected by the respective Legislative bodies. Besides Government [illegible] other [illegible] had special

1. Quinquennial Report on Public Instruction [illegible] the Bombay Province [illegible]
2. [illegible]

special knowledge of the needs of the Backward Classes.

Besides special schools, one hostel at Poona was run by Government for the Depressed Classes. Hostels run by private managements were aided by Government. There were as many as 18 recognised and aided hostels for Harijan boys and girls in Karnatak in 1946-47.

Government had, from the very beginning, been taking interest in the education of the Muslims. Special facilities in the form of reserved accommodation, free-studentships and special scholarships were made available at all levels of education. Government maintained four Boys' and one Girls' Anglo-Urdu High schools in the Province of which one was located at Hubli with a hostel attached to it. The enlightened members of the community organised Associations and awarded scholarships and other concessions to students studying particularly in Secondary schools and Colleges. Muslim private organisations conducted High schools also. In 1946-47, they conducted Islamia Anglo-Uru High school, Belgaum, Islamia Anglo-Urdu High school, Bhatkal (N.K), Muslim English School Hubli, and Anglo-Urdu Secondary Middle school, Bijapur. In 1944-45 the Director of Public Instruction reported: "It will be seen that although the numbers of Muslims do not compare favourably with those of the Advanced Hindus, they are far ahead of the Intermediate and Backward class Hindus and even of Hindus as a whole. The education of Muslim girls is also making progress. It is gratifying that the Muslims are making steady progress in education on the whole." [1]

The position of Muslims attending all kinds of educational institutions with that of other communities on the basis of the proportion of pupils under instruction to the total population for every hundred in 1944-45 was as follows:[2]

"1. Hindus (Advanced - 23.0, Intermediate: 7.5; Backward; 4.8):8.3
2. Muslims: 12.8 (3) Others: 17.9 (4)Average for all communities: 9.1."

The figures for Karnatak would compare favourably with those for the Province as a whole which are given above.

Physical Education.

During this period, efforts were made from time to time to promote the health of the students at all levels of education by arranging for medical inspection, participation in physical training, games, sports, scouting etc. The posts of six Medical Inspectors (one for Bombay City and one for each of Division) were created in May 1921 but they were abolished in August 1922 due to financial stringency. However, Heads of schools maintained records of physical measurements such as height, weight and chest and eye-sight. The post of a Director of Physical Education was created in 1924-25 and Mr. F. Weber of the Young Men's Christian Association was appointed to that post. Mr. Weber conducted classes in Bombay for teachers in the mofussil areas of the Province. He

1. Report on [illegible] P.I. 1944-45, page 46.
2. Ibid., page [illegible].

He gave a short course of Physical Training and mass drill. The schools with trained teachers conducted Mr. Weber's exercises regularly and systematically. The post was retrenched on grounds of financial stringency. Government appointed a Committee in 1927 to go into the question of Physical Education in all its details but the recommendations of the Committee could not be implemented due to financial stringency. When the Popular Ministry came to power in 1937, a Training Institute for Physical Education was established at Kandivli, Bombay to train graduate teachers in the theory and practice of physical education. The teachers trained at the Institute were awarded by the Government of Bombay a Diploma in Physical Education (D.P.Ed.) All Secondary schools were asked to depute graduate teachers for training at the Institute so that every High school may have at least one Diploma holder in Physical Education. Short term courses of three months' duration were also conducted for the benefit of other class room teachers so that all teachers may become games-minded. Some Courses of about a month's duration were conducted for the Headmasters of Secondary schools to orient them in the supervision of Physical activities in schools. The Inspecting machinery was also created with two Assistant Deputy Educational Inspectors for Physical Education in each Division. The officers supervised the progress of physical education in all Secondary schools, Gymnasia, sports clubs etc. and submitted their Inspection Reports to the Educational Inspectors. Provision was made for the payment of seperate grants on Physical education to all recognised Secondary schools and Gymnasia. The teachers trained at the Institute evinced a lot of interest in the physical activities of their schools. The school programme of physical education was systematically planned and executed. Intramurals, Extramurals, mass drills, state wide Physical Education Day, and several other activities enriched school-life and built up a high sense of discipline amongst the students. For the first time in the history of the Educational Department, the development of body received a fair amount of attention along with the development of the intellect.

The public also took a fair amount of interest in Physical activities because many Gymnasia were started and they were recognised and paid grants by the Department. In 1946-47, there were 25 recognised gymnasia in Karnatak.

In 1940-41, a Committee was appointed by the Secondary Education Board to go into the question of the syllabus of Secondary schools. It was intended to plan the syllabus and the scheme of examination in such

Inspite of severe financial difficulties in the extension of Secondary education, Indian private enterprise was determined to [illegible] the cause of education. As on 31st March [illegible] schools [illegible] and girls, of which [illegible] were 40 recognised [illegible]

schools and 41 recognised English Classes attached to Primary schools. There were in all 30,790 pupils in all the Secondary schools of whom 15,650 were studying in the High school classes. Besides, there were 41 students studying in the Ist year of the "Lokshala" started at Bijapur in June 1946. The Lokshala course was of three years and it had a syllabus on par with the Matriculation examination without English. The Lokshala scheme will be discussed in the next chapter.

Adult Education.

Prior to 1937, night schools were being conducted for the benefit of both adults and boys who were occupied during the day. These night schools were run by Government, Local Bodies and by private individuals or organisations. The attendance was irregular and they had no stability. There was a desire on the part of the people to have such schools but their desire was of a temporary nature since it wore away as soon as the novelty of the school wore out. The school masters generally conducted these classes by which they earned some extra allowance of three or four rupees.

In Karnatak, many classes were started. They flourished for some years but they all closed down for want of proper response from the public. With the transfer of education to Indian control in 1921, the interest again revived and special night schools for adults were started. But, as before, boys who were occupied during the day were also admitted to those schools. In 1937, a special Committee known as Adult Education Committee, 1937 under the Chairmanship of Dr. Clifford Manshardt was appointed to examine the problem of adult education. The Committee recommended the appointment of a Provincial Board for Adult Education. Accordingly, the Board was appointed with Shri S.R. Bhagwat as Chairman. In accordance with the scheme submitted to Government by the Board, Adult Education was restricted to the imparting of literacy and the work was left to private enterprise. Under the scheme sanctioned for literacy classes, Adult Education workers were registered by the Board and the literacy classes conducted by them were registered for grant-in-aid by the Department. The inspection of the classes, the holding of literacy tests and the payment of grants-in-aid remained in the hands of the District Educational Officer (Deputy Educational Inspector). The grant-in-aid was a basic grant of Rs.5 per mensem if the average daily attendance of the class was not less than Rs.15- In addition a non-recurring grant of not more than Rs.40 was given for each class. In 1939-40, there was a sporadic increase in the number of classes which compelled the Board to revise the rates of grant. The new rate was a capitation grant of 10 annas for every adult made literate (or Re.1 in places where there was no local board school), plus an equipment grant of Rs.12 per class. This reduction in the rate of grant resulted in the closure of half the number of classes by the end of the year. [illegible], there were [illegible] few classes left. Though [illegible] grants-in-aid, it took [illegible]

some time to catch the tempo again. In 1945-46, it was decided to conduct on an experimental basis intensive mass literacy campaign in 4 selected areas called compact areas. One area in each educational division was selected. Athani Taluka of the Belgaum district was chosen as the Compact area for the Southern Division. A special Adult Education Officer was appointed for each Compact area. His duties included the planning of a programme, propaganda and organisation of classes, supervision ofthe work done and testing the standard of attainment of new literates, arranging for the holding of new classes and starting of village libraries and reading rooms. Adult Education work continued in the non-compact areas as before. On 31st March 1947, there were 435 classes with 13,899 adults on roll. There were also 1000 Reading rooms and village libraries.

With the assumption of office by the Popular Ministry, there was rethinking on the subject. The same will be dealt with in the next Chapter.

Collegiate Education.

Karnatak Arts College, Dharwar. At the beginning of this period, there was only one Arts College established by Government at Dharwar in June 1917. It was purely an Arts College till 1922-23. After the First year course, students desiring to study Science, Medicine and Engineering had to study science of Intermediate class in some other College. This was a great handicap particularly to students studying Medicine and Engineering. At the end of the year 1923-24, Government made arrangements for the teaching of Intermediate Science at the Karnatak College, Dharwar. In his Report for 1923-24, the Director of Public Instruction wrote:

> "Arrangements were made at the end of the year for the teaching of Intermediate science at the Karnatak College, Dharwar and the College was affiliated for this examination after the close of the year. The building which was formerly used as a printing press by the Madras and Southern Maratha Company has now been handed over to the College and is being used for the Science classes and laboratories. A sum of Rs.34,000 towards the initial cost of apparatus was granted from the Dharwar Recruiting Fund. Students in the Southern Division who wish to join the Grant Medical College or College of Engineering will now be able to complete their previous studies at Dharwar, and will no longer be compelled to join another College for one year." [1]

After a lapse of ten years, Science courses leading to the B.Sc. examination were introduced. The Director of Public Instruction wrote:

> "The Karnatak College, Dharwar, was affiliated to the University for a period of five years from June 1934, for the teaching of Science Courses leading to the B.Sc. Examination in [illegible] (Principal and Subsidiary), Physics (Subsidiary), [illegible]

[1] [illegible] pages 18-19.

Zoology (principal and subsidiary), Botany (subsidiary) and Mathematics (principal and subsidiary). This satisfied the long felt need of the Karnatak students, as it enabled them to complete their Science course up to the B.Sc., examination in Dharwar without undergoing the expenses of going to Poona or Bombay." [1]

<u>The Lingaraj College, Belgaum;</u>

We have seen already how the first attempt to start and maintain a private Arts College failed in 1921-22. That was a great blow to private enterprise in the field of Collegiate education. The Karnatak Lingayat Education Society which had gained adequate experience in running High schools decided to open an Arts College at Belgaum. In June 1933, the Lingraj College, Belgaum was opened by the Society. It was affiliated to the Bombay University in Arts upto the B.A. Examination in certain subjects and in Science upto the Intermediate stage in groups A and B.

The period of affiliation was extended for a further period of five years from June 1938 for the I.Sc. examination and the B.A. degree courses in certain subjects.

<u>The Raja Lakhangowda Law College, Belgaum.</u>

The Government Law College in Bombay was almost as old as the University itself. Gujarat and Maharastra regions established private Law Colleges to serve the needs of their respective areas. The Karnatak students had to go to Poona, Bombay, or Ahmedabad for their Law studies. A Society known as the Karnatak Law Society was formed at Belgaum and started a Law College at Belgaum in 1939-40. In the same year Government had started the Secondary Training College at Belgaum, the account of which is given already. So, Belgaum had now two professional colleges in Teaching and Law. The longfelt need of Karnatak was fulfilled in so far as those professions were concerned. With the Lingraj College at ~~Belgaum,~~ Belgaum was gradually becoming a centre of learning for ~~Dharwar,~~ Karnatak, was stealing a march over Dharwar, the town where the first Arts College was established.

<u>Karnatak Education Society's Arts College, Dharwar.</u>

The Karnatak Education Society, Dharwar which pioneered private enterprise in Collegiate education as early as 1920 but unfortunately failed due to political and other circumstances was once again active. In June 1944, an Arts College was started by the Society at Dharwar. The dream of 1920 was fulfilled in 1944. Dharwar had now one Government Arts and Science College and one private Arts College.

<u>The Basaweshwar Arts College, Bagalkot.</u>

Bijapur district which was making big strides in secondary education in recent years had to experience great difficulty in the matter of Collegiate education. Bagalkot, an important [illegible] of the district, took a lead in forming a Society. In June 1944, the Basaveshwara Arts College was started at Bagalkot. This fulfilled an urgent need of the people of the district.

<u>[illegible] College, Bijapur;</u>

[illegible] Headquarters [illegible] needed a College very [illegible] of students [illegible]

Matriculation from the schools at Bijapur. An Arts College, named the Vijay College was started at Bijapur. Bijapur district had now two Arts Colleges - one at Bagalkot and one at Bijapur. These two Colleges augured well for the promotion of Collegiate education in that district.

The Karnatak had by 1946-47 five Arts Colleges, one in Belgaum two in Dharwar and two in Bijapur district. The only district that lagged behind in starting a College was the North Kanara district. There were professional colleges for Teaching and Law. Nothing was yet done for Collegiate instruction in Medicine, Engineering and Commerce. For these courses the Karnatak students had still to trek to Poona or Bombay. However, it must be said to the credit of the people of Karnatak that great strides were made in all levels of education primary, secondary and Collegiate and a case for the establishment of a University was well established if and when Government decided to establish Regional Universities in the Province.

The other noteworthy feature of this period is that a number of private organisations entered the field of education and stabilised themselves financially as well as organisationally and started Secondary schools at several places. The Karnatak - Lingayat Education Society and the Karnatak Education Society, Dharwar had developed strength, stability and confidence to handle Collegiate education also. At a time when the country was marching ahead towards full freedom and preparing herself to be one of the greatest democracies of the world, it is a matter of pride that Karnatak did not lag behind. Karnatak made very rapid strides during the period 1920-1946 because the major communities like Lingayats and others who were educationally very backward till the beginning of the century found an opportunity during this period to participate in the affairs of Government and to create facilities for the promotion of education among those classes. Furthermore, they did not depend on Government alone to provide the educational facilities for them. They organised numerous educational societies and ventured into the field of education with the full realisation that education alone is the key to their upliftment and prosperity. It was still more fortunate that during this period Karnatak had several persons who were wedded to a life of service and sacrifice in order to promote the all-round progress of the Society. They have left their foot-prints on the sands of time by their noble example.

---o0o---

CHAPTER - V.

1947 - 48 to 1956 - 57.

The popular Congress Ministry assumed power in ~~1945~~ 1946 and the educational portfolio was once again taken over by Honourable Shri B.G. Kher, the Chief Minister of the State, then called the Premier. ~~The policy of dynamic action was adopted.~~ The policy of "Status quo" was given up and the policy of dynamic action was adopted. The discontented primary teachers were given a fair deal by giving them immediate relief pending the final decision on their scales of pay. We saw in the last - Chapter how they were ultimately improved. The next step was to think seriously of the introduction of universal compulsory primary education in the entire Province. The Primary Education Act, 1923 had failed to achieve its objectives because of - several reasons, the main reason being that of financial stringency. A Bill was introduced in the Legislatures to repeal the Bombay Primary Education Act, 1923 and to provide for a fresh legislation on the subject. The Bill was soon passed into an Act, the Bombay Act LXI of 1947. The Act is also known as Bombay Primary Education Act, 1947. The preamble of the Act read as follows:

> "Whereas it is the duty of Government to secure the development and expansion of primary education; and whereas it is the declared policy of Government that universal, free and compulsory primary education should be reached by a definite programme of progressive expansion; ~~and whereas it is expedient to make better provision for the development, expansion;~~ and whereas it is expedient to make better provision for the development, expansion, management and control of primary education in the Province of Bombay; It is hereby enacted....." [1]

The main features of the Act were:-

1. In the districts, the management of primary schools was taken away from the District Local Boards and was entrusted to corporate Statutory bodies called "District School Boards" created under the Act. Each school Board was to consist of not less than twelve and not more than sixteen members of whom three should be nominated by Government, not more than two be elected by the non-authorised Municipalities within the district and the rest be elected by the District Local Board.

2. The Municipalities were classified into two categories - "Authorised" and "non-authorised" dropping the previous term "Local Authorities". Only the "Authorised Municipalities", which numbered less than those under the B.P.E. Act of [illegible], were entrusted with the management of primary schools. These Municipalities

---

1. [illegible] Education Act [illegible] preamble.

Municipalities were also asked to constitute a School Board for the management of primary education in the area of the "Authorised" Municipality."

3. Higher educational qualifications were prescribed for the memb of the Boards and reservations were made on the Boards for women, minorities and backward communities.

4. The Administrative officer, the Chief Executive Officer of the Board, had to be a Government servant appointed by Government with provision to draw his pay and allowances from the Provincial revenues. However, the District School Boards and the Authorised Municipalities were required to maintain an adequate staff of Assistant Administrative officers, supervisors, attendance officers clerks, primary school teachers, inferior servants and other staff as approved by the Provincial Government. The control of the staff was fully vested in the Administrative officer.

5. The selection of all staff was to be made by a staff selection Committee consisting of the Chairman of the School Board, the Educational Inspector or any other nominee of the Department and the Administrative officer. The appointments to the several posts were to be made by the Administrative Officer strictly in the order of preference indicated by the staff selection committee.

6. The appellate powers were vested in a Tribunal consisting of the Educational Inspector and the Chairman of the School Board. In case of a difference of opinion between the two, the case was to be finally decided by the Director.

7. The Administrative Officer of a District School Board was required to prepare the scheme of compulsory primary education within a specified time as directed by the Director and had to forward the same to the Director with the comments and suggestions of the Board.

8. The Authorised Municipalities were authorised to frame schemes of compulsory primary education in their areas and to forward them to Government. They were also required to prepare the scheme of compulsory primary education within a specified time and to forward the same to Government through the Director, if and when the Provincial Government directed them to do so.

9. Provision was also made for the effective enforcement of compulsion in the areas where compulsion was introduced.

10. The private primary schools were to be aided by the School Boards in accordance with the prescribed grant-in-aid rules on the recommendations of the Government inspecting officers.

11. The inspection of primary education was vested with Government while the administration was with the School Board.

12. The District Local Boards were required to pay annually to the District School Boards a prescribed portion of their income from local cess collected by them. The non-authorised Municipalities were also required to pay a prescribed portion of rateable [illegible] in the area of those municipalities.

13.

13. The District School Boards were required to get their annual budgets approved by Government. The Government was required to meet all the deficit in the approved budget by making grants to the District School Board.

14. The rates of grants to the Authorised Municipalities were fixed in the case of each Municipality and Government was required to meet half of the additional recurring and non-recurring expenditure on all the new schemes which had Government sanction.

15. Every District School Board and Authorised Municipality ~~School B~~ was required to maintain a Primary Education Fund and all its Revenues were to be deposited in the said fund and the fund was to be maintained, administered and used in the manner prescribed.

The Bombay Primary Education Act, 1947 reduced the School Boards to the position of advisory bodies, vesting the powers of control and management either with the Administrative officer of the Board or with Government. It was, therefore, the primary responsibility of Government to initiate schemes of compulsion and accordingly, it was decided to introduce compulsion in all villages with a population of 1000 and over from 1947-48 in a progressive manner as follows:

	Age group
1947-48	7-8
1948-49	7-9
1949-50	7-10
1950-51	7-11
1951-52	6-11

The District Local Boards were advised that Government would meet the entire cost of Primary education in the district provided they raised the local fund cess to three annas and earmarked 15 pies out of the cess (i.e. 5/12th of the cess revenue) towards primary education. During 1947-48, Dharwar and Belgaum along with 13 other districts accepted Government suggestion and compulsion was introduced in those districts with immediate effect. The remaining four districts including Bijapur and North Kanara followed suit and compulsion was introduced in those districts from 1948-49 for the age-group 7-8. For the enforcement of compulsion, Attendance Officers were appointed in sufficient numbers. The Authorised Municipalities also began to think seriously of the scheme of compulsion. The Hubli Municipality, the premier Municipality in Karnatak, introduced compulsion for the age range 7-8 from 1948-49. The Municipalities of Dharwar, Belgaum, Bijapur and Gadag was also introduced compulsion in their areas, Gadag being the last one to introduce it from 1-3-1952. Arrangements were made in all districts for taking the census of children of the age-range 6-11 in all villages with contiguous village [illegible] whose population would be 1000 and over to enable the introduction of compulsion in all such villages from 1949-50. By introducing the scheme of compulsion, Government had undertaken a project of [illegible] the size of which would [illegible] from the [illegible] of the Report of the [illegible] of Public [illegible]

"An idea of the magnitude of the problem, which Government had to face, can be formed when it is remembered that of some 32 lakhs of children of the school-going age in the Province, only about half the number was in schools, so that, within a limited period of about 10 years the other 16 lakhs of children were also to be brought into schools. According to the census of 1941, of the total population of 209 lakhs, some 174 lakhs of people were residing in rural areas, and assuming that 15 percent of this population belonged to the school-going-group, some 26 lakhs of children of the school-going age had to be provded for by the District Local Boards."[1]

In 1948-49, the Indian States of Jamakhandi, Mudhol, Ramadurg Savanur, Laxmeshwar etc. were merged in the four districts in which they were located and this merger added to the number of children of the school-going age and to the number of villages where primary education facilities were still to be provided.

Training of Teachers.

With the introduction of the scheme of compulsion in 1947-48, the problem of finding teachers and of training them assumed very great importance. About 15000 candidates were passing the Primary school certificate examination every year and the requirement of additional teachers was about 6000 per year. The number was available but not of the right quality. The rules of eligibility for recruitment as primary school teachers had to be relaxed in that candidates with 40 percent of marks at the P.S. . examination had to be held eligible relaxing the prescribed condition of 50 percent. With a large in-take of untrained teachers, it was feared that the quality of instruction would deteriorate. Necessary steps were taken to increase the annual output of trained teachers by expanding the training facilities in the existing institutions and by opening a number of new training institutions, both Government and non-Government. At the end of 1955-56, there were 18 training institutions in the four district of Karnatak.

Shift system was introduced in standards I and II of all schools other than Basic primary schools or craft schools located in the area of compulsion so that no teacher taught more than 40 pupils in one school session or more than 80 pupils in a day. The system helped to meet two difficulties viz.(1) the paucity of teachers and (2) the paucity of accommodation. The system invited criticism of the people but circumstances compelled the retention of the shift system in view of its administrative advantages.

Basic Education

Basic education was introduced in the primary schools of the compact areas in 1938-39. The progress of the scheme was reviewed at the request of the Bombay Government in 1943-44 by a Committee appointed under the Chairmanship of Sir John Sargent by the Central [illegible] the scheme [illegible] a green signal for

---

[1] [illegible] 1947-48 [illegible] pages 13-14.

for extension and expansion. The scheme of Basic Education was accepted as an essential feature of the system of education in the Province. It was not possible to convert all ordinary primary schools into Basic Primary schools overnight without making provision for 1) teachers trained in Basic Education and 2) other facilities such as tools, equipment and accommodation. Government decided that "crafts" and "community work" should be introduced in ordinary primary Training Institutions to bring them steadily into close relationship with Basic Training Institutions. Accordingly, a course in the theory of Basic education, crafts and community work became compulsory subjects in the ordinary primary Training institutions. With the object of staffing these institutions by a suitably qualified graduate staff trained in Basic education, a training centre for graduate teachers was opened in Belgaum in 1947-48 and 33 teachers passed the Diploma Examination in Basic education. During 1948-49, three regional post-graduate training centres were started at Dharwar, Bordi and Ahmedabad. The course at the post-graduate Basic Training Centre was a one-year course with a syllabus laying special emphasis on crafts, community life and correlated teaching. Short term courses in craft-training were also conducted to train primary teachers. The crafts approved for the purpose of introducing in the ordinary primary schools were: 1) Kitchen-gardening leading to Agriculture in the higher classes, 2) spinning (cotton or wool) leading to weaving in higher classes and 3) paper-work and card-board modelling leading to wood-work in higher classes. Having thus prepared the ground for introducing the teaching of crafts in ordinary primary schools, it was decided that all the first grade primary schools in the State should be converted into craft schools since they would be a half way house between an ordinary primary school and a full-fledged basic school. Further, all the old agricultural-bias primary schools were also converted into basic schools. However, experience showed that the experiment of craft-schools was not quite satisfactory. It was, therefore, decided that the ordinary primary schools should be converted to the basic pattern in one single step and that the existing craft schools be converted into full-fledged basic schools as soon as fully trained staff became available.

The policy of converting progressively the Training Institutions to the basic pattern was continued and in 1954-55 all training institutions for primary teachers were converted to the basic pattern. The syllabus of the Training Institutions was also overhauled. The period of training in Basic education was extended to two years and the new syllabus for Basic Training Institutions was introduced in 1949-50. The six main heads of the syllabus were: 1) Training in Health and community life; 2) Training in arts; 3) [illegible] 4) Training in [illegible] 5) [illegible] [illegible]

and at times it was ridiculously artificial. In the light of experience gained it was laid down that only those topics which could be correlated naturally with the craft or with the social or physical enviornment should be taught on the principle of correlated teaching. Instead of visits to villages for safai and other civic training programmes, social activity programmes were drawn up for the whole year consisting of celebration of festivals, attendance at fairs, observance of special days, village safai work and other useful activities. The syllabus was thus recast in 1949. The new syllabus placed emphasis on i)activities rather than on the teaching of books; ii)health, hygiene and safai and iii)correlated teaching rather than compartmentalised teaching. The syllabus was activity based and not mere book-based. Special care was taken to see that children actually carried out the various activities prescribed and were side by side given the necessary scientific knowledge which would enable them to conduct those activities with understanding and sympathy. The over-emphasis given to craft-work was reduced from three hours and twenty minutes per day to only ten hours per week. The new syllabus was introduced in all Basic schools from 1950-51. Between the period 1947-48 and 1953-54, the syllabus of the ordinary schools also underwent a change. Besides language, arithmetic and general knowledge and other academic subjects which were common to both these and Basic schools, the syllabus was common to both in cleanliness, civics, community life, physiology and hygiene etc. The two syllabuses were thus brought very close together. In 1955, both the syllabuses were revised. A separate syllabus for craft-work was drawn and prescribed for Basic schools only. Another syllabus for academic and other subjects was drawn up and was prescribed for both the Basic and ordinary schools. So, the difference between the Basic and other schools was reduced to the minimum. Due to the change in the syllabus of the Training Institutions, all trained teachers were trained in Basic education and hence both the ordinary and Basic schools were staffed by teachers trained in Basic education. Under the new arrangement, any ordinary school could be converted into a Basic school as soon as craft equipment is made available to it. By 1956-57, there were in the four districts of Karnatak, 377 Junior Basic schools and 785 Senior Basic schools. The other schools were also following the same syllabus as for Basic schools but that of craft. The scheme of Basic education was well developed. The quality of craft-work had considerably improved and the realisation from school produce was also increasing gradually. Though the per capita cost on Basic education was Rs.29.1 as against Rs.28.4 in ordinary schools the Basic schools provided the right type of education to the children in that it developed the qualities of self-help and a joy in doing things. The modern concept in education, "learning by doing" was practised in these schools and hence they were different from [illegible] schools of [illegible] type [illegible] years ago.

The District School Building Committees:

The next important question was one providing accommodation to the large number of new schools and additional accommodation for the old schools whose strength was increasing from year to year. The District Building Committees had been established previously with the Educational Inspector as the Chairman. These Committees were reconstituted with the President of the District Local Board as Chairman and the Administrative Officer of the District School Board as Secretary. The Educational Inspector ceased to be a member of the Board. The revenue officers holding the posts of Deputy Collectors or Prant officers were made ex-officio member of the Committee. From 1947, the District Local Boards were absolved from the responsibility of making any contribution to the funds of the Building Committees and it was laid down that the local people should contribute not less than ¼th of the cost of the building and that the remainder should be given from the funds of the Committee as grants-in-aid. Simultaneously, steps were also taken to reduce the cost of construction of buildings by preparing "cheap-type Designs" of buildings. Four standard cheap-type designs were approved and the District Primary school building Committees were given the option to choose any one of those designs in view of the local climatic conditions and the availability of building materials. In order to make available adequate funds for the building programme, Government took over the management of the Provident Funds of the employees of the District School Boards. With the amendments effected in the Bombay Primary Education Act, 1947 and the Bombay Housing Board Act 1948, the law empowered Government to utilise the accumulated balances of the provident fund for the purpose of giving loans to District School Boards for the construction of and special repairs to the primary school buildings. The loans bore interest at 4 percent per annum and were to be repaid by 20 equated annual instalments. The scheme began in 1953-54 and a sum of Rs.50 lakhs was set apart every year for a period of 3 years in the first instance.

Another important scheme launched by Government for expediting the building programme was to sanction a grant of Rs.500 per room if the village people constructed the building on their own satisfying the following conditions: (1) The life of the building should be more than 25 years; (2) it should be structurally safe; (3) it should provide necessary floor space, light and ventilation and (4) its valuation should not be less than Rs.1000/- per room. Under this scheme, of encouraging local initiative and enterprise, several villages took advantage of the scheme.

The building programme progressed satisfactorily under the various schemes described above.

Changes in Administrative set-up

[illegible]

due regard to economy. There were six educational divisions in the Bombay Province prior to Ist June 1953. The four districts of Karnatak formed one division named as Southern Division or Dharwar Division. The division was headed by the Educational Inspector in Bombay Educational Service, Class I and he was assisted by two Assistant Educational Inspectors in Bombay Educational Service, Class I. It was difficult for the Educational Inspector to reach the remotest parts of his Division and to obtain first-hand information on all problems of his Division. Personal touch with the institutions and the personnel was lacking. With the introduction of the compulsory primary education and with the increase in the number of Secondary schools and Training Institutions, a closer and effective supervision became essential. It was, therefore, decided to reorganise the administrative machinery so as to place each district under the control of a Class I Educational Inspector assisted, as in the past, by a large staff of Inspecting officers. The reorganisation was based on the district as the administrative Unit. The organisational chart of the Department at the district level was as follows:
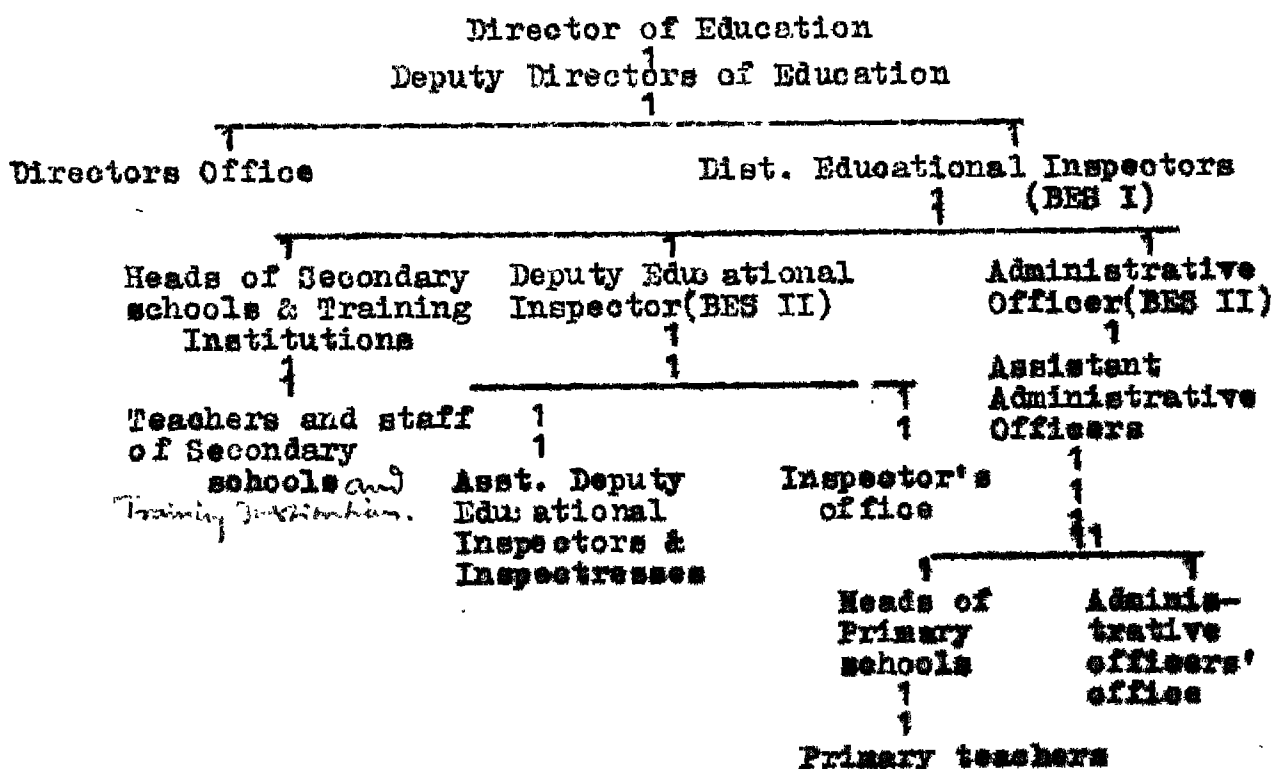
With a view to economise the administrative expenditure, the posts of the Attendance officers were abolished along with those of the Social Education Officers and the posts of the Assistant Deputy Educational Inspectors were increased so that each Assistant Deputy Educational Inspector may have in his charge only about 60 to 70 primary schools. He was entrusted with the inspection of Social Education classes and the enforcement of compulsion also.

<u>Education of Girls</u>

The education of girls was progressing well. In 1947-48, the infant class was abolished from all boys' and girls' primary [illegible]

both boys ' and girls' primary schools. The separate primary school certificate Examination for girls was abolished. Both boys and girls appeared for a common primary school certificate examination at the end of Primary standard VII. The number of girls under instruction increased from year to year at all levels of education, primary, secondary and Collegiate.

SOCIAL EDUCATION

The term "Adult Education" was changed to "Social Education" as the purpose of educating the adults was not only to make them literates but also to make them socially useful citizens. During this period, the scheme of Social Education had to be given a permanent place in the schemes of education. The education of the parents would facilitate the implementation of the compulsory primary education scheme since the literate parents would very willingly send their children to school. In a democracy which had accepted adult franchise, the education of the electorate was a very important factor. The success of democracy depended on the enlightenment of the people. So, Social Education was given great prominence. The posts of special officers for compact areas were abolished and the Assistant Deputy Educational Inspectors were entrusted with the task of promoting Social Education work. Regional Social Education Committees were established in Maharastra, Gujarat and Karnatak. The Committees had both non-official and official member with a non-official as Chairman and a Bombay Educational service Class II officer as its Secretary. The main function of the Regional Social Education Committee was to direct and guide the work of dissemination of general knowledge in addition to the spread of literacy among the illitrates. Literacy work was done mainly through the Social Education classes which were of two types - the first test classes and the second test classes - the duration of the former being four months and that of the latter six months. The aim of the syllabus framed for these classes was to turn out useful citizens with a sense of civic responsibility and not merely to impart literacy. The Assistant Deputy Educational Inspectors inspected all these classes and examined the adults under instruction in those classes. They forwarded their recommendations for grants-in-aid to the Secretary of the Regional Social Education Committee who actually paid grants to the Social Education classes. The following statistics for 1951-52, 1952-53 and 1953-54 furnished areawise by the Director of Public Instruction in his annual Reports for 1952-53 and 1953-54 will show how vigorously the work of Social education was pursued in the Karnatak region.[1]

Year

---

1. Report of the D.P.I. 1952-53, page [illegible] and Report of the D.P.I. 1953-54 page [illegible].

Year	Number of classes			No. of adults on roll		
	Ist test	2nd test	Total	Ist test	2nd test	Total
1951-52	1283	1122	2405	18873	14532	33405
1952-53	2094	1535	3629	41513	26005	67518
1953-54	2179	1764	3943	39466	30002	69468

Statement continued:

Year	No. of persons made literate		
	Ist test	2nd test	Total
1951-52	10467	5342	15809
1952-53	24847	9171	34018
1953-54	26855	14732	41587

The scheme of village libraries and reading rooms was also launched side by side to maintain the literacy of neoliterates. There were in Karnatak districts 1672 village reading rooms in 1953-54 and grant of Rs.22872 was paid to them. The Regional Social Education Committee, Karnatak area, Belgaum published a number of books and brought out a fortnightly magazine for the benefit of the neo-literates. The Committee also conducted short term courses for training Social Education workers to orient them in the new concepts of Social Education and the new methods of teaching the adults.

Social education was also recognised as an integral part of the development programme in the community Development areas and National Extension service blocks. Social Education Officers were appointed in these areas to look after social Education work.

Besides conducting literacy classes and establishing village reading rooms both the Department and the District Development Boards organised a variety of programmes like bhajans, Kirtans, folksongs, celebration of important Days and Festivals, film shows, magic lantern lectures etc. to popularise the scheme of Social Education and to educate the masses. People at several places contributed both in cash and kind such as supply of slates, books, pencils etc. for the conduct of the Social Education Classes.

Due to the various measures adopted as above, the campaign of mass literacy and social education stirred up the conscience of the masses and made them active participants in the project of driving away mass illiteracy.

Secondary Education.

English occupied a dominant place in the Secondary school curriculum right from the beginning in of English education in the country. It was only during the period 1923-[illegible] that subjects like History, Geography, Classical Languages and at a later stage Mathematics and Science were being taught through the [illegible]

Still, English continued to dominate the curriculum. In 1947-48, the Bombay Government decided to abolish English from the syllabus of the three lower secondary standards. A common syllabus was prescribed for primary standards V, VI and VII and Secondary standards I, II and III. The entire school course (Primary and Secondary) was of eleven years, standards I - VII being High school classes. English was to be taught from standard VIII only. The mother tongue was the medium of instruction in all High Schools except the English-teaching schools, Anglo-Indian and European schools and in a few other schools because of the special circumstances in which they were placed. As a result of this arrangement, all the English classes attached to the first grade Primary schools and the special classes attached to High Schools for the benefit of students who had passed the Primary school certificate examination were closed. The mothertongue occupied its rightful place of pride in the school syllabus. In 1948-49, permission was granted to teach English in standard VII utilising the periods assigned for craft-work if there was a demand for teaching English in standard VII and if a suitably qualified teacher was available for teaching the subject. Hindi was introduced in standard V and extended progressively to higher classes upto XI.

Another important change in the school syllabus was the introduction of the teaching of craft. This was a natural consequence of the acceptance of a craft-centred Basic education at the primary stage. The syllabus in the three lower standards of the Secondary schools included the teaching of the mother-tongue, Hindi, Social studies, General science, art and craft, physical education and extra-curricular activities.

The dominance of the Matriculation examination was another factor that hindered the progress of secondary education in the country. All efforts made in the past to minimise its importance had failed. It is already seen how in 1929, the Joint Examination Board was abolished and the conduct of the examination was once again entrusted to the University. With the establishment of Vocational High schools from 1938-39, a school Leaving Certificate examination Board was established in 1945 to conduct a School Leaving Certificate examination for the students of Vocational High schools. The Joint Committee of the Central Advisory Board and the Inter-University Board had recommended that there should be only one examination at the end of the High school stage for pupils of all types of secondary schools — academic, technical, commercial, etc. The examination should meet the needs of students who would enter employment on leaving school as well as those who would intend [illegible] to University [illegible] studies. The Bombay [illegible]

the Matriculation examination and to replace it by a School Leaving Certificate examination which would meet the needs of all types of Secondary schools and of the categories of students – those seeking employment and those proceeding to the University. Government passed the Secondary School Certificate examination Act, 1948 and established in 1948 a Board known as S.S.C. Examination Board consisting of a Chairman, six ex-officio members who are officers of Government, twelve representatives of the Universities in the State elected by them in the prescribed manner, twelve representatives of Headmasters and assistant teachers nominated by Government and five experts in Education also nominated by Government. The Chairman and the Secretary of the Board are whole-time officers of Government. The S.S.C. examination organised under this Act by the Board has replaced all examinations held at the end of the Secondary course viz. the Matriculation examination, the School Leaving Certificate Examination, and the Lokashala examination. The examination covers a very large number of subjects – academic, technical, agricultural, commercial, Art etc. – which are divided into nine groups. A student desiring to pass the examination has to offer not less than seven and not more than ten subjects. The examination thus provides a wide choice of subjects to meet the needs of pupils with different aptitudes and interest and to fit them effectively for a variety of careers in business, industry and Government service. The Universities are authorised under the Act to prescribe the entrance requirements. Students who do not intend to prosecute higher studies in the Universities may even drop English and yet pass the S.S.C. examination. After the successful termination of the Secondary school course, they can take up careers when a good knowledge of English is not so very essential. They need no longer move in the society with the failure at the S.S.C. writ large on their faces.

We have seen in the last chapter that the Government High school, Bijapur was converted into an Agricultural High school with a view to give a vocational bias to our Secondary education. The policy was continued and Government started a full-fledged Technical High school at Hubli, and a Technical High school centre at Karwar. Further, Industrial cum Technical High school centres were started at Belgaum and Bijapur. A Government Commerce centre was started at Dharwar. At the Technical/Commerce/Industrial cum Technical centres, pupils from local secondary schools were admitted for instruction in the particular subjects while they studied the remaining academic subjects in their respective schools. There were also two aided High schools imparting instruction in vocational subjects. They were the [illegible] Smith High school of Commerce, Belgaum and the People's Multi-purpose High school, [illegible]. The latter offered instruction in agriculture. [illegible] in the [illegible] of all the Secondary [illegible] for a vocational [illegible] secondary [illegible]

set to match with the work-oriented craft-centered education at the primary stage.

Physical training, games, sports, scouting, drawing and such other activities had already become a vital part of the school programme. With a view to develop in the youth of the country the qualities of discipline, leadership, resourcefulness and citizenship, the Government of India decided to raise units of the National Cadet Corps in High schools and Colleges. The Senior Divisions were started in 1948 for boys and girls in Colleges and Junior Divisions for boys and girls in High schools. The teacher were trained as officers of the N.C.C. units. Officers, J.C.Os. and N.C.Os. of the Regular Army were also posted to N.C.C. units. The Karnatak districts were catered to by the 5th Bombay Battalion, N.C.C., Dharwar so far as senior N.C.C. was concerned. The authorised strength of the Battalion was 15 officers and 470 cadets. The College students joined the N.C.C. in large numbers and the full strength of the Battalion was alwasys maintained. Besides, a good number of cadets appeared for the N.C.C. 'B' certificate and 'C' certificate examinations and their performance was quite high.

The Junior N.C.C. units also had commendable response from the High school students in the Karnatak region. Out of a total of 181 units allotted to the Bombay State, the Dharwar Division had 47 units with 1551 cadets as against 5973 for the entire state. In 1953-54, the Government of India decided to abolish the Junior N.C.C. The Auxiliary Cadet Corps (A.C.C) took the place of N.C.C. in High schools.

Manual labour camps for students were also organised and students participated in the construction of approach roads, school buildings, repairs to playgrounds etc. There was during this period a high sense of discipline amongst the students. They were developing proper attitude towards manual labour. They enjoyed participating in the several activities arranged by the schools.

Another notable event of the period was the merger of the Indian States of Jamkhandi, Mudhol, Ramadurg, Savanur, Laxmeshwar, Kundgol and Shahapur (Belgaum) in the Karnatak district. The State High schools were taken over by Government and they were handed over to private managements by 1956-57 excepting the schools at Jamakhandi and Savanur.

In any scheme of education, the teacher plays a prominent and vital role. It is already seen how the teachers as a class were often neglected both by the society and the Government and they had perforce to reconcile themselves to miserably low salary scales and to console themselves with the philosophy of plain living and high thinking and of selfless service and sacrifice. The lot of teachers in Secondary schools was very difficult since most of the [illegible]

Secondary schools were run by private managements. The main sources of income of aided Secondary schools were fees collected from pupils, donations from the public and grants from Government. The poverty of the people adversely affected the donations from the public and the grants from Government were both meagre and uncertain. Consequently, a large number of private Secondary schools in the Province had no fixed scales of salaries for the teachers and had no such thing as the security of service. Government, therefore, appointed a Committee consisting of two members - Messrs. V.D. Ghate and N.V. Parulekar under Government Resolution, Education and Industries Department, No.6803 of 15th May 1947, to examine and report on certain questions concerning Secondary schools in the Province, including salaries of Secondary teachers and service conditions. This Committee, popularly known as Ghate-Parulekar Committee, recommended that all teachers should be put on running scales of pay with some special allowances for high cost of living in certain areas. Special scales of pay or special duty allowances were recommended for the Headmasters. Leave rules were also made more generous and conditions of service were made more secure. The recommendations were accepted by Government with certain modifications and were put into force with effect from Ist June 1948. Under these orders, the scale of pay for a graduate S.T.C. or T.D. ~~is~~ was Rs.74-4-114 EB-4-130-5-160 and that of a B.T. ~~is~~ Rs.90-5-130 EB-6-160-8-200. Besides, he gets the following allowances for additional qualifications:

Bachelor's degree in the Ist class		Rs.15
-do-	2nd "	Rs.5
Master's degree in the Ist class		Rs.15
-do-	2nd "	Rs.10
M.Ed., M.A. or Ph.D. in Education or an equivalent degree		Rs.10

He also gets an advance increment of Rs.5 and a special pay of Rs.10 for the Physical Education Diploma.

The pay scales of Headmasters of non-Government Secondary schools were laid down as follows:-

III grade:	Rs.200-10-300 or a duty allowance of Rs.45-75 in addition to normal pay as assistant teacher.
II "	Rs.250-10-350 or a duty allowance of Rs.50-100 in addition to normal pay as assistant master.
I "	Rs.350-10-450 or a duty allowance of Rs.100-200 in addition to normal pay as assistant teacher.

Government also ordered the payment of dearness allowance on par with the rates for Government teachers and sanctioned grant-in-aid at 50 percent of expenditure on dearness allowance.

A scheme of provident fund was already in vogue since 1940 and a special grant-in-aid was being sanctioned for the purpose.

Several orders were issued by the Department from time to time to [illegible] the conditions of [illegible]

of tenure of teachers working under private managements. Schools were compelled to define the service conditions of teachers on proper lines and to make due provision for leave and other privileges. Schools were directed not to change their staff without adequate and justifiable reasons and not to take disciplinary action unless the prescribed procedure was followed and that a reasonable opportunity was given to him to defend himself. The teacher was given the right of appeal to the Department in case ~~he was~~ he was aggrieved by the orders of punishment inflicted on him ~~by the orders of punishment inflicted on him~~ by the management. In the case ~~x~~ of wrongful termination of service, the teacher was entitled to compensation at prescribed rates. With the improvement in pay scales and service conditions of the teaching staff in private Secondary schools service in private schools ~~have~~ has become in some respects more attractive than under Government and it ~~has~~ become easier for private managements to recruit and retain competent teachers.

The improvements in the pay scales of teachers led to an increase in cost on Secondary education. To meet the situation, the managements were allowed to increase the rates of fees within the limits of Rs.3 to Rs.6 per mensem in rural areas and Rs.4 to Rs.8 per mensem in Urban areas as against the limit of Rs.2 to Rs.5 in all areas except Bombay City. Besides, the increase in fee income, the management received increased grants from Government as Government increased the grants to 30 percent and 33 1/3 percent of the approved expenditure of schools in Municipal and rural areas respectively. As stated already, the dearness allowance grants were paid at 50% of the approved expenditure subject to certain conditions. The Director of Education had also the discretion to pay additional grant upto 5% of the admitted expenditure to schools deserving special consideration. For some time special grants were also sanctioned to schools for Physical Education, Art and Visual Education. Provision was also made in the Grant-in-aid Code for payment of non-recurring grants for construction of buildings, acquisition of playgrounds, purchase of furniture and equipment subject to funds being available.

As a result of the introduction of Compulsory primary education and the starting of primary schools in almost all villages with a population of 400 and over, even the most backward classes were desiring to educate their children for longer periods. The scholarship system was already in vogue. Under the new grant-in-aid Code, the managements of aided schools were allowed to grant free-studentships upto 15% of the strength of the school. Government also sanctioned 5% free-studentships subject to certain conditions. The managements of aided Secondary schools were given fee re-imbursements ("Fees-grants") on account of these [illegible] students. In Government institutions, [illegible] were [illegible] class [illegible] in [illegible] schools.

schools and at 37½% in Girls' High schools. All Backward class pupils were admitted free in all Government institutions and if they attended recognised Secondary schools, their fees were paid by Government by way of "Free-grants". The fees of children of primary school mistresses whose monthly income was below Rs.100 were also paid by Government. Teachers working in nonGovernment secondary schools were entitled to free secondary education for thei[r] children in the schools conducted by their managements.

The growing demand for secondary education from all sections of the society, both rural and urban, and liberal concessions extended to the poor and deserving students led to an increase in the number of secondary schools and pupils. By 1956-57, the number of High schools and the number of scholars had almost doubled within a decade after independence. Secondary education was provide[d] almost entirely by private management since Government maintained only 11 High schools out of 15%. The people of Karnatak were not only desiring to have Secondary education for their children but were also taking steps to provide for it through their own efforts.

The details of schools and scholars managementwise and sexwise are furnished in Annexure.10.

University Education

The Karnatak University, Dharwar.

Till the year 1948, there was only the Bombay University for the whole Province, though the question of establishing Regional Universities was discussed on several occasions in the past. As early as 1924, the University Reforms Committee under the Chairmanship of Sir Chimanlal Setalwad had recommended the establishment of a University for Maharastra. Though no action was taken on this recommendation till 1942, it stirred up the people of Karnatak to cherish the dream of a University of their own. In 1926, the Andhra University Bill contemplated the inclusion of Bellary District in its jurisdiction. The Kannad Sahitya Parishad launched a vigorous protest against the inclusion of Bellary district, a Kannad district, within the jurisdiction of the Andhra University. As a result of this agitation, the Bellary district was excluded from the jurisdiction of the Andhra University. The first Karnatak University Association was formed at Dharwar with the object of bringing into existence a separate University for the Karnatak area. In the meanwhile, the people of Maharastra were also vigorously pursuing their efforts for the formation of a separate University for Maharastra. The Director of Public Instruction in his quinquennial report for 1932-37 observed:

"In April 193[illegible], His Excellency the Governor accompanied by the Honourable Minister for Education received a [illegible], led by Mr. M.R. Jayakar, which asked Government to [illegible] early [illegible] for the establishment of a [illegible] at Poona [illegible] all the [illegible] of the [illegible]

issues, which included the future position of the University of Bombay and the question whether some form of relief was required by it. Government considered therefore that it was advisable, before determining their policy, to convene a conference to which all heads of Colleges affiliated to the University, representatives of the interests of the Bombay University, Headmasters of selected High schools, ex-Ministers of Education, certain Heads of Departments, and educational officers of Government, and representatives of special interests e.g. the Backward classes were invited. The conference which was opened by His Excellency the Governor and presided over by the Honourable Minister for Education, was held at Poona in July 1933. The trend of the debate showed that the balance of opinion on the whole was against the formation of regional Universities with powers of affiliation over external Colleges. A considerable body of opinion, however, was in favour of unitary and possibly residential Universities where conditions are favourable and where adequate finance is forthcoming. As this type of University did not strictly fall within the scope of the Agenda, this alternative proposal was not fully discussed." [1]

In the year 1937, a resolution was moved in the Legislative Council by Dr. G.S. Mahajani recommending to Government to take early steps to establish additional Universities in the Province. The then Congress Government expressed its full sympathy with the spirit of the resolution. In the year 1942, Government appointed a Committee under the Chairmanship of Dr. M.R.Jayakar to investigate into the possibilities of the establishment of a University in Maharastra. This Committee submitted its report in 1943. This action of Government stirred up the people of Karnatak. A Karnatak University Conference was convened in Belgaum in 1942 and was followed by the formation of another Karnatak University Association at Belgaum. A second conference was held in Dharwar in October 1945. The conference chalked out a programme of work for the early establishment of a Karnatak University. A Karnatak University Association was formed in Dharwar but was later amalgamated with the Association constituted in Belgaum in 1942. The 26th of September 1946 was observed as the "Karnatak University Day" all over the region and a deputation waited on Shri B.G. Kher, the Chief Minister, to establish a University for Karnatak. Government accepted the suggestion and the Karnatak University Committee was appointed on 17th April 1947 under the Chairmanship of Justice N.S. Lokur. The Poona University Act was passed in March 1948 and the Karnatak University Bill, based on the recommendations of the Committee, was passed by the Bombay Legislature in April 1949 and the Karnatak University was incorporated on the [illegible]. The Director of Public Instruction in his [illegible] about [illegible] University [illegible]

University as follows:-[1]

"Shri R.A. Jahagirdar, M.A.,LL.B.(Retired Jude of the Bombay High Court) was appointed the first Vice-Chancellor of the University and Shri D.P. Patravalli, M.A.(Cantab), Professor of Mathematics, Insitute of Science, Bombay, the first Registrar of the University.

All the University bodies viz. the Senate, the Syndicate, the Academic Council etc. were duly constituted and the University became a body corporate by the end of the year. The University also held its first examinations during the year. Pending the construction of its permanent offices at the ChhotaMahableshwar site, the University Offices were temporarily located in the Primary Training College at Dharwar, where some accommodation was made available to it for the purpose.

The University had 7 Arts and Science and 5 Professional Colleges affiliated to it, with a total strength of 4389 students, 3574 in the Arts and Science Colleges and 815 in the Professional Colleges.

The University held its first examinations in the summer of 1950, when 284 students appeared for the examinations of whom 227 passed."

Though higher education in Karnatak had its origins with the establishment of the Karnatak Arts College, Dharwar as late as 1917, the leaders of Karnatak and particularly those working in the field of education strove hard to catch up with the rest of the Province. In a period of 30 years, the very ambitious goal of creating favourable conditions for the formation of a separate University for Karnatak was reached due to their dedicated service and sacrifice. After a long and continuous struggle, the people of Karnatak succeeded in founding an educational edifice of their own which should enable them to advance at full speed economically, socially, morally and spiritually.

The University had difficulties of accommodation in its early stage. Government granted a beautiful and extensive site of over 300 acres to the University for its campus. This site is popularly known as Chota Mahableshwar and is situated at a distance of about two miles from Dharwar town. On this site, Dr. Rajendra Prasad, President of the Republic of India, laid the foundation stone of the administrative building on 30th March 1951. The construction of the building was completed in August 1953 at a cost of Rs.2,60,000 and its opening ceremony was performed by Dr. S. Radhakrishnan, the then Vice-President of the Indian Republic on 26th of October 1953.

Shri R.A. Jahagirdar, the first Vice-Chancellor, relinquished his office on 17th July 1951. Shri C.C. [illegible], Retired District Judge, was elected as Vice-Chancellor [illegible] his term [illegible] Parate, [illegible] of [illegible] [illegible] 1945 [illegible]

Dr. Pavate was the Director of Education of the Bombay Province from 1947-54. The newly-born University which had to grapple with several difficult problems was singularly fortunate in having Dr. Pavate as its Vice-Chancellor soon after his retirement. His dynamic personality, his academic scholarship and his mature administrative experience were fully harnessed to the speedy and healthy development of the University. Plans were prepared for the construction of various buildings including a massive building for housing the post-graduate departments, the Library and the laboratories. The grants from the Provincial Government were being utilised in building up the post-graduate departments and creating library and other facilities. The Bombay Government sanctioned grants to the Karnatak University during the period 1949-55 as follows:[1]

Year	Grants		
	Recurring	Non-recurring	Total
	Rs.	Rs.	Rs.
1949-50	..	..	1,00,000
1950-51	3,50,000	4,00,000	7,50,000
1951-52	3,40,000	..	3,40,000
1952-53	3,40,000	1,65,000	5,05,000
1953-54	3,00,000	1,93,200	4,93,200
1954-55	3,40,000	6,36,800	9,76,800

At the time of its incorporation, the Karnatak University was mainly an affiliating University. But the Karnatak University Committee had observed in its report that the University should grow ultimately into a residential insitution with emphasis on post-graduate instruction, affiliation being one of its subsidiary functions. Accordingly, by 1956-57, post-graduate departments in Mathematics and Statistics, Kannad Language and Literature, Physics, Chemistry, Geology, Economics and History and Politics were established. The University also started a scheme of extension lectures under its auspices since 1952.

In 1946-47, there were only five Colleges of general education with no College in the North Kanara District. Three more Colleges were established during the decade. They were the Kanara College, Kumta (N.Kanara Dist.), Rani Parvati Devi College, Belgaum and the Kadasiddeshwara Arts College, Hubli. There were in 1946-47, only two professional Colleges one for Teaching and the other for Law both located at Belgaum. During the period of thisdecade Government started in 1947-48 a College of Agriculture at Dharwar. The K.L.E. Society, Belgaum had started at Gadag in June 1946 the B.V. Bhoomraddi College of Engineering and Technology with the aid of the munificent donation of Rs.3 lakhs given by [illegible] Bhoomraddi, after whom the institution was named. In 1947, it was shifted to Hubli. In June 1949, the Society [illegible] Mechanical and Electrical [illegible]. In [illegible]

[illegible]

named knowing as J.G. College of Commerce, Hubli. One more Commerce College was started at Belgaum known as the K.L.E.S College of Commerce, Belgaum. There was no Law College at Dharwar. The Janata Sikshana Samiti, Dharwar started a Law College known as J.S.S. Law College, Dharwar. The only deficiency was the absence of a College of Medicine in the Karnatak University area.

By 1956-57, 8 Colleges of general education some of whom were teaching both Arts and Science Courses and 7 professional Colleges- one for Teaching, one for Engineering, one for Agriculture, two for Commerce and two for Law - were affiliated to the Karnatak University, Dharwar. The Government Kannad Research Institute, Dharwar established to conduct reasearch into Kannad Language and Literature, Ancient Indian History and Culture and Sociology was also affiliated to the Karnatak University.

The Graduates' Basic Training Centre, Dharwar;

The Graduates' Basic Training Centre, Dharwar (G.B.T.C) was also a professional College conducted by Government for training graduate teachers in Basic education. These teachers after training were to work as either teachers in primary teachers' Training institutions or as Inspectors of primary schools. Government awarded a Diploma at the end of one year's course at this centre after holding a regular examination both in the theory and practice of Basic education. The Diploma in Basic Education was declared by Government as equivalent to the Degree in teaching (B.T/B.Ed) granted by the Indian Universities for purposes/appointment, scales of pay etc.

The School of Art, Dharwar.

The Sir J.J. School of Arts, Bombay was the only institution in the Bombay Province which trained Drawing masters for our schools. Teachers were trained for one academic year for a certificate course in Drawing known as Drawing Teachers Certificate (D.T.C). It was difficult for Art teachers and Artists of Karnatak to take full advantage of this school at Bombay because of its long distance. So, a School of Art was established in 1950-51 at Dharwar under private management and the school conducted D.T.C. and other courses in Drawing and Painting and prepared candidates for the Drawing Teachers' certificate and other examinations conducted by the Department.

Education of Girls.

The number of primary and Secondary schools for girls increased considerably during the post-independence period. The number of girls attending schools and Colleges also increased considerably. Though there were separate schools for girls at the Primary and Secondary stages of education, the people of Karnatak did not venture till 1956-57 to start a separate College for women to teach Arts, Science or professional courses. [illegible] Province [illegible] University at [illegible] Women's [illegible] incorporated under [illegible] the

the S.N.D.T. Indian Women's University Act, 1949. The Karnatak region has to go a long way before it can dream of a separate Women's University for Karnatak.

The Indian constitution provides for no discrimination on grounds of sex. It is already seen how the syllabus of the primary course was revised and a common syllabus and a common examination was prescribed. The disparity in the pay scales was also removed and a common cadre for men and women employees in the Teaching and Administrative branches of the department was created. The post of the Assistant Inspectress for Girls' schools in the Dharwar Division (B.E.S.Class II- Women's Branch) was abolished from Ist June 1953 at the time of the reorganisation of the Department. The post of the Assistant Inspectress for Urdu Girls' schools in B.E.S. Class-II-Women's Branch was also abolished from Ist June 1953. Considering the fact that the education of girls started in Karnatak almost 40 years after that of boys, it had made commendable progress inspite of all the social and other prejudices that prevented its normal growth in the early stages.

<u>Education of the Backward Classes</u>;

It is seen in the earlier chapters how special measures had to be adopted to promote education among the Muslims, Lingayats, Marathas and such other communities. With the special concessions granted to them in the form of scholarships, free-studentships etc. both by Government and the voluntary organisations, there was speedy progress in the education of those communities. They organised educational societies and started educational institutions also. The same was not the case with the Scheduled Castes, Scheduled Tribes Criminal Settlements and such other very backward classes. It is already mentioned in Chapter II how difficult it was for a Scheduled Caste boy to get admission into even a Government school. That led to the opening of special schools for these classes wherever feasible and necessary. The Indian Constitution provided for special attention to these classes. The following were some of the special facilities extended to all Backward class children.

1. Exemption from payment of fees in Colleges, secondary schools and primary Training institutions to all eligible pupils.

2. Special scholarships at higher rates than those for open scholar ships in all kinds of educational institutions and stipends in primary training institutions.

3. Exemption from payment of examination fees at the High and Middl scholarship examinations, Drawing Grade and similar other examina-tions.

4. Financial assistance in the form of lump grant scholarships for purchase of books, stationary equipment, etc. and for the payment of S.S.C. and University Examination fees given by the [illegible] Class department to poor and deserving pupils.

5. [illegible]

7. Free distribution of books, slates, pencils and other writing materials and clothes to pupils in primary schools by the School Boards.

It is already mentioned in the last chapter that a hostel for Backward class children was run by Government at Hubli and that Government aided a large number of hostels for backward class children run by private managements. These arrangements were continued during the this period also.

A scheme for the award of Overseas scholarships to backward class pupils was sanctioned by Government in 1948-49.

Criminal Tribes settlements: The restrictions on these settlements were removed and the Tribes were renamed as "Vimukta Jatis" (విముక్త జాతులు). The primary schools in those settlements were converted into Basic schools. Ashram schools - cum - Samskar Kendras were established since 1953-54 at Bagalkot and Hubli for the benefit of the "Vimukta Jati" children. A hostel for Vimukta Jati children was opened at Khanapur. A grant at a special rate of Rs.20 per month per pupil was also paid on account of such pupils admitted to the existing backward class hostels. Special sets of scholarships were sanctioned for Vimukta Jati children studying in the Upper standards of the primary schools.

The various steps taken for the general uplift and amelioration of the conditions of the Backward Classes were also leading to a mass awakening amongst those classes. The general awakening and the liberal educational concessions extended to the Backward Classes resulted in a tremendous progress in their education.

Preprimary Education:

It is already mentioned in Chapter III that an Infant standard was added to the bottom of the primary school course in 1887-88. This was continued upto 1947-48. This Infant class was a half-way house between full-fledged pre-primary education and formal primary education. The Infant class was often divided into A and B sections according to the age and progress of the pupils. Though the age of admission was ordinarily five years, children of four plus were also admitted to the primary school. Though the curriculum for this class consisted of reading, writing, counting numbers upto 100 and multiplication of numbers upto 10, great emphasis was laid on object lessons, story-telling, chorus singing games and such other activities. The teachers under training in the Training Colleges were familiarised with the Kindergarten methods in order to equip them adequately to conduct the Infant classes efficiently. It was only the untrained teachers who were unfamiliar with these methods could not handle the Infant class properly. However, the heads of primary schools were instructed to assign the Infant class to a trained teacher as far as possible. For an economically backward country as ours, this was a very good arrangement but it could not be continued for economic considerations when the decision to introduce universal free and compulsory primary education was made. So, the Infant class which was the [illegible]

bottom class of the primary course of eight years' duration was dropped in 1947-48.

The earliest preprimary school in the Bombay Province was started by the American Mission at Sholapur in 1901-02 under the name "The American Mission Josephine Kindergarten School". It was closed in 1904-05 but revived in 1920-21 under the name of "Mary B. Hardinge Kindergarten Training School." The school has continued to function successfully since then.

Due to the joint efforts of Shri Gijubhai Badheka and Srimathi Tarabai Modak, the first Montessory Conference was organised at Bhavnagar in 1925 and the "Nutan Bal Sikshana Sangh" was established The Saugh launched the modern movement for pre-primary education in the State of Bombay by publishing journals and books in Marathi, Gujarati and Hindi. The pre-primary schools were not paid any grants till 1937. They were later treated as "Special schools" under the ordinary Grant-in-aid Code and were made eligible to receive grants not exceeding 25 percent of their approved expenditur Between 1949-50 and 1952-53, the rates of grants were changed to 40 percent, 37½ percent and ultimately to 25 percent as before. It was decided in 1952-53 that State aid should be discontinued in the case of all pre-primary schools which had been in receipt of grants for more than five years, except in the case of those situated in backward or slum areas. Bal Adhyapan Mandirs were started in Maharastra and Gujarat by various private agencies. Since 1949-50, Government conducted an examination known as the pre-primary teachers certificate examination. Shrimati Tarabai Modak established one at Bombay in 1937. Her institution was popular with the people of Karnatak and some women had their training in that institution. However, pre-primary education did not cut much ice in the Karnatak region. There were by 1956-57 only 11 pre-primary schools, conducted by privte agencies in Karnatak. There was no Training Institution for pre-primary teachers either Government or non-Government. However, the people are getting conscious of the need of the pre-primary schools and are long private enterprise will step into this area of education if some encouragement by way of grants is forthcoming from Government.

<u>Libraries.</u>

It is already mentioned in the previous Chapter how the Department encouraged the opening of libraries and Reading Rooms in the State. Rules for the conduct of registered and aided Public Libraries were published under G.R.E.D. No.2037 of 14-10-1909. These rules were intended more for preventing national books and literature from getting into the library movement by liberal financial aid. In 1939-40, a Library Development Committee with Shri [illegible] as Chairman was appointed by Government. The Committee recommended a plan which was to cover the entire State with a net work [illegible] stage [illegible] Libraries were [illegible] public [illegible] were to be set up at [illegible]

district places; at stage III, libraries were to be set up at taluka towns of comparable size; at stages IV - VI, libraries were to be extended to villages. The recommendations were considered by Government after the assumption of power by the Congress Ministry in 1946. The post of a Curator of Libraries was created in 1946 and three posts of Assistant Curators of Libraries were created in 1947-48 to supervise and guide the library movement in the three linguistic regions of the State. The office of the Asst. Curator of Libraries was established at Dharwar. The copy-right or Regional Library for the Karnatak Vidya Vardhak Sangh, Dharwar. The maximum annual grant for the Regional libraries was fixed at Rs.13,000 which was raised to Rs.15,000 in 1954-55. The maximum annual grant for District libraries was fixed at Rs.4000 which was raised to Rs.6000 in 1954-55. The Taluka or Peta libraries received a maximum grant of Rs.450 per annum. The opening of Reading Rooms and Village Libraries in rural areas formed a part of the scheme of social Education. The maximum annual grants for these were fixed at Rs.50 for big villages and Rs.30 for small villages they were raised to Rs.75 from 1954-55.

The organisation of Library Associations was another important development of this period. The functions of these Associations were:-

1. to publish journals and bibliographies.
2. to conduct training classes for librarians.
3. to maintain contacts with libraries and librarians.
4. to hold conferences

and 5. generally to take all measures calculated to diffuse library-mindness among the public.

For Karnatk region, the Karnatak Library Association, Dharwar was established. It conducted training classes for librarians from 1950-51 to 1952-53.

The library movement made good progress in the Karnatak region.

Audio-visual Education.

The post of a Deputy Inspector for Visual Education was created long ago. This officer used to go round the State and deliver magic-lantern slides and literature thereon to various secondary schools. In 1947-48, the post was upgraded to B.E.S. class I and its designation was altered as "Inspector for Visual Education", Bombay State. In 1948-49, two Boards for Visual Education were constituted to advise Government on matters pertaining to visual Education. In 1950-51 only one Board was reconstituted and even this Board was abolished in 1953-54. However, the staff of the Visual Education office was strengthened. A scheme of grant-in-aid to private schools for the purchase of costly Visual Education equipment was introduced.

Short-term courses for the training of secondary school teachers in Audio-visual aids were arranged by the Inspector of Visual Education at the Secondary Teachers' College, Bombay. He [illegible] exhibitions of Audio-visual aids. As a result [illegible] exhibitions of Audio-visual aids [illegible]

the grant-in-aid scheme several secondary schools in the Karnatak region purchased and used Audio-visual equipment. Films and film-strips and 35 mm. projectors were purchased by some schools. Many schools obtained films and filmstrips from the central library of films and filmstrips from the Central library of films and film-strips built up by the Audio-visual Education office. The Karnatak region did not lag behind the rest of the State in improving the teaching methods by using the Audio-visual aids.

Vocational guidance

There was no provision for vocational guidance till 1949-50. In 1950, Government created a State Vocational Guidance Bureau to create a machinery to disseminate information relating to various trades and professions and to guide pupils in the selection of their occupation. The Bureau was placed in charge of a highly qualified Vocational Guidance officer. His office was located in the premises of the Secondary Teachers' College, Bombay. The Bureau collected occupational information and disseminated the same by holding career conferences and exhibitions and through postal correspondence, lectures, films, radio-talks, pamphlets, circular letter to schools etc. Lectures on Vocational guidance were given to the secondary school teachers under training at all the Secondary Teachers' Colleges including the Graduates' Basic Training Centre, Dharwar. Courses for career masters were arranged. The Bureau kept in touch with the trained career masters through a bi-monthly Newsletter which was circulated to all of them. The Bureau also devised a cumulative record card for use in secondary schools which was approved by Government. Many of the secondary schools adopted the card. Psychological tests were also devised by the Bureau and their validity was being tested. The secondary school teachers were gradually becoming more and more conscious of the importance of vocational guidance and of the maintenance of the cumulative record cards of their pupils.

Education of the Handicapped

1. Socially handicapped children including young offenders:

Various legislative measures were taken prior to 1948 to deal with such children. The Backward Class officer was also designated as Chief Inspector of certified schools. In 1939, he was given assistance by creating the post of one Inspector and one Assistant Inspector of Certified schools. By passing the Bombay Children's Act 1948, the previous legislations were all repealed. An independent Juvenile and Beggars Department was created and the Head of this department was designated as the Chief Inspector of Certified schools and institutions and Reclamation officer. The District Probation and After-care Associations were established and the appointments of probation officers were made. Remand Homes were established at several places.

[illegible] Dharwar.

[illegible] organised in 19[illegible] at Dharwar for the [illegible]

reception of convicts below the age of 15 years at the time of his conviction. The Borstal school is a half-way house between a Certified schools and Juvenile jail. In 1929, the Bombay Borstal Schools Act was passed and the Juvenile jail at Dharwar was converted in 193[illegible] into a regular Bosral school. It has been functioning as such since then.

2. The physically handicapped children;

All efforts to start schools for the blind, deaf and mute children which were made till 1955-56 were by private individuals and organisations. Government sanctioned grants to those institutions. Out of 19 such institutions in the Bombay State, there was only one "school for the Blind" at Hubli. It was established in 1954-55. It had 12 students on its roll on 31-3-1955 and Government had paid it a grant of Rs.1362 for the year 1954-55.

3. Mentally handicapped children;

There was no school in the Karnatak for the mentally handicapped children but there were two such insitutions at Mankhurd and Bombay in the Bombay State.

Education of the Anglo-Indians and Europeans.

The post of a separate Inspector for Anglo-Indian and European schools was created during the quinquennium 1902-07. He inspected and paid grants to those schools according to the special grant-in-code for those schools. Both the number of schools and the number of Anglo-Indian and European children began to dwindle. Some of them converted themselves into English-teaching schools. The special post of the Inspector for European and Anglo-Indian school was abolished in 1945-46 and the Educational Inspector, Bombay Division, was also designated as the Inspector of Anglo-Indian and European schools. Since 1953-54, the District Educational Inspectors and the Inspectresses of schools were asked to inspect the schools in their respective jurisdictions. They were to be under the Inspector of Anglo-Indian schools for administrative purposes only. By the end of 1955-56, there were only three schools in Karnatak viz., the Railway English schools at Hubli and Gadag and the St. Mary's school at Belgaum teaching only the primary standards I-VI. All the others had gradually converted themselves into English teaching schools and had accepted the normal grant-in-aid code.

Main events and conclusion:

Modern education started in Karnatak with the establishment of two Marathi vernacular schools at Dharwar and Hubli in the year 1826. Inspite of the initial handicaps of language apathy, the people established their right for Kannad schools. It took some time for the Kannadigas to become conscious of the values of education but once the initial lethargy was got over, there was marked progress. The pace was accelerated when the Local Bodies took control of education. There was a commendable awakening in the [illegible] backward classes [illegible] among the [illegible]. The [illegible] Education [illegible] to the [illegible]

education by starting several Secondary schools and colleges. The people of Karnatak marched shoulder to shoulder with the rest of the country in the struggle for independence. They prepared the ground for the introduction of several schemes of extension and development of education which were to be initiated after the dawn of independence. There was no difficulty in introducing the schme of universal, free and compulsory primary education for the age group of 6-11 years when the Bombay Primary Education Act, 1947 was put into effect from April 1949. The schemes of Social Education, Basic Education and physical Education were implemented in Karnatak with greater effect that in rost parts of the other two linguistic regions of the Bombay State.

Secondary Education was a matter of purely private effort according to the policy of the British Government. The Karnatak private enterprise was quite late in this field. The Local Bodies once again stepped in and cut the ice. Had it not been for their initiative and foresight, Karnatak would have lagged behind in this area of education. The lead given by the Local Bodies was soon caught up by the private organisations and the demands of the people were satisfactrily met. There was a huge network of secondary schools covering District and Taluka towns and other towns of comparable size.

The delay in the development of secondary education inevitably delayed the establishment of institutions for collegiate education. The epidemics of plague and famine which ravaged the country particularly during the period when Karnatak was just making some progress in secondary education were also responsible for the delay in establishing a College. The World War I further delayed the matter. As Government was not paying heed to the needs of Karnatak in the matter of University education, the people stirred up the Government to activity by presenting a donation of Rs.40,000. At long last, the Karnatak Arts College, Dharwar was established by Government in 1917. The Local Bodies could not give the lead as University education was beyond their jurisdiction. Their finances would not also permit such a venture. University education had to mark time till mature private enterprise undertook the venture. The K.L.E. Society, Belgaum gave the lead by establishing the Lingraj College, Belgaum in 1933-34 i.e. nearly two decades after the Karnatak Arts College was started. The delay this time was not due to any epidemic of disease but due to the epidemic of "World Depression." When this epidemic was just passing off, World War II broke out in 1939 and continued till 1945. Organisations with lesser economic stability had to compulsorily wait. As the war clouds were clearing up, the other private organisations also stepped in. A bunch of Colleges teaching Arts, Science, Law, Engineering and [illegible] the stage was set for the starting of a [illegible] Karnatak. The people were alive to the [illegible] progress and development. [illegible]

They observed the "Karnatak University Day" in 1946 and stirred up the Government once again into activity. The Karnatak University was a fait accompli on Ist March 1950. The initial difficulties and frustrations were faced with courage and confidence and the University moved to its beautiful and extensive campus of over 300 acres popularly known as Chota Mahabaleshwar in August October 1955. The University was blessed by both the President, Dr. Rajendra Prasad, and the Vice-President, Dr. S. Radhakrishna, of the Indian Republic when the former laid the foundation stone of the Administrative building in 1957 and the latter inaugurated it in 1959. The University progressed very fast after the initial difficulties were over. Dr. D.C. Pavate became the third Vice-Chancellor of the University in 1954 particularly at a time when the University needed a man of vision, experience, courage and confidence to head its proceedings to ensure its speedy progress. Karnatak found the right man in Dr. Pavate and the people felt relieved of a great burden. The progress achieved by the University in both academic and administrative areas under the leadership of Dr. D.C. Pavate was remarkable.

The North Karnatak region comprising of the districts of Dharwar, Belgaum, Bijapur and North Kanara was integrated with the Mysore State on Ist November 1956 under the Reorganisation Act, 1956. The region brought with it a sound system of Primary Education based on the work-oriented and craft-centred basic pattern, a system of secondary education which gave a pride of place to the medium of instruction in the mothertongue of the child and which laid stress on crafts, drawing and physical education in addition to the academic subjects. A beginning was also made to teach vocational subjects in Technical, Commercial, Agricultural, Fine Arts and Home Science branches. The region also brought with it good schemes of Libraries, Social Education, Art Education, Audio-Visual Education and Vocational Guidance. It also brought with it a University which had built very fast facilities for post-graduate instruction in several subjects under Sciences and Humanities including Kannad Language and Literature. The net-work of Colleges affiliated to the University provided instruction in almost all branch of knowledge except Medicine. It also brought with it some special institutions like the Kannad Research Institute, the Ashrama school cum Sanskar Kendras, the Remand Homes, the school for the Blind, the School of Art, etc. It also brought with it a sound organisational pattern with a highly qualified and experienced District Educational Inspector of the Class I cadre of the service responsible for all school education and training in the district and who had a direct approach to the Director of [illegible], an [illegible] where each [illegible] was entrusted with [illegible] of only [illegible] schools and a separate staff of the Board

Board entrusted with administrative functions. Thus the Karnatak region which was a part of the Bombay State from 1818-1856 joined on 1-11-1956 the other Karnatak regions of the New Mysore State with a well developed system of education in which the people were intimately associated with the management of education at all levels (Primary, Secondary and University), a system which ideally befits a Democracy.

---o0o---

ANNEXURE 1.

Extract from Survey of Indigenous Education in the province of Bombay (1820-1830) [illegible] 1951 [illegible] Pages 137-15[illegible]

No.3

To

William Chaplin, Commissioner, Poona,
Political Agent's office, S.M.C.

Sir,

I have now the honour to transmit my report on the subject of village schools. The returns received from the Talooks composing the Principal Divisions give schools 150, tutors 171, and pupils 2348 - those from the late Sub Collectorate South of the Bheema give schools 86 and pupils 1049 and those from the three Talooks of Ranebednoor, schools 34, tutors 34, and scholars 531 - making an aggregate of schools 270, tutors 291, and pupils 3845.

2d. Of the schools 146 are Mahratta, 112 Canarese, 7 both Mahratta and Canarese, and 5 wherein Persian and Hindustani are taught; of the Tutors 138 are Brahmins, 139 Lingaits, 5 Hindoos of different castes and 9 Mussalmans, of the pupils 943 are Brahmins, 2092 are Lingaits 609 Hindoos of different castes, and 118 Mussalmans.

3d. With respect to the nature of the instructions procurable in these village schools and the attainments of pupils in the Principal Divisions, these returns give pupils 1390 as the number being taught "dowl atcharum" that is writing in sand on the ground or on boards, reading and writing and simple arithmetic, 871, reading Jayamony the Amarkosh, Veddorneetee etc. etc. 50, and Persian books such as Kareema etc. 57.

4th. In the Sub Collectorate South of the Beema little else is taught beyond the elements of reading, writing & arithmetic and there is but one school in which the Jayamony is being read, and that in the Hoongund Talook.

5th. In the three Talooks of Ranebedhoor 169 are being taught "dowlatcharum" 325 to write, 15 are learning accounts and 8 are reading the Jayamony.

6th. In the Principal division the charge for schooling varies [illegible] seven and a half to one anna per month for each boy, and the incomes of tutors from Rs. 6..8as. to Rs.1 ..5 as. per month, averaging an income about 4 Rs. six annas per month.

7th In the Sub Collectorate South of the Beema Tutors receive from one Rs. to 4 annas per month per boy according to the ability of parents or the nature of the education they receive.

8. In the three Talooks of Ranebednoor the average charge for each boy is a quarter of a Rs per month.

9. The Vaids, Shasturs and Pooranas are not taught at any of these schools, such knowledge being confined to Brahmins who are engaged as private tutors or if the circumstances of parents do not allow it they send their sons to serve some Vaidiks or other learned Brahmin who in return for such services gives their instructions gratis. In some of the schools the Balbodh [illegible] language [illegible]

[illegible] the monthly [illegible] of schooling parents [illegible] their [illegible] as they will [illegible]

them, it is also customary for parents to make them upon particular days trifling presents.

11. By the census taken about five years ago the population of the Company's part of the Dooab amounted 6 lacs of souls divided into the following sects or castes Brahmins 32000, Rajpoots 5000, Wyshes 1500, Mahrattas 42.000, Jains 6,000, Tunchal 20,000, Musselman 43,000; Lingaits 1,95,000, and Shudras 240,000; contrasting which returns with the figured statements received with the reports from the Taloogs on education the proportion of educated to uneducated, would appear as one to one hundred and fifty four.

12th Of the educated half are not advanced beyond the mere elements of reading, the remainder with the exception of about fifty who read the Jayemony and other books are merely taught to read, to write and cast up accounts; even this knowledge defective as it is, is chiefly engrossed by the sons of Brahmins and Lingaits, the proportion the former bear to the whole population of the country, is as one to twenty and the latter as one to above three, while in respect to the remainder who compose the labouring classes of the poeple Musselmans expepted, all instruction may be considered as nearly unattainable.

13th It is clear therefore that education is at the lowest ebb in this Collectorate and since there can be no question as to the policy of diffusing knowledge among the people, it behoves us to do our endeavours to organize such a plan of education as will gradually tend to the intellectual improvement of the rising generation of every class of the community.

14th In the principal Division it is estimated that 1,700 addtional scholars might be procured if Government would be at the expence of maintaining tutors, and at the calculation that one tutor could educate 25 boys in reading, writing and arithmetic, ninety two tutors would be sufficient who could be had at the average rate of six annas per month per pupil, equal to about 7 Rs. per month per each tutor.

15th In the Sub Collectorate South of the Bheema Mr. Munro proposes 70 New schools, being of opinion that 400 pupils might be added to the present number, Rs.10½ per month is proposed by one of the Sub Collectorate Moamlutdars as the salary of a tutor.

16th Mr. Stevenson suggests that there be three classes of school masters from 10 to Rs.14 per month according to their deserts, and number of scholars, and he further recommends that a small remission of the Government demands be made to Ryots during the time their children are at school in order to compensate for the loss of their labour.

17th To relieve parents wholly from the expence would be impolitic as it would be imposing an unnecessary burden on Government, but a school where the children of the poor may be taught gratuitously would be attended with comparatively a trifling expense and would be more than compensated for by the benefits it would diffuse, I would therefore propose that we make a commencement by the establishment of schools where the children may be taught gratuitously regulating the allowance to be granted by Government to tutors by the number of poor scholars at the average [illegible] being paid for schooling viz.

8 annas per monthfor each pupil certified by the Pateil and Koolkurnee as well as parent, to have been in daily attendance at the schools in their respective villages, the number of poor Scholars should not exceed five percent of the number of youths from the age of seven to fourteen in each village it being understood that tutors be at liberty to take in as many more scholars as they may be able to instruct Sons of parents who can pay for their education.

18th I cannot discover that there are any available Government funds from which the sum necessary to defray the education of the poor could be raised, and any attempt to assess Neemnooks etc. would excite a great deal of dissatisfaction which might defeat the object in view, as however it would appear to be the wish of the people that Government take the village schools under their patronage we may confidently hope for their cooperation by means of occasional contributions from the opulent and respectable portion of the Community.

19th Should the Government approve of these suggestions it will occur to them that one of the first things to be provided for, will be a few elementary books conveying an easy method of teaching the rudiments of reading, writing and arithmetic also a few tracts containing moral sentences, and those prudential maxims which are most important to the poor in the vernacular dialects; works of the above descriptions in Mahratta could be easily translated into Canarese - the most common dealect in the Dooab.

I have etc.

Sd: T.H. Baber,
Political Agent.

Dharwar, 22nd August 1825.

No.4

Dharwar: Some of the Puntojee (Schoolmasters) demand from 4 annas to 1 Rupee for each child- others teach moofut (Gratuitously) many parents do not conform to their engagements to the Puntojees, for when they send to demand what is due, parents sometimes withdraw their children. A Puntojee demands 16 Rs. per month to instruct 25 children in the Hindvee, Canaree, and Balabodha Languages, to qualify them to read the Panchopaikyan, Videorneetee, Jayamonee etc. Books-12 Rs. to instruct the same number of children in reading and writing the 2 former languages only and, 8 Rs. for the Canarese alone - Teachers are procurable, if new Sala (schools) are to be established and were parents compelled to [illegible] to their engagements [illegible] and [illegible] may hereafter be [illegible] employed.

employed, will instruct and qualify 25 scholars each.

Kiseresttis. The present Puntejees (schoolmasters) do not earn a sum sufficient to maintain themselves, some of them demand from 6 to 10 and others as far as 12 Rs. month to instruct 25 children in Hindvee and Canaree. Puntajees are procurable for new Sales (schools). There are about fifty Brahmin children of the Vyedeecka sect here. At Kuttgutkee, Kiseresttah, and New Hebly; three Brahmins should be entertained to instruct these 50 children in the Vaid and Shaster at 3Rs. each per month.

Purusgur. The Hindvee Puntagees (schoolmasters) demand the following rates.

To instruct a child to read and write 1 rupee per month, the simple rules of Teriz (arithmetic) ½ ditto, the Wanamo or rudiment of language ¼ ditto — each schoolmaster will engage to teach and perfect 25 scholars at these rates if Government will sanction them, half the above rates are demanded for Canaresе Puntejees. For new sales (schools) Puntejees are procurable at 16 R. each per mensem payable by Government. Parents should themselves examine the progress of their children every day and the Sirkar servants hold general examinations monthly, the adoption of such measures as these will go far towards improving the education of youths.

Nawulgoond. Puntajees commence instructing children .(Thoola scheren) forming letters in the sand or on earth; the rudiments of the language; (Teriz, Berees) arithmetic — reading the writing, also in reading copying the Jayamenee sloges, Historical poetry etc. (Beree Ellum) the higher branches of literature viz. Vaid, Shasters & poorans are taught by their Gooroos. The Puntojees themselves being incapable of teaching such knowledge. Each child pays from 2½ to 8 annas, exclusive of which the Puntojees go and take their meal at the houses of their scholars' parents and others alternately. It is not the practice in the Talook to stipulate for any fixed annual payment; should Government or any benevolent Individual be induced to entertain Puntajees at their expense such persons may be had who will teach and perfect their scholars, for 7 or 8 Rs. per month, and in those villages where there may be none, those of the neighbouring villages will be happy to engage as Puntajees there. If it is in contemplation to establishment new Sales , sufficient number of Puntajees are procurable, the present number of scholars cannot however under existing circumstances, be augmented, as some parents are too poor to pay for their schooling. An annual reward to each Puntajee of a Dhotee cloth, Selah Ditto, Turban, Duglah (quilted Jagget) and Topee from the Sirkar, or any principal inhabitant, will greatly stimulate them to exertion.

Indoppee. The protection and pay of Government will induce the Puntajees (schoolmasters) to make greater exertions in instructing the youths committed to their charge. There are [illegible] [illegible] [illegible] [illegible] [illegible]

Dummull. The Puntojoos of this part of the country are able to teach simple account, reading the Jayamonee and Amarakoshah, but not other higher branches of learning. - At Guddук there is a puntojee who demands 306 Rs. to complete the Education of 27 children. Puntojees however, are not procurable for any new Salas(schools)it may be intended to establish, even those at present employed as such

could not instruct more than their present number of scholars -should persons offer themselves for the new Schools, they should be well versed in Canarese and Hindvee - a superintending control by the Government will tend to advance the progress of education.

Bagulkotta. There are no Puntojees(schoolmasters)who engage to instruct children of a whole village at a stipulated rate. -To induce the Puntojees to increase the number of their scholars, and to pay more attention to their education, Government should make them presents, and ~~deprive -of the~~ if Government will further establish schools, many poor children now deprived of the benefits of education will receive it.

Bun Kapoor. Competent Puntojees are not procurable for new schools at less than 12 Rs. each per mensem, while those now engaged as such will increase the present number of their scholars to 25 more, but not a greater number, because the Koonbees(cultivators)do not send their children to school, or at least those who do withdraw them after the lapse of 6 months or a year, when they employ them in the labours of the field, while Vannyans (merchants)employ their children in trade, so soon as they have learned simple accounts.

Hangull. Should schools be established in some of the populous Pethas and villages, the children of neighbouring villages will attend them, and schoolmasters would be procurable without difficulty, and if Government give their sanction to a monthly payment for each child from 4 to 8 annas, Puntojees will pay more attention to their scholars than they do at present.

New Hoobly. An Hindvee Puntojee receives,-To instruct a Boy in reading ~~the~~ & in simple accounts ½ rupee per month-in the Lhool or writing in sand or on a board besmeared with earth(alias elements of language)¼ rupee- In Canarese for reading and simple accounts ½ rupee. In the Lhool or rudiments of the languange ½ Ditto; and to instruct a Boy to read the Jayamunee 1 rupee. These are the general rates at present. - Persons hereafter employed as Puntojees should be entertained on the same terms. If schools are established, they should be at populous Pettas and villages, where Puntojees are procurable; increased rates will induce the present Puntojees to augment the number of their scholars; Government however should exercise a superintending control over the schools, & hold monthly [illegible].

Ranebennur. The Puntojees in this Taluka do not instruct their scholars in reading the Jayamunee Verse etc. It is customary for [illegible] to go and [illegible] who understand [illegible] [illegible] from them. [illegible]

who are versed in Shasters at Home and pay them annually from 50 to 200 Rs. proportioned to their abilities.-The Persian Mustras teach children reading and writing-Canarese is not often taught here. A schoolmaster demands from ¼ to 1 rupee per child monthly. Parents desirous of accelerating the education of their children engage Puntojee's at home, when they maintain them, and pay them from 50 to 60 rupees per annum - new Tutors will be glad to engage as such if the Government will make them an allowance-the Milladars should be instructed to exercise a control over the present schoolmasters & empower them to fine those careless and negligent in their duty & they will thus be induced to pay more attention to the children.

None. The Circar should grant an allowance to Puntojees and provide Canarese and Marratta Books, by which every youth will receive a better education than they do at present. The children of parents too poor to pay schoolmasters go without education, which they will receive if Government will entertain teachers.

True translation,

Principal Collector.
Signed: T.H. Baber.

::::-::::

No. 5

Dharwar, 2nd August 1824.

To
St. John Thackeray, Esqre. Principal Collector & Pol. Agt.

Sir,

I have been prevented from sooner furnishing you with the required statement respecting the schools in my Taloeka, owing to the delay of the Amildars in sending in their reports.

It will be seen by the accompanying Achrait statement that the number of schools is thirty four, being a proportion to the number of villages in these Taleoks, of about fourteen to one hundred.

Twentyseven of these schools are Canarese, remaining seven Mahratta-the total number of scholars is 531-the particulars of each caste will be found in the margin.

Of the thirty four Teachers Twenty seven are Lingayat, six Brahmins, one Mahratta - Thirty four.

I must observe that the account does not include the schools where the Shasters alone are taught, and into which none but Brahmins are admitted.

I must also observe that many of the schools above mentioned are merely nominally so, for several are superintended by old men who can hardly either read or write, & who have under their charge from four to five boys, who are sent there by their Parents, rather to keep them out of harms way, than with any idea of their improvement- these teachers are chiefly considered as objects of charity.

It is calculated that 27 more schools might be established [illegible] and that at the expiration [illegible] years, [illegible]

[illegible]

[illegible]

ability the the queries in Mr. Farish's letter, and to state the ideas that have suggested themselves to me, during the course of my enquiries on the subject.

The Teachers are remunerated in all the above mentioned schools by monthly stipends; the sum is very irregular, but the average of the whole gives about ¼ of a rupee per mensem for each scholar-but besides this, the school master receives, on certain Feast days, a present of a cloth or some other trifle (according to the circumstances of the family) from each of his pupils; he is always entitled to take his meals at any of their houses on the days of the full and new moon, which are whole Holy days. the most interested of them employ the labour of the children in their own private affairs, whilst the more conscientious read & expound to them some moral Book- at the commencement of each new study also it is customary to make a small present to the master. If the emoluments of a teacher are the same whether he does, or does not attend to his duty-he will nine times out of ten either neglect it altogether, or perform it in a very slovenly manner-his salary should therefore be made to depend entirely on the number of his pupils and upon his assiduity in teaching But, the system of paying so much for each pupil would perhaps give room for much abuse, unless the establishments were vigilantly superintended, and under a watchful eye, -I can see no objection to the Teachers being remunerated by a fixed salary, I should then recommend three classes of schoolmasters; to receive according to their deserts, and the number of their scholars, from 10 to 14 Rs. per mensem-under either system the attention of the Teacher might be partly secured by periodical reports forwarded by the Native officers and by the dread of dismission from his office- and might be encouraged by the presentment of a small honorary reward at each annual examination to the Teacher, who appeared to have taken most trouble, and to have succeeded best with his pupils.

I do not think that any fund could be derived from either of the three sources mentioned in Mr. Farish's letter, For there are not now, (to my knowledge) any Inams that hold on doubtful titles; and tax of any sort upon the Enamneks of those whose titles to them might be discussed, would be almost as odious to the proprietor, as a total resumption, and since the new arrangements have been made, owing to the late enquiries, the sums allowed for Religious and other services will not be more than enough to defray the requisite expenses.

Almost the only class of public servants that cannot read and write excepting the village watchmen and other village servants, are the peons, it would of course be an advantage if they could all do so, but I fear many years will elapse before a sufficient number of scholars in this class of society could be procured to satisfy [illegible]
[illegible]

regulation might at first only affect Duffters and Dulayets or peons of the highest order.

The very small number of children who now frequent the schools in proportion to the whole population and the very slight quantity of learning acquired by these few, are lamentable proofs of the little care that is now given to Education, not that there is any disinclination to it, on the part of the Natives, but poverty is the great draw back particularly amongst the cultivating classes. A Ryut must not only pay the school master, but he must lose the labour of his child, which is valuable to him from the most tender age. A child of six years tends the cattle and very soon after is able in many ways to assist in his Father's farm - should the child be sent to school a Boy must be hired at from two or three pagodas per annum, besides his food and lodging. To do all in its power to render more comfortable and happy and independent the condition of all its subjects, but more particularly that of its most valuable class, the Ryut, must ever be the chief objects of Government-I conceive therefore that every inducement should be held out to induce them to educate their children. To compensate to them the loss of their child's labour I would recommend a small remission to be made to each Ryot during the time that his son is at School-this would only be required for three or four years, for in that time a boy of his class would learn as much as is requisite for him to know. In my Talooks there are not now ten children the sons of Ryuts attending the schools.

Education would very soon become popular when it could be acquired at a cheap rate-the superiority that would naturally be acquired by those, whose mental powers had been improved by education would by itself in process of time be an incentive to exertion in others. The distribution of small honorary rewards at a yearly examination to the most deserving scholars would be a stimulus to emulation. Parents now frequently give their children a Silver Pen or Ink stand on their attaining a certain proficiency; presents of like value or printed books, might be distributed by Government.

In founding new schools we must be careful to establish such rules as may prevent those now established from suffering by the liberality of Government, only the needy should be allowed a free education, and to each boy a certificate of admission should be given. The teachers of schools which are newly established in Towns, where such establishments already exist, should not be allowed to receive any but Government scholars. The reward both for Master & scholars should be open to all.

The office of school master is in no place hereditary, and I do not anticipate any difficulty in getting a sufficient number of men capable of performing its duties.

Of the children now educating in the Southern Talooks three hundred and twenty five are learning to write - [illegible] hundred and [illegible] are reading letters and papers [illegible] the [illegible]

Some of these are also taught the names of the years, and stars, of different points of the compass, & a variety of songs & verses celebrating the deeds of their Gods. The books now read do not greatly tend to improve the morals of the Boys, nor are they sufficiently entertaining to engage their voluntary attention. The Jeyamonee is the work most commonly read- it describes the wars of various fabulous Rajahs, but imparts little or no moral instruction; The Punchpakaina and Vedoor Neete are much better Books but they are far above the comprehension of most of the Boys, and they afford them no entertainment- a few works containing short, easy, and entertaining moral tales (such as a Translation of Aesop's Fables) is a great desideratum-these would be adapted to the understanding of the Boys, and would improve their moral characters at the same time that they amused their minds, and gave them a taste for printed works.

Nothing further strikes me at present but I shall be concluding take the liberty of quoting a few lines from Dr. Smith on this subject, particularly applicable to this country.

"The state however, derives no inconsiderable advantage from their instructions. The more they are instructed, the less liable they are to the delusions of enthusiasm and superstition, which among ignorant nations, frequently occasion the most dreadful disorders. An instructed and intelligent people besides are always more decent and orderly than an ignorant and stupid one. They feel themselves, each individually, more respectable, and more likely to obtain the respect of their lawful superiors, and they are therefore more disposed to respect those superiors. They are more disposed to examine, and more capable of seeing through the interested complaints of faction and sedition, and they are, upon that account less apt to be misled into any wanton or unnecessary opposition to the measures of Government".

True copy,
Signed: J.A.R. Stevenson.

I have etc.
Signed: J.A.R. Stevenson.

---::---

SCHOOLS.

How many schools are in the Sub Collectorate under your charge? What languages are taught, and in what proportions, of what castes are the students and masters, and how many, what number of each?

The schools in this Division amount by returns received from the talooks to 86, the number is considerably greater, the Mahratta schools by these returns amount to 60-and Canarese to 26, the pupils attached to the former to 659 and to the latter to 390 making a total of 1049 scholars, 86 of the Masters are by caste-

Brahmins	31	Moosulmans	2
Videer	7	Mahrattah	1
Lingayet	45		86

and the scholars Brahmans [illegible] ...

Is anything beyond more reading & arithmetic taught?

Children do not generally learn anything beyond the elements of arithmetic reading and writing.

Do they not read the Jayemunee?

There is only one school in which Jyamunee is taught in this Division the master is a Jungam and resides in Pett Anentapoor Talook Hoongoond.

Are more schools required, and what addition would be made to the number of pupils if more schools were established?

The establishment of more schools is advisable, it is not possible to estimate the addition that wuld be made to the list of scholars, but it would be considerable if the schools were instituted in central situations perhaps four hundred pupils might be added to the present number.

What schools are required, in what proportion, should Mahratta schools bear to Canaree?

Masters able to teach both languages should be appointed, seventy new schools would meet present demand.

Would it be difficult to obtain fit persons for the situation of teacher?

It would be difficult to induce people to undertake the duty. The Mamlutdar of Hoongoond proposes pay of 10½ Rs. as sufficient inducement.

What encouragement would induce the Masters to take pains with their scholars and increase their number?

Relieving parents of the expense and paying teachers at so much per boy, would have this effect.

Name of taluk	No. of villa ges	Popu- la tion	Schools Mahra tta	Cana rese	Musla- mans	Total
Indee (199)	199	41558	49	7	-	55
Moodebehall	166	31872	8	7	-	15
Hoongoond	186	33602	3	12	-	15

Statement continued:-

Teachers Hin- doo	Moosul man	Total	Scholars Hin- doo	Moosul man	Total	Schools required	
54	2	56	629	1	630	25	Indee
15	-	15	166	5	171	22	Moodebehall
15	-	15	240	8	248	25	Hoongoond

Remarks:

The population of these talooks particularly of the two former appear to be underrated.

The great disproportion between the numbers of schools in the first, second and third talooks creates suspicion of inaccuracy which I am inclined to believe exists in the returns from the Moodebihal and Hoongoond where strict scrutiny does not appear to have taken place.

True copy.
Sd: John Warden.

True copy.
Sd: T.H. Baber,
P.C.

---

6. Statement

sympathies of the Judges, Assistant Judges, and Native Judicial officers, of the Civil Surgeons and Superintendents of Vaccination, and of the Civil and Executive and Subordinate Engineer officers; and, above all, it will be well to lose no opportunity of securing the support of influential Native gentlemen, whether hereditary officers or landholders, or men of independent means or position. The success of your labour will depend most materially upon the extent to which you can educe and sustain the friendly energies of influential persons in all ranks of life and every part of the country, and this consequently is an object of which you must never lose sight.

12th. An English school already exists at the Sudder Station of all the Collectorates in your Division. You will be careful to inquire into the state of these scholars and to communicate any suggestions which may occur to you for their extension or improvement.

13th. It seems most desirable to establish, in all the Thana Stations in every Collectorate, a superior description of Vernacular schools, which may correspond with the Tehsilee schools existing in other parts of India, may impart a thorough elementary education through the medium of the Vernacular language and may also afford (both to ordinary scholars and to others) some special instruction, in the mornings or evenings, in Mensuration, in Agriculture, in Book-keeping, in Public and Merchants' accounts, in the Rules of the Revenue Surveys, in the Civil and Criminal Regulation of Government, and, if necessary, in the Rudiments of English.

14th. All the villages of every Talooka should by degrees be distributed into small school districts, a central village being in every case selected as the site of a primary school, and any of the neighbouring and accessible townships or hamlets being associated with the central village for Educational purposes when they are in a position to support separate schools of their own.

15th. The details of a plan for affiliating these Village schools with the Talooka schools by means of Village scholarships and for affiliating the Talooka schools by means of Talooka scholarships, with the zillah English schools, and these last by means of Zillah scholarships with Provincial Colleges, should early engage your attention.

16th. I shall be glad to receive your suggestions with a view to the institution of a Normal class at the Sudder station of every Zillah; also with a view to the supply of such elementary and other school books as may seem to be most immediately required.

x x x

---

(2) Instructions to Deputy Inspectors.

(Dated 7th July 1855.)

2nd. The objects for which you have been appointed are, an active and vigilant superintendence of the Government schools existing in your charge; the creation of a desire for knowledge and the increase of schools among all classes, especially the lower ones; and the collection (in the first instance) of a variety of statistical information regarding the indigenous and Missionary schools, and other matters connected with your sub-division.

3rd. In order to fulfil these objects, it will be necessary for you to visit not only the places where Government schools exist, but all the large towns and villages, and as many of the smaller ones as possible. No consideration should detain you in any place when your object there is accomplished. Eight months of the year should generally be spent on circuit, and where the state of the roads will permit of it, you should divide monsoon months between the two or three principal cities in your charge. The time necessary for examining their numerous schools would then not be subtracted from your [illegible] [illegible], and you

Annexure No 3

CODE FOR INSPECTORS

Some selected extracts from

Instructions issued by Mr. C.S. Erskine, C.S. First Director of ~~Bombay~~ Public Instruction, Bombay Province (1855).

Extracts from the annual Report of the Bombay DPI 1855-56

(1) Instructions to Inspectors.

Dated 21st May 1855.

x x x

"2nd. You will have learned from the despatch of the Court of Directors, that you are required to report periodically upon all Colleges and schools which are either managed by Government, or under Government inspection, and that you are to aid and advise generally all Managers and Teachers of all Colleges and schools of every description throughout your charge.

x x x

5th. On first assuming charge of your appointment, one of your earliest duties will be to obtain an accurate statement of the schools (whether Government, indigenous, or Missionary) at present existing in every part of your division, their number, distribution, objects, quality, and management.

6th. You will likewise ascertain exactly the ages, qualifications, salaries, and character of the different schoolmasters; the number, ages, qualifications, castes, and prospects of the scholars, and the rates of fees paid by them; the description of teaching, and the names, contents, and nature of the school books in general use.

7th. Very particular inquiries are to be made as to the inducements and the obstructions to study, in different localities and among different classes and persuasions, and as to the anxiety for knowledge of any kind on the part of any particular communities or castes.

8th. General statistical information regarding the condition of the people should ~~also~~ also be diligently collected when circumstances permit.

9th. In obtaining information on these and other points, you will be materially assisted by the Visitors* of schools, who should be ordered as soon as possible, to visit every village within their respective charges, and to report upon every school, after personal examination, in as much detail as possible.

10th. It will be of course ~~be~~ one of your most important duties to test, by occasional inspections, the reports and proceedings of the Visitors, who will be referred to you for detailed instructions. In order to effect this, it will be advisable that you should proceed from time to time into some District through which a Visitor has passed, and on which he has reported, and re-examine, in his presence, every here and there, some of the schools which had been examined by him. You will be careful, in your periodical reports, to describe minutely your proceedings in this respect, and the results which they may lead.

11th. In addition, however, to the Visitors of schools, and to the Schoolmasters and officers of the Department, you will have the support and assistance, in all your inquiries and endeavours, of all the other servants of Government in every Department. I cannot too urgently request that you will strive upon every occasion, to secure the friendly offices and active co-operation of the various local Revenue and Judicial autho-rities, both European and Native, and that you will [illegible] and constantly impress upon your subordinate Visitors [illegible] advantages of such a course. It will be [illegible] they, whenever it may be practicable, should [illegible], in traversing any District, to move along [illegible] the near [illegible] of the Collector, or [illegible] Deputy [illegible] the Su[illegible] [illegible]

you would have time to become acquainted with all the most influential men.

4th. The Government schools may be divided generally into two classes, English and Vernacular. The Government English schools you will, from time to time, inspect and their state and progress will be noticed in your annual reports. The Government Vernacular schools are placed under your immediate superintendence and control, subject (for the present) to the "Rules and regulations of the Educational Establishments under the Board of Education," except in so far as they may be modified by these instructions, or by such orders as may, from time to time, be conveyed to you by the Educational Inspector. No returns, except those hereinafter mentioned, will be required.

5th. You will be expected to examine minutely all the classes in every Government Vernacular school in your sub-division, at least once in the year. As, however, you may often have occasion to pass several times during the year through Towns or villages where schools are established, you should, on every such occasion, if possible, inspect them, and examine, if not the whole, at all events a class or two. This will help to put a stop to the too prevalent system of cramming the boys up for two or three months previous to the annual examination the remaineder of the year being passed in comparative idleness.

6th. You will enter the result of your annual examination of each school in form No. 10, lithographed copies of which will be supplied to you. After keeping a copy for your own records, you will forward these statements weekly, to the Educational Inspector, in order that he may refer to them when examining the schools himself. When this end has been accomplished, they will be returned to you, to be finally sent up with your annual report. Any additional inspections which, according to para. 3rd, you may have made in the mean time, should then be noted in them.

7th. In conducting examinations, your object will be not to discover how many pages of a certain work have been conned, or how high the class may have gone to any branch of Science, so much as to ascertain the development of mind, and the powers of thought and reasoning which such progress may have worked. A few simple deductions will show this more clearly than an infinity of direct questions.

8th. You should be personally acquained with all the masters, and lead them to consider you as an Instructor and friend as well as an Official superior, and your visit as not merely an examination of papers and progress, but an opportunity for advice, encouragement, and support. Endeavour to ascertain the abilities and qualifications of a master privately, or by directing him to examine his scholars in your presence. Find out also his popularity with the villagers, and the estimation in which his talents may be held. Should you have occasion to reprove him, be careful not to do in the presence of his pupils.

9th. In order to enable you to create a desire for knowledge and the increase of schools among all classes, you must endeavour to acquire a moral as well as an official influence in your Sub-division. This will require a perpetual exercise of energy, tact, and judgment. In order to obtain the confidence of all, you must convince them that both the Government and you yourself are thoroughly in earnest.

10th. The officers of Government in the Revenue Department are by far the most influential in the country, and can promote your objects better than almost any other class of men. They have received from Government strict orders to assist you. You should therefore cultivate a personal acquaintance with all the Collectors and Assistant Collectors in your Sub-division; apply to them whenever you have the least occasion. In matters not of very great magnitude, [illegible], as being in more direct communication with the [illegible] officials and Ryots, should be first consulted. You should be on equally good terms with the [illegible], [illegible] and inferior officers,

officers, that they may be as willing as they are able to carry out the orders they may receive concerning you. Should your applications to them be fruitless, apply to their superior; should you still be unsuccessful, report the circumstance to ~~the~~ the Educational Inspector~~s~~.

11th. Although the Revenue Department is thus put prominently forward, you should be careful to engage the sympathies of the Judges, and inferior Judicial officers, of the numerous gentlemen in the Public Works, Survey, and Medical Departments, - in short of every one who has the smallest power of aiding you.

12th. The same course must be pursued with regard to all Native gentlemen of rank or influence, whether local or general, as without their aid you will often find it difficult to persuade the people themselves to accede to your wishes. In your tours you should make memoranda of the names, interests, and inclination of all such persons in the several towns and villages through which you pass, whether there are schools in them or not, taking the utmost care, however, that your entries are not made on insufficient information. These memoranda you should place annually upon the records of your office, that your successors may benefit by them as well as yourself.

13th. Do not consider that with the examination of the school your work in a place is complete. You must constantly place your~~work in a place is com~~self in contact with the Ryots themselves. Neglect no opportunity of conversing with them. Judiciously excite their curiosity on all subjects regarding which knowledge will be of use to them, and satisfy it in a familiar and friendly style. Impress upon them the obligation they are under of educating their children, and the direct advantages which are certain to accrue from it, and enforce your arguments by an appropriate story or a quotation from their own familiar books.

14th. It will be your duty promptly to procure full and accurate information upon all subjects in any way connected with your sub-division, according to forms which may from time to time be sent to you by the Educational Inspector.

15th. You will give your immediate attention to ascertaining correctly the existing means of instruction in the indigenous schools in the larger towns and villages; whether such schools are for boys or girls, or both, and how far the people avail themselves of them. You should in no case enter or examine any such school in opposition to the wishes of the Masters or managers, but endeavour to obtain from other sources the information you require. Those masters who consent to receive your visits should be treated courteously, encouraged to make known their wishes regarding their schools, and aided by your counsel and advice.

16th. In regard to Missionary schools, your conduct will be regulated by the same principles. Your examination should be confined to the branches of secular knowledge taught, all notice of religious doctrine being carefully abstained from. The result of your inquiries on the subject of this and the preceding paragraph is to be entered in a return according to Form No.9, and transmitted to the Educational Inspector. After you have once made as completely as possible an inquiry into and report upon every indigenous and other private schools in your Districts, it will not be necessary that you should again particularly notice in subsequent reports any such schools, except those which may intermediately have applied for Government inspection or received Grant-in-aid.

17th. You are immediately subordinate to the Educational Inspector, and all communications you may wish to make to the Director of Public Instruction should be forwarded through him. Should any question arise not provided for by these instructions, or regarding which you are doubtful what course to pursue, apply at once to the Inspector for directions. All correspondence connected with your sub.division will be conducted through you, with the exception of that of the Headmasters of the English schools at - who will have a discretional authority to address the Educational Inspector direct.

18th. Applications for appointments as Vernacular [illegible]asters in your sub-division should be addressed [illegible] any persons you deem qualified [illegible]

confirmation will be final.

19th. You are at liberty to grant leave not exceeding one month to the masters. Any application for a longer period must be forwarded to the Inspector, with report as to the expediency of granting it, and the manner in which it is proposed to conduct the school in the master's absence.

20th. You will immediately direct your serious attention to the best means of meeting the extended demand for schoolmasters for primary village schools, which will no doubt arise. To require from such persons a knowledge of the higher branches of physical and Mathetical science is unnecessary, since they will not be required to teach them, while at the same time it would so narrow the field of selection as to interfere with the object in view. You should therefore make it generally known that you will examine all who may present themselves before you, and that, if they have attained the required standard, you will enter their names on a Register of candidates for employment, kept according to Form No.11. Under the head of reading, you will require perfect ability to read a school book or document in the printed or written character of the language of your Division, and also to understand and explain the meaning of the part read. An acquaintance with the parts of speech and rudiments of Grammar must also be shown. The candidate must write a good hand, and be thoroughly acquainted with the first four rules of Arithmetic and proportion, and the Native method of keeping Accounts. A general acquaintance with the Geography of Hindustan, and a minute one with that of your Division or that part of it in which the language in which the candidate is examined is spoken, will complete the list of requirements. Under the head of Remarks you will record your general impression of the candidate's fitness for employment. You should lose no opportunity of inducing persons to come forward for examination, especially from among those who now earn a precarious livelihood as teachers of indigenous schools. You will forward to the Educational Inspector a copy of the Register once a quarter.

21st. The English records of your office should be divided into two classes – Ist and 2nd. The second class records will consist of all letters of an ephemeral nature, viz. letters about leave of absence, indents for books or stationery, correspondence with the Collectors or this Department relating to payment of salaries etc. etc. They should be filed in paper covers, and regularly destroyed one year after that which the papers bear, i.e. 1855 letters on Ist January 1857. The first class records will be composed of all books furnished for the office, and all letters on important subjects. Your annual reports should be carefully and separately filed. The letters should be filed without any distinction of outward and inward, and the heading, number and subject of each entered, at the time of receipt or despatch, on a blank sheet of paper kept on purpose at the head of the file. At the end of the year this sheet, being cut up into slips, each entry separate, and the headings arranged alphabetically and copied out, will furnish a complete list of the records of the year in which all letters on one subject will be found together. You are personally responsible for all the records in your office, and liable for any deficiency in them.

22nd. Your Native records should be kept in the mode common to all Government offices. Every letter and order should be entered in inward and outward registers of compact form, and the papers filed and kept in Rumals, or cloths. You will endeavour to keep down the bulk of English and Guzerathi records as much as possible. A heavy Dufter is a serious obstacle to rapid travelling.

23rd. The masters will keep two registers, according to Forms 1 and 2, and send you copies of each monthly. [illegible]

[illegible]

be made up as at present, will commence on the Ist June and end on the 31st May; the quarter days on which Return No.7 is due being September Ist, December Ist, and March Ist. Your Annual report must be sent in by July Ist. It will contain a detailed account of your proceedings during the year and their general results, of the state of the old schools, and progress of those newly established, and the prospects of Education, together with any proposals you may have for its advancement in your charge. To it will be appended the papers of the Examinations of schools, and Annual Returns Nos. 1 to 6.

26th. During your sojourn in any place you will not live as the guest of any schoolmaster.

x x x

---:---

Commission 1882

Annexure A.

Grant-in-aid Rules for the Presidency of Bombay to be in force from the Ist of April 1877 until further notice.

Part I - Grants-in-aid according to Results.

1. Schools will be admitted to the benefit of the following rules at the discretion of Government, and after due consideration of the educational wants of the locality in which the school applying for a grant is established.

School-managers who may be desirous of receiving aid from the State on account of any school which has not been previously registered in the office of the Director of Public Instruction, must apply for registration at least six months before the commencement of the official year in which they wish the school to be examined.

N.B.- The official year commences on the Ist April and ends on the 31st March.

2. Applications for registration of schools under recognized management may be made once for all. Application for registration of private schools must be renewed annually. All, applications for registration must be accompanied by a statement in the form of schedule C.*

3. Schools are divided into (1st) European Eurasian, (2nd) English teaching, (3rd) Anglo-vernacular, (4th) Vernacular. No school can be classed as European and Eurasian unless at least four-fifths of the pupils are of European or Eurasian parentage. Portuguese schools may be returned as "English-teaching" or as "Anglo-Vernacular or as "Vernacular " schools, Anglo-Vernacular and Vernacular Departments of schools should be separately registered.

4. All registered schools will be examined or inspected once during the official year by a Government Inspecting officer, who will give notice to the managers beforehand of the probable time of examination.

5. Provided that if the Inspecting officer, on his visit, shall consider the arrangements of any school to be palpably defective as regards accommodation, registry of attendance, or otherwise, he may decline to examine forwarding, however, a full report of his reasons for so declining to the Director of Public Instruction and to the school-managers.

6. The number of pupils presented for examination must in no case exceed the average number in attendance daily during the previous twelve months; and no pupil will be examined who has not actually attended the school for at least 100 days during the [illegible]

7. A day of attendance shall mean not less than four hours of instruction given in the same day.

8. No pupil will be examined, or have his attendance counted in calculating the average attendance, who is below six or above twenty-two years of age.

9. In every aided school the daily attendance of the pupils must be recorded in a printed attendance-roll+ of the form prescribed in schedule [illegible]*.

10. The Inspecting officer will examine the pupils presented to him according to the standard under which they are presented (see schedule A [illegible] and will [illegible] the [illegible] certificate [illegible] the number [illegible] by his [illegible], and [illegible] number [illegible]

[illegible]

regards accommodation, registry of attendance, and discipline, and that he has orally examined a sufficient number of classes to enable him to speak well of the quality of instruction and of the intelligence of the pupils.

11. No pupil can be examined at any inspection under the heads of more than one standard. To pass under any head a pupil must obtain one-third of the aggregate marks given for this head, and one fourth of the marks assigned to each sub-division of that head.

12. No pupil can be presented more than once under the same standard, except that any pupil who may have passed under not more than two heads of a standard may be presented in the subsequent year(if the school is examined)under the heads in which he failed or omitted to pass, in lieu of being presented under a higher standard.

13. After each examination the managers should forward to the Educational Inspector an abstract for the amount to which they are entitled under the standards of Schedule B. accompanied by the certificate mentioned in Rule 10.
N.B.- Grants will be liable to ~~xx~~ lapse if not claimed within one month of the date of the Inspector's certificate.

14. Managers of colleges and other institutions recognised by the University may, after registration under Schedule C, obtain grants under the following conditions for pupils who pass the previous examination and the first and second examinations for the degree of Bachelor of Arts and Bachelor of Science;
a) No grant can be allowed for passing the previous examination for any pupil who is not certified to have kept two terms in the institution applying for the grant.

b) No grant can be allowed for passing the first examination* for the degree of Bachelor of Arts or Bachelor of Science for any pupil who is not certified to have kept four terms in the institution applying for the grant.

c) No grant can be allowed for passing the second examination* for the degree of Bachelor of Arts or Bachelor of Science for any ~~xxxx~~pupil who is not certified to have kept six terms in the institution applying for the grant.

15. Applications for grants for passing the previous examination and the first and second B.A. and B.Sc. examinations must be forwarded to the Director of Public Instruction within one month after the date of passing, accompanied by a reference to the list of passed candidates in the Government Gazette in which the pupils name has been published, and a copy of the certificate under forms D, F, I, L and O,(in the University calendar)which was furnished to the University on behalf of the pupil.

16. Schools receiving aid from the State otherwise than on the system of payments-for-results cannot, unless they elect to renounce such aid, obtain any grant under these rules. But this proviso does not affect the allowances made by the State for soldiers' orphans.

17. If it can be proved that a school has been established where there is an urgent demand for such a school, and under peculiar difficulties, Government will sanction a grant of half the nett expenditure on instruction in the first year after establishment, instead of the usual grant-by-results, provided that the examination held in the usual form for aided schools is satisfactory to the Inspecting officer.

18. If it can be proved that the grant-by-results to any school has through misadventure, for which the managers are not [illegible] fallen greatly below the average or previous grant to [illegible] school, a sum not exceeding the grant of the last [illegible] or the average grant of the three last previous [illegible] [illegible] to the [illegible] [illegible] of the [illegible]

Presidency of Bombay at the discretion of Government :-

1) A grant of money may be made not exceeding the sum raised for building-purposes by private subscriptions as a maximum, and of such amount within the maximum as shall seem proper to the local Government ~~[illegible]~~ - after reviewing the circumstances of each case.

2) If the schools is to be built where ground is at the disposal of Government, a site may be granted by Government, which may either be additional to the grant of money, or counted at the Government valuation as a part of that grant, as the local Government may decide.

2. The following conditions shall apply to every grant-in-aid for a school-building;-

a) Private subscriptions may be in money, building-materials, labour, or land for a site. The quantity of materials, labour or land shall not be in excess of what is required for the building, and shall be valued by Government for the purposes of the grant.

b) Additions to school-buildings which substantially increase the area of rooms available for school purposes shall be considered to be new buildings within the meaning of these rules.

c) Before any grant is promised, the applicants shall prove to the satisfaction of the local Government that the proposed building is for a public object, is required in the locality where it is designed to build it, and is to be devoted wholly to education, and in part to secular education.

d) Every application for a Government site shall be accompanied by a ground-plan drawn to scale and certified by the Government officer in charge of land. Every application for a building grant shall be accompanied by complete plans and estimates, by a statement of the means relied upon for completing the building, and by a declaration signed by the applicants that the sum to be supplied from private subscriptions has actually been raised and is available. All such plans and estimates will be first forwarded for the report of the Public Works Department, and must be declared satisfactory by that Department before any grant can be guaranteed, and the plans and estimates shall be finally recorded in the Public Works Department.

e) Government will not be bound to make grants-in-aid for school buildings in excess of the budget-allotment of the year for that purpose. Applications for a grant exceeding Rs.1,000 must be made to Government through the Director of Public Instruction, six complete months before the beginning of the financial year (April 1st to March 31st) in which the grant is required, so that special provision may be made for it in the Educational Budget of the said financial year.

f) Grants-in-aid for school buildings not exceeding Rs.1,000 may be made by the Director of Public Instruction from either the grant for minor school buildings for the provision for grants-in-aid. Grants above Rs.1,000 will be made by the Local Government.

g) Grants-in-aid to buildings will be disbursed, one-half when half of the construction is executed, and the rest on the completion of the building, when it shall have been certified by the nearest Government Executive Engineer that the work has been well and truly completed according to the plan submitted and by the managers that they have funds sufficient, with the Government grant, to pay the whole cost of the building.

h) No grant-in-aid shall be paid, nor any Government site made over, until a deed or deeds shall have been executed by the managers of the school, or their lawful representatives, and approved by the Local Government, providing for [illegible] the premises, for the proper maintenance [illegible] for the management of the school and for [illegible] [illegible]

settled by arbitration, of any site given by Government; or shall have the option of purchasing the premises as a price fixed by arbitration, from which any grant made, and the value of any site given by Government for the same, shall be deducted.

i) Grants may be made as a special case in aid of the purchase, instead of the construction of school-buildings, subject to such of the above conditions as are applicable to the case.

k) Government does not pledge itself to make any grant-in-aid for the building, of colleges, libraries, boarding-houses or gymnasia, but applications may be separately submitted and each will be dealt with on its own merits.

N.B.: (1) All schools or other institutions received aid from the State will be required to furnish all returns called for by the Government of India or the Government of Bombay.

(2) It is to be clearly understood the grants cannot be obtained under Part I or Part II irrespective of the circumstances of the case and the limits of the sum at the disposal of Government. Should a grant be in any case refused, the reason for refusal will be communicated to the applicants and will also be published in the Administration Report of the Education Department.

<u>Part III</u> - Special Rules for Indigenous schools and for Low - Caste schools etc, not able to present children for Results-grants.

Masters who are willing -

(1) to submit to annual examinations,

(2) to make such simple returns as the Inspector may call for,

(3) to give up any bad practices which may be pointed out,

(4) to adopt by degrees the method and text-books of Government schools,

(5) to follow approximately vernacular standards I and II as their course,

and are favourably reported of, shall receive a yearly present, according to the improvement made, of from Rs. 10 to Rs. 50.

The Rules in Part III of the Code are intended for schools not sufficiently advanced to earn capitation-grants under fixed standards of examination, and it should be noted that the "annual examination," referred to in these rules is limited to such subjects as the pupils have actually studied.

x x x

(Schedule E, typed in next page)

SCHEDULE B. - Grant for pupils passed under the several standards.

(1) For Colleges and Institutions recognised by the University.

	Rs.
For passing the Previous Examination .. *	100
-do Ist B.A. or B.Sc, Examination *	100
-do nd -do- .do *	100

(ii) For (Anglo-Vernacular) Middle & High schools.

		Ist Head Rs	2nd Head Rs.	3rd Head Rs	4th Head Rs	Total Rs
Middle schools	Standard I	1½	1½	1	2	6
	-do- II	2	2	2	3	9
	- do- III	3	3	2	4	12
High schools	Standard IV	5	5	5	6	21
	- do- V	6	6	6	8	26
	- do- VI	7	7	7	9	30

with capitation allowance of Rs.2 on the average daily attendance of pupils during the year.

(III) For Vernacular schools.

	Ist Head Rs	As.	P.	2nd Head Rs.	a.	p.	3rd Head Rs.	a.	p.	4th Head Rs.	a.	p.	Total Rs.
Standard I	0	8	0	0	8	0	0	8	0	..			1½
-do- II	0	8	0	0	8	0	0	8	0	0	8	0	2
-do- III	1	0	0	1	0		0	8	0	0	8	0	3
-do- IV	1	0	0	1	0	0	1	0	0	1	0	0	4
-do- V	1	8	0	1	8	0	1	8	0	1	8	0	6
-do- VI	2	0	0	2	0	0	2	0	0	2	0	0	8

with capitation allowance of As. [illegible] on the average daily attendance of pupils during the year.

In Sind the grants for Persian in Vernacular schools are:-

		Rs.	a.	p.
Persian Standard	I	[illegible]		
-do-	II	1	0	0
-do-	III	1	8	0
-do-	IV	2	0	0
-do-	V	2	0	0

To girls double the above grants for passing heads of standard in anglo-vernacular and vernacular schools will be awarded, [illegible] further notice. The capitation allowance for [illegible] in anglo- vernacular [illegible] and in vernacular [illegible] on the average attendance. For any girl who passes under the heads of any standard, a further grant may be made of Rs.3 in anglo-vernacular and of Rs.2 in vernacular schools, for creditable plain needlework.

N.B. No capitation allowance will be granted to private schools.

* No grant is awarded for a pupil who passes the B.Sc. Examination after graduating as a Bachelor of Arts and vice versa.

******

Annexure 5 . . .

Sir Alexander Grant's Correspondence with Government on the subject of improving the position and conditions of the Higher Educational services.

Report of the Director of Public Instruction for 1865-66.

" x x [paras 36-37] x

36. On the other hand, it is equally clear that this department will degenerate unless its higher appointments continue to be held by Europeans characterized by cultivation and learning. I would humbly call the attention of Government to the Directory of this department, which is now annually prepared with great care, and which naturally suggests a division of the higher educational appointments from the main body of the service. It is, I think, a question of great importance, well worthy the consideration of Government, whether these few appointments (altogether less than thirty in number) might not be either amalgamated with, or else placed on an analogous footing with, the Covenanted Civil Service. There is only one point on which, as Director of Public Instruction, I should be inclined to feel uneasy about the future of the department, and that is the uncertainty which must attach, under the present system, to appointments of educational officers made by the Secretary of State. No general discussion on Indian affairs takes place in the British Parliament without some reference to the importance of the educational operations carried on by Government in this country, and yet no steps whatever have been taken to secure for the Departments, of Public Instruction, as for the Covenanted Civil Service, a supply of officers fitly qualified. The number of Englishmen required for the service is very small. Any person of superior qualifications who may be sent out has an almost boundless field of usefulness opened to him, and any incompetent person, on the other hand, is a dead weight and a drag upon the progress of the country. And yet, partly owing to the unattractive conditions offered, and partly owing to the want of any method in the selection of candidates for the Educational Service, we have no guarantee that a proper standard of men for Principals, Professors, Educational Inspectors, and High school masters will be kept up. And this must be a source of uneasiness to one to whom the department is a care.

37. In making these general remarks, which I submit with all deference, I beg at the same time to acknowledge with gratitude the appointments by the Secretary of State, during the past year, of Mr. K. M. Chatfield to be Principal of the Elphinstone College, and of Dr. F. Kielhorn to be Superintendent of Sanskrit studies in the Poona College. Both these gentlemen are highly qualified for the appointments conferred upon them, and will add a great strength to the department."

x x x

Report of the Director of Public Instruction 1866-67. Appendix

Correspondence with Government on the subject of improving the position and conditions of the Higher Educational service.

Letter No.1552 of 1866-67 dated 22nd October 1866 from Sir Alexander Grant, Director of Public Instruction to Government of Bombay.

. . . .

Sir,

I humbly beg to advert to the 36th paragraph of my annual report of Department of Public Instruction in the [illegible] Presidency for the year 1865-66, copy of which is given in [illegible] for ready reference, and respectfully to submit [illegible] observations on the present standing of the [illegible] services in this Presidency for the consideration of G[illegible]

2. There is no doubt that [illegible] present position is [illegible] of [illegible] this [illegible] subject in [illegible] [illegible] Government with [illegible]

with reference to the Despatch of Her Majesty's Secretary of State dated 23rd December 1865, the terms of which were felt to disappoin expectations not unreasonably formed on the Despatch No.205, of the 8th December 1862. Before, however, giving my sanction to a memorial of the kind, I have thought it best to address Government on the subject, as the question is much more one of the general future of this Department, than of the feeling of present individual officers, and as considerations of policy could hardly be entered upon by even a small body of memorialists.

3. The Chief grounds for dissatisfaction at present felt by the higher Educational officers of the Presidency appear to be as follows:

a) That of late the covenant which used formerly to be made with persons appointed by Her Majesty's Secretary of State to Educational posts, has been withdrawn. For this covenant a letter, conferring the appointment, has been substituted, in which it reserves to itself the right of dispensing at six months' notice with the services of the person appointed. It is obvious that this gives in a very maarked way, a precarious appearance to the position of Educational officers.

b) That no pension whatever is secured to officers in the Educational service. It is laid down as a general rule for the Educational, in common with the rest of the Uncovenanted service, that all Pension is to be considered given as a favour, and not as the satisfaction of a claim. This again is felt to be a precarious condition.

c) That the only modes by which pension can be obtained by an Educational officer are either that he shall complete 27 years' actual service in India, or else that he shall produce, at the end of 12 or 22 years' actual service a certificate of utter incapacity for further service in the country. These are of course extremely discouraging conditions to a young Englishman who might think of entering the Educational Service in this country. He naturally does not wish to give up all his prospects in Europe, without the hope of some little provision in the shape of a retiring pension, nor does he wish to bind himself to serve either for 27 years in India, or till his health is utterly broken.

d) That in respect of Pension rules the Educational officers are in a much worse position than Her Majesty's Chaplains in India. A Chaplain, if his health renders his retirement necessary, can obtain a small pension after seven years' service, and a pension of greater amount after ten years, and after 20 years' service, inclusive of 3 years' leave (that is after 17 years' actual service), chaplains can retire on their full pension without medical certificate. It is thought hard by superior Educational officers, who are generally, and who ought always to be, persons of a higher University standing than the majority of Her Majesty's Chaplains, and whose duties are certainly more onerous and trying than those of Chaplains, that they should be so much worse off than the Ecclesiastical service.

4. It is, I think, impossible to deny that, from the nature of the conditions above stated, the Educational service in this Presidency is a very poor, precarious, and in fact miserable sphere, into which, one can hardly dare to advise any young man of ability and cultivation to enter. At the same time I can perfectly understand that what has led to the present position of the service, is, its undefined character in point of numbers. The Educational service sprang up, as it were, fortuitously. It was gradually and silently extended, and when Her Majesty's Secretary of State came, in his Despatch of the 23rd December last, to deal with the question of the Pension rules for the entire service, I have little doubt that he would be rendered cautious by the indefinite numbers of appointments for which it might appear that he had to [illegible] tions. In one point of that very despatch [illegible] the Secretary of State [illegible] I humbly think [illegible] for want of definition, [illegible] benefits of early pension to all [illegible] if it be not [illegible] defined, [illegible] High Schools and primary [illegible]

body amounting in this Presidency alone ~~xx~~ to not less than 1,324 persons, almost all of whom might well be left to abide by the ordinary Uncovenanted service rules.

5. I would now beg humbly to point out to Government that if the Educational service in its present organisation be examined, it will no longer be found to consist of an indefinite number of homogeneous appointments, suggesting the idea of a formidable number of claimants for advantages of pension and the like. Our Departmental directory suggests a most natural division of the service into two branches, one of which must be entirely filled by University Graduates from Europe, except in the rare case where a native scholar of exceptional merits may be thought worthy to hold one of the appointments. The other branch would be of wide extent, commencing with appointments analogous in pay and position to those of Deputy Collectors, and going down to small scholmasterships of (1)eleven rupees per mensem. I may mention at once that were such a division made the Upper Branch of the Bombay Educational Service would consist at present of less than 30, and the Lower Branch of more than 2,000 appointments.

6. Our Departmental Directory, copy of which is herewith sent for reference, was not framed with a view of making the division now advocated. But as soon as the names of officers and their salaries and qualifications had been set down in order, the principle of a division in the Department at once suggested itself. It will be ~~xxxx~~ seen that the Directory does not contain appointments below Rs.30 per mensem, and that all appointments above Rs.300 per mensem have been entered as superior appointments. Several of these superior appointments are held by officers of the Medical or Militar Department, whose pension rules and other conditions of service are elsewhere provided for.

7. I will now respectfully indicate the principle on which I would suggest that an Upper (or Covenanted) Educational serive in the Bombay Presidency should be formed. The Principle is this - that there are certain Educational appointments of great importance, which if they are properly filled, will insure the efficient working of the whole of this large Department, and that the number afford without risk of any large expenditure of the public funds to place them on a solid and attractive footing.

8. These important appointments I would specify as follows:- Ist. Headmasterships of First Grade high schools. 2nd. Educational Inspectorships. 3rd. Professorships of different Branches of Liberature and science. 4th. Principalships of Government Colleges. 5th. The office of Director of public Instruction.

9. At present the exact numerical list of officers coming under the above heads stands as follows:

Ist. Headmasters of I Grade high schools (namely Elphinstone, Poona, Ahmedabad, and Belgaum High schools)..		4
2nd. Educational Inspectors (Northern, Central, and Southern Divisions, Sind, and one Asst. Inspector)..		5
3rd. Professors (of English literature, Mathematics and Sanskrit in Elphinstone College; English literature, Mathematics and Sanskrit in Poona College; two professors of Law in the Government Law schools)	..	8
4th Principals of Government Colleges (Elphinstone, Poona, and Poona Civil Engineering College)	..	3
5th. Director of Public Instruction	..	1
		21

10. Looking forward to the wants of the future, I think it will certainly be necessary within the next few years to make some additions to this limited number; namely one Professor of History and one of Latin must be given to Elphinstone College, and the same to Poona College, and three professors of [illegible] subjects [illegible] be assigned to the Poona Civil Engineering College. [illegible] about five more First Grade High schools [illegible] different parts of the Presidency [illegible] I can foresee is necessary, [illegible]

Total 12.

thus raising the Upper or Covenanted Educational service in this Presidency to a fixed total of 32 officers.

11. It would have seemed to me hardly necessary to say anything on the great importance of properly filling the appointments above specified, except that the absence of all special regulations with regard to them, coupled with the unfavourable conditions actually attached to these appointments, seems to indicate that the attention of Government has never been drawn to the subject. I would therefore humbly submit the following considerations with regard to the different classes of appointments:-

1st. It has now become possible to raise the First Grade High schools of this Presidency into institutions worthy of their name, which would be characterised by a literary and classical spirit, and would exercise a humanizing influence on all the native students admitted to them. Our Native University Graduates ~~from~~ form excellent assistant masters in such schools, but it is essential that the Headmaster should be European gentleman of high cultivation, who will give a tone to the entire school. Any one who knows the great intellectual quickness of Native boys, and the immense benefit they invariably derive from contact with a teacher whom they feel to be superior will acknowledge that the Headmasterships of our First Grade High schools should be filled by the best men that can be got from the Universities of Great Britain, and that the High schools (as a rule) will never prosper, until their Headmasterships are so filled.

2nd. It is not only for the sake of the high schools, that men of the kind indicated should be sent out as Headmasters, but also with a view to these same men being promoted in course of time to be Educational Inspectors. At present it is difficult to fill up vacancies in the inspectorships. But, there is no doubt that a University Graduate from England, who had served some years as Headmaster of a High school, and had learnt during that time the vernacular language of the district, would in most cases possess all the requisites for a good Educational Inspector - these requisites being, a certain amount of literary culture, combined with acticity of habits, administrative capacity with Collectors and Magistrates, and other local authorities.

3rd. On the learning of the Professors in the Colleges of the Presidency the success of the Bombay University entirely depends. And how much depends on the success of the University? Little less than the regeneration of the mind of the people. When it is reflected that the Native University students furnish, or will ere long furnish, the school teachers, the Pleaders, the Practitioners of European medicine, the subordinate Revenue and Judicial officers, the Overseers of works, and above all the newspaper writers, who are constantly disseminating wise or foolish, disaffected or loyal, criticisms on the acts of Government, it cannot but be felt that it is of the utmost importance that the fountain head of all this stream of influence, namely the professors and principals of Colleges, should be as high and pure as possible. Without ~~much~~ solid and special learning in the Professors, the University system of this Presidency must retain that level of frivolous superficiality which has hitherto been the disgrace of Education in India. Without gravity and wisdom in the Professors, there is no saying that subversive sentiments may become associated with European teaching. Already it has been said, and I believe truly, that one active-minded teacher in the Presidency succeeded in leavening an entire generation of his pupils with the doctrines of Tom Paine, [illegible] political principles which would now go by the name [illegible]

12. If these matters are looked at with atte[illegible] it will be felt that there are grounds for consider[illegible] appointments in this Presidency no longer [illegible] to be placed on [illegible] of the [illegible] to be [illegible] [illegible] [illegible]

Bombay has been far more fortunate than it could have had reason to expect, in the men that have been obtained to fill these appointments. But how many are there of our higher educational officers who (though admirably ful-filling their duties) are yet proud of their position, or would advise any friend in England to enter upon the same career? The real worth of appointments in India is becoming understood in England every day more clearly: and I should have no hesitation in predicting that if the Educational service of this Presidency is left on its present footing it must degenerate instead of improving, and thus for want of a little attention and liberality a really great opportunity will be lost.

13. I trust that my own feeling of the importance of the question will not be considered exaggerated, and that I shall pardoned for plainly stating the grounds of my opinion. The practical measures which I would humbly suggest to Government, are as follows:-

<u>1st</u>. That an Upper Educational Service in the Bombay Presidency be formed, which should be open to Natives of distinguished merit, but which would, for a long time to come, be mostly filled by graduates of high standing from the European Universities.

<u>2nd</u>. That this be constituted a "service" properly so called, with a covenant of conditions, and regular rules of advance in pay.

<u>3rd</u>. That thisservice consist of Headmasters of First grade High schools, Educational Inspectors, Professors of Literature and Science, Principals of Colleges, and the Director of Public Instruction, with a maximum limit of 32 officers to constitute the entire service.

<u>4th</u>. That all other persons in Educational appointments in the Presidency be considered as constituting the "Uncovenanted Educational Service," and remain on the footing of their present rules.

<u>5th</u>. That every officer of the Covenanted Educational service commence with a salary of not less than Rs.500 per mensem, and that he be entitled to an increase of Rs.50 per mensem additional to his former pay at the end of each year of actual service, with the following limitations:-

	Rs	
No High Schoolmaster to attain to a salary exceeding	..800	P.M.
No Professor	..1,200	"
No Principal of a College	..1,500	"
No Educational Inspector	..1,500	"

The salary of the Director of Public Instruction to remain as at present (Rs.2,500 per mensem), without his being entitled to any increase.

<u>6th</u>. That the appointments coming within the Covenanted Educational service be reserved, in the first place, for officers of that service, and that no one be appointed Principal of a College, Educational Inspector, or Director of Public Instruction from outside the service unless Government is of opinion that there is no one in the service qualified to hold the appointments

<u>7th</u>. That a fixed retiring pension of £365 per annum be allowed, without the necessity of medical certificate, to Covenanted Educational officers on their completion of 14 years' actual service in India, or of 15 years, inclusive of one year spent on furlough.

<u>8th</u>. That any such officer who may be declared by medical authority to have become absolutely incapable of further duty in India before the completion of 7 years' service, may receive a free passage home and a gratuity not exceeding one month's pay (at his last rate of salary) for each year that he has served.

<u>9th</u>. That any such officer on medical certificate of [illegible] for further duty may obtain at the completion of 7 [illegible] pension of £127-15-6 per annum, and at the [illegible] service £173-7-6.

<u>10th</u>. That a furlough of six months at [illegible] and of one year at the end [illegible]

leave now allowed to the general Uncovenanted Service be continued to the Covenanted Educational Service, with the proviso now made that officers who are allowed school and College vacations cannot claim privilege leave.

12th That social rank and precedence be granted to Covenanted Educational service on the same footing as to the Covenanted Civil service ~~xx xxxxxxxxxxxxx~~ except that as Educational officers will naturally come out to this country at least two years later than covenanted civilians, covenanted educational officers should take rank from the date of their commencement of service with Civilians of two years' standing.

13th. That any person appointed to fill the post of First Grade High school master, Professor, Educational Inspector, or Director of Public Instruction, be ipso facto admitted to the privileges of the Covenanted Educational service, but that any such appointment will require the sanction of Her Majesty's Secretary of State.

14th. That on any person being appointed to one of the above mentioned posts, he be considered appointed for two years certain, Government reserving to themselves the right of continuing to employ him, or of dispensing with his service at the end of two years; and that general want of efficiency be considered sufficient ground, without commission of any special fault, for discontinuing the employment of any officer at the period when his first two ~~xxx~~ years of service have expired.

15th. That a similar consideration of each officer's services be made at the end of his first five years of employment.

16th. That in case of the services of any officer being dispensed with, at the end of two or five years' employment, he be allowed a free passage home.

14. The above is the outline of a sketch for the conditions of a Covenanted Educational service, which I humbly submit for the consideration of Government. The terms of pension are taken from the present rules for the Ecclesiastical service, except that in my suggestions the final term for pension is a little shortened. I have suggested the period of 14 years' actual service on account of Dr. Arnold's famous dictum, which was literally acted upon by Dr. Vaughan at Harrow, "that no schoolmaster ought to remain at his post much more than fourteen or fifteen years, lest, by that time he should have fallen behind the scholarship of his age." (See Life of Dr. Arnold, 4th Edition, Vol. I, page 147). This saying if applicable in England, is doubly applicable in India, and I humbly suggest these rules to secure the absolute efficiency of a small body of most officers.

Letter No.681 of 1866 from the Government of Bombay to the Director of Public Instruction, Bombay.

Bombay castle, 11th December 1866.

The Director of Public Instruction's No.1552, dated 22nd October 1866.

Urge on the consideration of Government the necessity for placing the higher appointments of Educational service of the Bombay Presidency on a new and better footing.

Resolution: The Honourable the Governor in Council concurs very much in the views expressed by Sir A. Grant. But there are one or two points in regard to which Government would be glad to have more information.

If the extension of privileges as to members of a Covenanted Civil service, were conceded, as proposed, would Sir A. Grant suggest any special process for the admission of members? He contemplates that they will generally be graduates of high [illegible] in a [illegible] University. [illegible] would not exclude Natives [illegible] (paragraph [illegible]) [illegible] of fitness beyond [illegible] to certain [illegible]?

[illegible] test [illegible] might seem to be [illegible]

required, if every person so nominated is to take rank, not only along with, but above, all those who may at the sametime have entered the ordinary Civil Service by competition (paragraph 13, clause XII).

The reason assigned in paragraph 14 for suggesting the grant of pensions after 14 years of actual service may, perhaps, be though insufficient, if they are to apply not only to those who have served continuously as Headmasters, but also to those who have been successively employed as Headmasters, Professors, Inspectors, and Directors of Public Instruction.

It might be advantageous if Sir A.Grant were to state more particularly, whether he does not think (and why) that members of the Covenanted Educational Civil service might be placed, with regard to rank, privileges, etc. in all respects upon an equal footing and under the same rules as members of the ordinary Civil service. It seems probable that a separate Judicial branch of the Civil Service will ere long be organised. Would it be well, in like manner, merely to organize a separate Educational branch?

In that case would it be advantageous to regard and declare members of that branch of the Civil Service available for employment also (when their attainments and capacity have been proved to fit them specially for such employment) in other high public offices, as Secretary to Government or Member of Council?

The Director of Public Instruction should also be requested to state whether he thinks the selection of candidates, after competition, might not be made as for the Civil service, leave being given to any man electing for the Educational branch to complete his English University course before coming out of India.

--::--

Letter No.1975 dated 7th January 1867 from the Office of the Director of Public Instruction, Bombay to C.Gonne, Esq. Secretary to Government, Education Department.

In acknowledging the Resolution of Government No.681, dated 11th ultimo, I beg respectfully to report further on the points referred by the Honourable the Governor in Council.

2. The most important question of those under reference, and the first in logical order, is the question whether the higher Educational service of Bombay should not be made simply a branch of the Covenanted Civil service.

3. There is no doubt that this course would be for many reasons the most desirable of all, if the difficulties which would seem to attend it, could be overcome. These difficulties I would state as follows:

a) The higher Educational service may be said to consist of two branches, an administrative branch, and a learned branch. The functions of High school masters, Inspectors, and the Director are administrative, those of Professors are learned; Principals of Colleges have a mixed function, partly administrative and partly learned. Now it is at once clear that we cannot rely on the ordinary appointments of the Indian Civil Service, for officers to fill the learned branch of the Educational service. When a Professorship of Sanskrit, Mathematics, History, Logic, Engineering, or any other subject is vacant, we require to fill it not a man of general cultivation, but of special attainments; a man who has gone deeply into the particular science, and given his whole mind to it. Unless our Professoriate is supplied with scientific men, possessing profound special knowledge, our University must degenerate and become a mere pretence and laughing-stock. Thus it will always be necessary to choose our Professors in a different way from the ordinary members of the Civil service. [illegible] they [illegible] but [illegible] from the [illegible] of [illegible] be in a position [illegible] the Revenue or [illegible] branches of the Public [illegible] though a [illegible] occasionally be

be thought fit for practical duties, yet, as general rule, they will remain separate, and the Professoriate which I estimate as likely to consist of about 15 appointments out of 30, and as amounting therefore to about half the higher Educational service, must be pronounced incapable of ro.E amalgamation with the Covenanted Civil service of this Presidency.

b) Passing now to the administrative branch of the Educational service, which consists of First Grade High school masters, Inspectors, and the Director (altogether to be reckoned at about 15, appointments), I should say that there would be no objection to filling these appointments with members of the Civil service beyond the objections likely to be raised by the Civil service itself. The question seems to me to be this: - Can it be said that employment in the Educational Department is a good qualification for high public offices, such as Secretary to Government, or Member of Council? Supposing a man to have served for five years as a schoolmaster and five years as Educational Inspector, and three years as Director of Public Instruction, would he be likely to be thought qualified for the functions of Secretary to Government in the Revenue, Judicial, or Political Departments? If not (and I confess I think not) then members of the Civil service are hardly likely to elect to enter the Educational branch, which would begin with a schoolmastership (a kind of appointment against which there is a certain amount of social prejudice), and which would end with chances of promotion far inferior to those offered either by the Revenue or the Judicial lines.

c) But supposing that High schoolmasterships were allowed to lead to Assistant Collectorships and other similar appointments, it might be then not difficult to induce young Civilians to accept such appointments, at all events for short periods. The only question would be, would not the general administration of the country suffer to some extent by the loss of district experience which would be implied in the fact of a future Collector spending three or four years of his early life in scholastic duties in a town, instead of in the management of Talooka affairs in the Mofussil?

d) Young Civilians would be generally extremely well fitted for the duties of Educational Inspectorships, but I think that these appointments ought henceforth to be reserved as promotion for the High schoolmasters. If the schoolmasters are to be Civilians then the Inspectorships would become Civilian appointments, but not otherwise, in my humble opinion.

e) Government suggests that candidates chosen for the Civil service might be allowed to elect for the Educational branch and might have leave to complete their University course before coming out to India. I think that this arrangement would be a little complicated, and on general grounds undesirable; 1st, because the appointments of schoolmasterships are so few that it would be a matter of uncertainty when vacancies would occur, 2nd, because a Civilian by electing to finish his University course would really cut himself off from that special preparation for Indian Service which his contemporaries would receive in London, and would, by confining himself to merely academical acquirements, disqualify himself to a considerable extent for higher offices, such as that of Secretary to Government in this country. I may add, 3rdly, that I should not place much faith in the activity of a man's University studies after he had attained such a prize in life as a Civilian appointment.

4. On the whole then, I am reluctantly brought to think, that though the Educational service of this country would gain in strength and efficiency if it could be amalgamated with the Covenanted Civil service, the difficulties in the way are too great to be overcome. Half the Educational service must consist of [illegible] special learning of [illegible] mature age, and with formed [illegible] habits, quite [illegible] from the class of men [illegible] as Civilians; the [illegible] of the Educational service [illegible] offer in itself [illegible] for Civilians [illegible] and [illegible] the other [illegible] a good [illegible] for Revenue or Judicial

5. From these reasons, I am induced to return to my former suggestion, namely that the higher Educational appointments should be made to constitute a separate Covenanted service, with its own rules and conditions, upon the analogy of the Ecclesiastical establishment in this country.

6. With regard to the question of rules for admission to this service, I beg to say that I considered myself excluded from entering upon the subject, having last year, in my letter No.999, dated 17th October 1865, submitted detailed suggestions for the selection of Educational officers in England, which were forwarded by Government to the India office, and to which answer was made by the Secretary of State in his despatch No.3, dated 12th February 1866, that he "did not wish to give up the responsibility of making Educational appointments."

7. Being now authorised by Government to enter upon the subject anew, I would humbly suggest the following sketch of rules for admission to the Covenanted Educational service.

a) No one to be admitted to this service except as either First grade High school master or Professor.

b) Every vacancy to be filled up in England at the time of the Civil service competition, after at least six months' public advertisement in all the Universities, of the vacancy.

c) No one to be eligible to be a High school master who is not a graduate in some European or Indian University; or who is more than 26 years of age; or who does not produce a medical certificate of fitness for Indian service.

d) Every first grade High schoolmastership to be awarded by means of competition among the candidates for the vacancy, on exactly the same system and by means of the same papers as the Civilian appointments.

e) No one to be eligible for a Professorship who is not a graduate of some European or Indian University, or who is more than 30 years of age, or who cannot produce a medical certificate of fitness.

f) Every Professorship to be awarded by competition in the subject of the vacant Chair, by the Indian Civil service Examiners in that subject for the time being.

8. It will be observed that in the above draft of rules, I have suggested that all appointments should be made in London. I think that this condition ought to be insisted on for a Covenanted Educational, as for a Covenanted Civil Service. Natives wishing to enter the service, either as Professors or First Grade higher schoolmasters, would be able to do so by attending the competition (of which six months' notice would be given) in London. I need hardly expatiate on the reasons which render such a proviso most desirable.

9. It only remains for me to explain why I thought that the reason mentioned in the 14th paragraph of my letter, No.1552 under reference, might be sufficient to justify a pension after 14 years, being granted to higher Educational officers. Government points out that some of the Educational appointments are not teaching appointments but the fact is that only the Director's and Inspectors' appointments (that is five or six officers out of [illegible]) are other than teaching appointments; so that four-fifths of the entire proposed service would come directly under the terms of Dr. Arnold's dictum, and even with regard to the [illegible] the Inspectors it would be equally true that a tolerably [illegible] introduction of "new blood" is highly desirable.

10. In suggesting a short term for the [illegible] of pension in the Educational service it will be [illegible] I have at the same time proposed an extremely moderate [illegible] of pension. Should [illegible] of service [illegible] persons holding [illegible] I trust [illegible] at the [illegible]

11.

11. Should Government think the difficulties which I have above stated to the amalgamation of the Educational with the Covenanted Civil service, not insurmountable, I can only say that no one would more gladly welcome than myself such an amalgamation.

---:::---

Annual report [illegible]

Letter No.9 of 1867 dated the 6th Setpember 1867 from the Secretary of State for India communicated to the Director of Public Instruction, Bombay by the Government of Bombay.

We have to acknowledge the receipt of your Despatch No.5 dated the 16th July, in which you request to be furnished somewhat more fully with the views entertained by us respecting Sir Alexander Grant's proposals submitted to us with the letter from the Bombay Government of the 31st January 1866, with regard to the higher appointments of the Bombay Educational service.

2. Sir Alexander Grant's proposals related to the division of the Bombay Educational service into two grades. The higher grade comprising Headmasters of first grade High schools, Educational Inspectors, Professors, Principals of Colleges, and the Director of Public Instruction. He would form into a Covenanted Educational service, with rules of its own as regards nomination, salary, and pension, upon the analogy of the Ecclesiastical service. The lower grade, comprising all other persons holding educational appointments he would constitute the "Uncovenanted Education service," and allow it to remain on the footing of the present rules.

3. The grounds on which Sir Alexander Grant's proposals were made, are the present alleged unsatisfactory condition of the Educational service, and the disappointment felt by the superior officers of the Department with the arrangements sanctioned in the Secretary of State's Financial Despatch No.290, dated 23rd December 1865, in regard to pensions.

4. The rules and conditions of the proposed Covenanted Educational service are detailed in the 13 th paragraph of Sir Alexander Grant's letter.

5. These proposals seemed to use to require consideration under the following headings:

1. The present alleged unsatisfactory condition of the Bombay educational service, and the grounds thereof.

2. The proposed reorganisation of it.

3. The grounds of the proposed scheme.

4. The Rules by which the new scheme is to be worked.

6. Sir Alexander Grant's remarks under the first heading did not appear to us to be altogether free from inaccuracies and exaggeration.

7. In the first place, we observed that he based his views on the 36th paragraph of his Education Report for 1865-66, the substance of which paragraph is a complaint that no steps whatever had been taken to secure for the Department of Public Instruction as for the Covenanted Civil service, a supply of officers fitly qualified. This is simply a reiteration of a suggestion that has been already negatived by the Home Government, and we [illegible] only to remark that we do not consider Sir Alexander Grant's complaint to be well founded; indeed, it is altogether inconsistent with the succeeding paragraph of the same report, which for facility of reference we quote in the margin.

8. Sir Alexander Grant then went on to [illegible] express his opinion [illegible] the Bombay Educational service "is [illegible] [illegible] [illegible] this sphere, into [illegible] hardly [illegible] [illegible] of abilit[illegible] [illegible] in the [illegible] the [illegible] other Educational Departments.

Departments, and we did not find the alleged inferiority of the former, indeed the Bombay Service is actually in a far better position than the same service in the Punjab, or in any of the minor administrations. Neither did we assent to the view that the Bombay Educational Service has sprung up "fortuitously."

It was deliberately established in accordance with the Educational Despatch of 1854 (paragraphs 17 to 22), as afterwards modified by the Despatch of 1859 (paragraph 4).

The very fact that Sir Alexander Grant himself is in the Bombay Educational Department is no mean proof of its power of attracting first-rate men. Nor could we accept the statement made in his 12th paragraph, that the higher Educational appointments have hitherto been dealt with "neglectfully, given away to political retainers or filled up at haphazard, like other uncovenanted appointments." No such complaint had hitherto reached us from any of the Presidencies or Provinces, and we were of opinion that there was no ground whatever for assuming that such abuses had crept into the nominations to the Educational Department in Bombay, or were likely to do so.

9. There are minor inaccuracies in Sir Alexander Grant's representation of the present condition of the service, which we do not consider it necessary here to notice. With reference, however, to the grounds of dissatisfaction stated in Sir Alexander Grant's 3rd paragraph, we considered that the withdrawal of the covenant and the substitution of a letter of appointment in which the right of Government to dispense at six months' notice, with the services of the person appointed is reserved, were entirely points for your consideration.

10. As regards the second and third headings, the first point which occurred to us was that there is no evidence whatever of the failure of the present system, or of the consequent necessity for the establishment of a new covenanted service. The present system, as stated above, was organized on the instructions laid down in the Educational Despatch of 1854 and 1859, the letter of which is far from encouraging any notion of a special Covenanted Educational Service; on the contrary, it points to the necessity of refraining from the appointment of any Covenanted officials to the Department on the ground of the disproportion of the cost of the controlling agencies, as compared with the money spent on direct means for Instruction. Sir Alexander Grant's proposal would tend to aggravate this disproportion.

11. Again, we noticed that Sir Alexander Grant's scheme was based, not on what actually had happened, but on his estimate of the future. "The Department will degenerate," he said "unless its higher appointments continue to be held by Europeans of cultivation and learning." But unless it could be shown that such would be the case, the plea obviously failed.

12. As to the question raised by the Bombay Government, whether the Covenanted Educational Department should not be organised from the Covenanted Civil Service, we considered it satisfactorily disposed of in Sir Alexander Grant's second letter of the 7th January. But we were also of opinion that Sir Alexander Grant's own scheme for the constitution of a separate Covenanted Educational service was open in one respect to the very object urged by him against the plan of amalgamating the Educational with the Civil Service, inasmuch as any scheme of general selection and general promotion is wholly unsuited to one main branch of the proposed Educational Service, namely, that of the Professors. It is true that to get over this difficulty, Sir Alexander Grant proposed a totally different system of selection and treatment for Professors, viz. that each Professor should, as a rule be selected in England for his special chair, and that he should remain in it ordinarily without promotion, but with a yearly increment to his salary up to a certain fixed limit. But as the Professors would form about one-half the proposed Educational Service, it is clear that this measure would be opposed to the principle enunciated in the [illegible] paragraph of Lord Stanley's Despatch of the 7th April [illegible]

[illegible]

Department a preference will hereafter be given to those who may so enter it, if competent to discharge the duties."

13. In the next place the financial result of the scheme was not sufficiently shown. Sir Alexander Grant merely stated that it would involve no large expenditure of the Public funds, and the Bombay Government omitted to notice the question of cost altogether. We had no means of making a sufficiently accurate calculation of the extra expenditure involved to these proposals; but it was obvious that, as all grades in the Department except the Director's, were to be raised, and as 14 years instead of 27 or 30 were fixed for the maximum of service for pension, and as pensions were proposed on the Ecclesiastical scale without reference, be it observed to the considerable inferiority of pay enjoyed by the Educational service during the term of residence in India, the aggregate expenditure involved must be very large indeed. No doubt the Bombay Educational service is suceptible of improvement; but we repeat it is not in a worse position than the Educational service elsewhere, and we felt that the points to be discussed must be considered, not with reference to Bombay only, but for all India, as there could be no doubt that any privileges conceded to the Bombay Educational service would be demanded, and with justice, by the Educational service in other parts of India also, and would have eventually to be conceded to them. In fact, the question of social rank and precedence of all Educational officers is now under our consideration in connection with the propriety of soliciting a general revision of Her Majesty's Warrant of Precedence. We admit that the grounds for the reorganization of the service are strongly put by the Director of Public Instruction in his 11th paragraph, but it seemed to be overlooked that the main point for our consideration was not how the service could be modelled on principles of theoretical perfection, but what was the best service that could be obtained consistently with the large and daily increasing demands which are made upon us for education elsewhere; and we believe that, on the whole, the cause of education is as efficiently served in Bombay with the existing Department, as in any other administration.

14. As regards the fourth point, the proposed rules of the Covenanted Educational Service, these were, of course, secondary to the main question, whether such a service is to be introduced at all. The rules are stated in Sir Alexander Grant's 13th paragraph, and they appeared to us to be unnecessarily favourable throughout. Nor could we accept the argument urged for limiting the service of Educational officers to 14 years, an argument which clearly does not apply to the administrative part of the Department.

15. Such were the grounds on which we addressed to the Bombay Government our letter of the 16th March, stating that we were unable to recommend to you Sir Alexander Grant's proposal for adoption. A reconsideration of these grounds has not induced any modification in our views, and we are still of opinion that the only tangible cause for dissatisfaction urged by Sir Alexander Grant, is that relating to the terms of the Covenant of appointment of Educational officers in England, and this, as we have stated above, we consider to be one entirely for the decision of Her Majesty's Government.

We have the honour to be, &c.,
Sir John Lawrence,
W. Mansfield,
H.S.Maine,
C.N. Taylor,
W.N.Massey,
H.M. Durand,
G.U.Yule.

True copies.
Signed. A.J. Gowan,
Asst. Secretary.

Letter No.2136 of 1867-68 dated 25th October 1867 from the Director of Public Instruction, to Government of Bombay.

I have the honour to acknowledge the Resolution of Government [illegible], dated [illegible] instant, which forwards copy of a despatch from the Government of India, to Her Majesty's Secretary of State in [illegible] of my proposals of placing the higher [illegible]

Bombay Educational service on a new and better footing. In reference thereto, I beg humbly to submit the following remarks.

2. The Government of India considers my complaint that "no steps have been taken to secure for the Department of Public Instruction, as for the Covenanted Civil Service, a supply of officers fitly qualified," to be altogether inconsistent with a subsequent paragraph of my report for 1865-66, in which I speak with gratitute of two suitable appointments made within the year. My complaint, however was against the system generally, that there is no guarantee for good selection being made, and that no means are adopted for inducing good men to apply for appointments. The two gentlemen named in my report were induced by my personal communications with them to apply. When they did so, we were under the influence of hopes raised by the Despatch of the 8th December 1862. Those hopes has subsequently been disappointed, and I should not now think it right, under the present terms of the Educational Service, to recommend any person to seek to enter it.

3. The Government of India, to show that the Bombay Educational Service is not "a very poor, precarious, and in fact, miserable sphere," compares it with other Educational Departments, and says that "the alleged inferiority" cannot be found. I beg, however, to submit that I never "alleged inferiority" of the Bombay Educational Service to other Educational Departments in India. I only compared that service, as a career for an able and cultivated young man, with other branches of the Public Service, and with other lines of life.

4. However, since the Government of India has introduced the comparison, I would humbly ask what can be meant by saying, that the Educational Department in Bombay shows no inferiority of position to other Educational Departments? One of the great sources of complaint among Educational officers in this Presidency, is that, with the exception of the Director of Public Instruction, they receive lower salaries than corresponding Educational officers in Bengal. We feel it unjust to us that the advantage of the Secretary of State's despatch of December 9th, 1864, have never been extended to this Presidency.

5. The Government of India objects to my having said that the Bombay Educational service has "sprung up fortuitously." What I meant was this, that the Educational Despatch of 1854, finding certain schools and Educational Institutions established under an honorary Board, introduced a Director of Public Instruction, and a Staff of Inspectors. But the former was a Covenanted Civilian, and the Inspectors were either Civilians or Military or Medical officers who were under the leave and pension rules of their several services. Other persons employed in the Educational service, having [illegible], were subsequently brought under the Rules of the general Uncovenanted service, - Rules framed for a body of Indian and Eurasian natives of this country, and quite unsuited to the circumstances of European gentlemen. By degrees (in accordance with the Despatch of 1859) the offices of the Director and the Educational Inspectors have ceased to be filled by Civilians and Military or Medical officers; and by the appointment in England of Professors, Principals of Colleges, and headmasters of first grade High schools, a small but distinct service has now grown up, for which the original rules and conditions have ceased to be appropriate.

6. In acknowledging the high compliment to myself, which the Government of India uses as an argumentum and hominem against my proposals, I can only say that though personally contented with the salary of the appointment, which I have been fortunate enough to obtain, I should certainly have been dissatisfied with any other appointment within the Department. And with regard to the Pension Rules under which I find myself, I have been disappointed, and I think I have cause of complaint. Judging then from my own feelings, as well as from those of others described in the fifth paragraph of my Letter No.1552 of the 2nd October last, I think I have fair grounds for doubting that "first-rate men" will, in future, be attracted to this Department. Nor do I think that the Government of India would wish to form a Department of "first-rate" but disappointed men.

7. The Government of India objects to the terms used by me in the

former part of the same paragraph, I am sure I shall be excused from undertaking the invidious task of justifying in detail these words. But I must venture to observe, with great submission, that the whole attitude of the Government of India in reviewing my suggestions, indicates a tendency still to consider the Upper Educational appointments in this Presidency as places of comparatively "little importance."

8. The Government of India observes that the Educational Despatch of 1859 is "far from encouraging any notion of a special Covenanted Educational Service." This may be case, but I did not regard that Despatch as containing a final and immutable Code for the Administration of Education in India. I had rather hoped that a new Despatch might now be issued, giving an assured future to Education in this country, by providing a regular succession of qualified Educational administrators, and of teachers versed in the Sciences and Literature of Europe.

9. The Government of India suggests that my proposals would tend to aggravate a disproportion between the cost of controlling agencies and the money spent on the direct means for Instruction. This however, would not be the case:

Ist. Because my proposals referred to appointments, four-fifths of which are teaching appointments (see paragraph 9 of my second letter under reference.)

2nd. Because I proposed no increase for the salary of the Director of Public Instruction.

3rd. Because the moderate increase proposed by me for Inspectors was fixed, while the growth and increase of the outlay of money(especially from Local, Municipal and private sources)on the direct means of Instruction, would be unlimited.

10. I am called upon to show that my apprehension of a degeneration of this Department is not a mere fancy. On this point, I beg to refer (Ist)to the feeling of dissatisfaction in the minds of the best officers of this Department, with regard to the Leave and Pension Rules under which they find themselves placed: (2nd) to the statement in the recent Memorial, dated 24th September 1867, of Inspectors, Principals, Professors, and Assistant Professors in the Bengal Educational Service(paragraph 15), the truth of which I can corroborate from the actual experience of the Presidency, that "several men of distinction have been deterred from entering the Indian Educational Department, and some, after entering, have abandoned it by reason of the great length of service required of them before a pension can be obtained."

11. Paragraph 12 of the Government of India's Despatch condemns my suggestions, on the ground that they would exclude Professors from promotion which, under the terms of the Despatch of 1859, ought to be left open to them. But it appears that on this point I have failed to make myself understood. In the 3rd paragraph of ~~xx~~ my second letter I spoke of the body of the Professors as incapable of amalgamation with the Covenanted Civil Service, but I never said a word against Professors obtaining promotion in due course within their own Department. I always contemplated the promotion of able Professors to be Principals of Colleges, and I thought that (as in my own case) a Principal of a College might not unfrequently be chosen Director of Public Instruction

12. In paragraph 13 the Government of India observes, that it is obvious that the aggregate expenditure involved in my proposals "must be very large indeed." I will now beg to invite attention to the subjoined Table, which shows the maximum of expenditure for salaries of the Upper Educational Service, which would be involved in my scheme, even under the improbable supposition that at any one time all the officers could be drawing the highest seniority allowance attached to their appointments.

proposed

Proposed officers	Salary	Rising to	Minimum payable per mensem when all appointments are filled up	Maximum payable per mensem, if all officers drew the highest seniority allces.
	Rs	Rs	Rs	Rs
9 Headmasters	500	800	4,500	7,200
15 Professors	500	1,200	7,500	18,000
3 Principals	1,000	1,500	3,000	4,500
5 Inspectors	800	1,500	4,000	7,500
1 Director	2,500	2,500	2,500	2,500
33 Total p.m.			21,500	39,700
Total p.a.			2,58,000	4,76,000

The revenues of the Bombay Presidency for the present year are estimated by the Government of India at Rs.8,75,93,700 on which even the impossible maximum expenditure, shown in the last column above, would amount only to .544 percent or barely more than ½ percent on the Presidential Revenues. This estimated expenditure would cover all that would be wanted for the teaching of the higher branches of Science and Literature, and the main cost of Direction and Inspection, leaving the residue of the Imperial assignement for Education to meet the cost of Grants-in-aid, pensions, and salaries of Native Educational officers. The present Imperial assignment to Bombay for Education amounts to about 1 1/12 on the Presidential Revenues. I think that an assignement of 2 percent on the Revenues might fairly be allowed, and (as stated in my Annual Report, paragraph 23-64) I think that this would well furnish the Presidency, with all that could be fairly asked from Government in the shape of assistance to Education, Science, and Art.

13. To show further that the scheme submitted by me implies no exorbitant expenditure in salaries, I would beg to show by a similiar Table to the one above what has been actually sanctioned for "graded" Educational officers in Bengal, by the Despatch of the 9th December 1864:-

Number of officers	Salary	Rising to	Minimum per mensem payable	Maximum payable p.m. when all officers draw the highest allowance of their grade
	Rs	Rs	Rs	Rs
1	2,000	2,500	2,000	2,500
2	1,250	1,500	2,500	3,000
6	1,000	1,250	6,000	7,500
10	750	1,000	7,500	10,000
13	500	750	6,500	9,750
32		Total p.m.	24,500	32,750
		Total p.a.	2,94,000	3,93,000

It will be seen from a comparison of these two Tables, that for 32 "graded" Educational officers in Bengal an aggregate of Rs.2,94,000 per annum has been sanctioned and actually paid for more than a year. For 33 officers of the Upper Educational service of Bombay, I proposed commencing salaries which would only amount to Rs.2,58,000 per annum, when all the appointments were filled up. The maximum amount payable on the scale proposed by me would be for 33 officers Rs.4,76,400 per annum, while the maximum payable in Bengal for 32 officers is Rs.3,93,000. But on the Bengal system of graded appointments, it seems probable that the maximum amount would frequently be drawn and always approached, for it implies:

2 First class officers to have [illegible] each 3 years.
[illegible] Second class —do—
[illegible] class —do—
[illegible]

[illegible] payable on the system [illegible]

submitted by me it would require:-

9	Headmasters	to have served each	6 years
15	Professors	-do-	14 "
3	Principals	-do-	10 "
5	Inspectors	-do-	14 "

Such a combination, in a service offering (as I thought would be most expedient) a pension at the end of 14 years' actual service, would be a simple impossibility.

14. In short, a little consideration shows that the scale of salaries proposed by me is about on an equality (as far as expenditur to the State is concerned) with that sanctioned for Bengal. The only difference is, that my scale appears, if I may venture to say so, more raisonne. Instead of having classes or grades of officers depending on mere seniority, I proposed to offer a Professor (for instance) Rs.500 a month to begin with, a steady rise up to Rs.1,200 attainable by 14 years' service, and a small pension at the end of 14 years, with chance of being promoted in the mean time to the Principal of a College and from the (possibly) to be Director of Public Instruction. The same principle was meant to regulate all the appointments; namely, the principle of offering a moderate assured career to men of learning and ability.

15. When I drew up my proposals I had never heard of the Bengal system of "graded" appointments. I am now surprised to find how nearly my own proposals resemble them, and I am equally surprised that the Government of India should have repudiated the idea of a "special Covenanted Educational Service" as not to be heard of. For the Bengal "graded" appointments are in reality nothing else than a Covenanted Educational Service, only wanting appropriate Pension Rules.

16. The Government of India observes, that "any privileges conceded to the Bombay Educational Service would be demanded, and with justice, by the Educational Service in other parts of India also". I will now beg that the converse of the principle may be applied and that the privileges of "graded appointments," already allowed to the Bengal Educ-ational Service, may be conceded to the officers who are serving under me. The Bengal graded Educational Officers have recently memorialized the Secretary of State for an improvement in their pension rules. If their petition, which I humbly think to be just and reasonable in its demands, is complied with, then the Bengal Upper Educational officers will have obtained conditions, at least as favourable (and at fully as great a cost to the State (as the conditions asked for by me for the proposed Covenanted Educational Service of Bombay. I trust that the same or analogous privileges may be extended to this Presidency.

17. In conclusion, I will beg to assure Government that the plan submitted by me was calculated for the practical good working, and not the theoretical perfection of my Department. Under the present terms of our Service, I am convinced that no very good man would accept a Professorship in one of the Bombay Colleges, and that for for the want of a very slight improvement in the terms offered, the native mind in relation to Science and Literature will be kept back. This is one practical consideration, and another is, that under the present system it is all but impossible to get good Educational Inspectors. A peculiar training (as stated by me in the 63rd paragraph of my last Annual Report) is required for an Educational Inspector, who should be a Gentleman and a Scholar, and well versed in the Vernacular language of his division. Good Inspectors can only be got by securing good men for High school masters, and then training them in a Vernacular language and in knowledge of the native mind. But it is quite certain that, under the present conditions, no young English gentleman, who has any prospect of making for himself a career elsewhere, will accept a High School-mastership in this Department.

18. The Government of India believes, that "[illegible] the whole the cause [illegible] is as efficiently served in [illegible] the existing [illegible] as in any other administratio[illegible] the [illegible] that the cause of Educa[illegible] [illegible] by the [illegible] [illegible]

other Presidencies. I am humbly of opinion that they would give, as above said, an assured future to Education in India, and that they would tend not only to efficiency, but also to true economy, in this important part of the Imperial administration.

I have etc.,

A. Grant,
Director of Public Instruction.

Poona,

other Presidencies. I am humbly of opinion that they would give, as above said, an assured future to Education in India, and that they would tend not only to efficiency, but also to true economy, in this important part of the Imperial administration.

I have etc.

Sd: A. Grant,
Director of Public Instruction.

Poona.

LIST OF REFERENCES.

1. History of Mediaeval India (1952 edition) by Ishwari Prasad.

2. History of Education in India (1951 edition) by J. P. Naik and Nurulla.

3. Selections from the Records of the Government of Madras No.II

4. Indian Education in Parliamentary Papers - Part I(1832) edited by A.N. Basu - 1952 edition.

5. Survey of Indigenous Education in the Province of Bombay (1820-'30) by Shri R.V. Parulekar(1951 edition).

6. Report of the Indian Education Commission - 1882.

7. Report of the Bombay Provincial Committee - Vol.I, Appendix to the Report of the Indian Education Commission - 1882.

8. A Review of Education in Bombay State (1855-1955)- Government of Bombay.

9. Annual Reports of the Bombay Education Society for the period 1815-1823.

10. Annual Reports of the Bombay Native Education Society for the period 1822-1840.

11. Annual Reports of the Bombay Board of Education for the period 1840-1855.

12. Annual Reports with supplements of the Director of Public Instruction, Bombay for the period 1855-1956.

13. Quinquennial Reports with supplements of the Director of Public Instruction, Bombay for the period 1892-1952.

14. Bombay Primary Education Act, 1923.

15. Bombay Primary Education Rules 1924.

16. ~~Bombay Primary Education Act, 1947.~~

17. Bombay Primary Education Rules 1949.

18. Harteg Committee Report, 1929.

19. Annual Report of the Director of Public Instruction, Mysore State - 1956-57.

20. Dissertation on the Organisation and Development of the Bombay Education Department(18[illegible]-1952) by Shri V.B. Pandi.